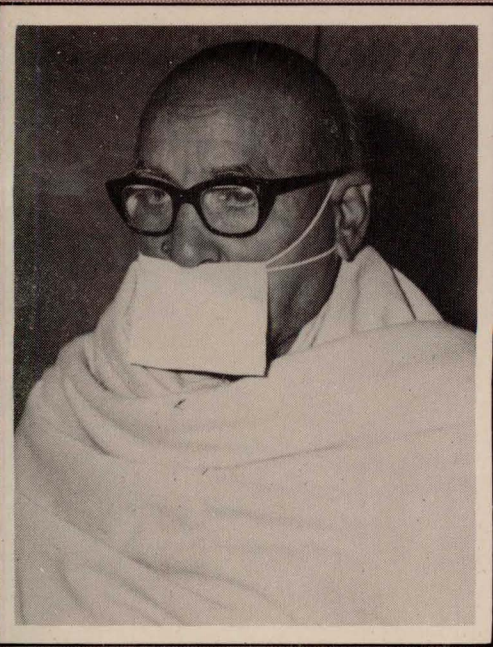




उपाध्याय अमर मुनि
वीरायतन, राजगृही

चिन्तन के झरोखे से

प्रथम खण्ड

चिन्तन के झरोखे से

प्रथम खण्ड

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन, राजगृही

चिन्तन के झरोखे से

प्रथम खण्ड



© वीरायतन, राजगृही, बिहार



प्रकाशक

श्री तनसुखराय डागा

मन्त्री, वीरायतन

राजगृही (राजगीर), बिहार



प्रथम आवृत्ति १९८८



मूल्य : ५० रु.



मुद्रक :

प्रदीप मुनोत

प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स

४२७ गुलटेकडी, पुणे ४११०३७

मनोगत

परम पूज्य प्रज्ञामहर्षि राष्ट्रसंत उपाध्याय कविश्री अमर मुनिजी वीरायतन के प्रेरणा स्रोत हैं। आपने जैन, बौद्ध तथा वैदिक दर्शन साहित्य का तौलनिक गहन अध्ययन, मनन, चिंतन किया है। आप अनेकांत दर्शन के तत्त्वनिष्ठ उपासक हैं। आपका चिंतन सत्यानुलक्षी पूर्वाग्रह मुक्त तटस्थ वृत्ति का है। आपकी विचारधारा वैज्ञानिक है। आपने कहा है “परिवर्तन अनिवार्य है। नव सृजन की प्रक्रिया का परिवर्तन अनिवार्य अंग है। पाप पुण्य कर्म में नहीं भाव में है। महत्ता शब्द की नहीं भाव की है।”

गत अनेक वर्षों से ‘अमर भारती’ मासिक में ‘चिन्तन के झरोखे से’ इस शीर्षक से अनेकविध विषयोंपर आपने अत्यंत मननीय और विचार प्रवर्तक लेखन किया है।

आधुनिक विचारवंत और खासकर युवा पीढ़ी इन प्रज्ञानिष्ठ देश-काल-भाव के परिप्रेक्ष्य में निर्भीकतासे, सहज भावसे स्पष्टता से लिखे हुए विचारों से इतनी आकर्षित और प्रभावित है कि इन लेखों का संकलन प्रकाशित करने का आग्रह अनेक लोगोंद्वारा काफी समय से हो रहा है। इसलिये इस संकलन के प्रथम और द्वितीय खंड एक साथ प्रकाशित करने का वीरायतन ने तय किया।

मेरे मित्र श्री. श्रं. शि. उर्फ बालासाहेब भारदे महाराष्ट्र शासन के ५ वर्ष तक मंत्री रहे हैं और दस वर्ष तक विधान सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) रहे हैं, महाराष्ट्र के प्रखर अध्यात्मवादी चिंतक और गांधी विचार के निस्सीम अनुयायी हैं। आपने इस प्रकाशन के लिये ‘आमुख’ बहुत कम समय में अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर लिखने का अनुग्रह किया इस लिये वीरायतन की ओर से मैं उनका आभारी हूँ।

उसी तरह वीरायतन प्रेमी पूनाके प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स के मालिक भाई कनकमल मुनोत ने स्वयं आत्मीयतापूर्वक प्रुफ रीडिंग किया तथा श्री. भारदे जी के 'आमुख' का हिन्दी अनुवाद किया। उनके सुपुत्र श्री. प्रदीप ने अपने संघटना चातुर्य और मुद्रण कुशलता से इतने कम समय में सुंदर आकर्षक मुद्रण संपन्न किया इस लिये इन पिता पुत्र का वीरायतन आभारी है।

हमें आशा है यह प्रकाशन समाज में विचार क्रांति करने में मददगार होगा।

वीरायतन

नवलमल फिरोदिया
अध्यक्ष

आमुख

अपनी 'अमर भारती' मासिक पत्रिका द्वारा जैन धर्मीय आधुनिक विचारक महासन्त अमर मुनिजी अपनी अलौकिक कलम द्वारा जो दिव्य समाज प्रबोधन कर रहे हैं, उसी शृंखला की संहिता इस ग्रन्थ में पायी जाती है। मर्त्य मानव को अमरत्व के संस्कार इस महान ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। हर व्यक्ति को ज्ञात है कि उसे मरना है, फिर भी वह अमर होने की कांक्षा रखता है। यदि मृत्यु वस्तुस्थिति है तो मृत्यु का आनागमन उसकी मनःस्थिति है। मृत्यु अटल है तो अमरण की भावना भी प्रबल है। इन दोनों की एकत्रित विचार धारा ही आत्म ज्ञान की — धर्म की गंगोत्री है। सुख-शान्ति की भावना, समाज की धारणा तथा मृत्युंजय प्रेरणा इस त्रिवेणी से सालंकृत मानव धर्म ही सर्व धर्मों का निचोड़ है, रहस्य है। चिरशान्ति के लिए अनासक्ति, समाज हितार्थ सेवाशक्ति एवं आत्मशरण जीवन मुक्ति के संगम में ही मानव जीवन की सफलता है। यही सर्व धर्मीय अध्यात्म ज्ञान का सार है। इसी सार का आरोपण संसारी जनों की मनोबुद्धि में करना एवं उसी के द्वारा ही आत्म कल्याण एवं विश्वकल्याण की सिद्धि प्ररूपित करने धर्म प्रवर्तक सन्त महन्त इस धरातल पर अवतरित हुए हैं। इसी दिव्य आर्ष परम्परा की विभूति श्री अमर मुनिजी आज भी हमारे सन्मुख प्रस्तुत हैं। हमारा अहोभाग्य है कि इसी आत्म-विश्व कल्याणकारी आत्मधर्म का यथार्थ रहस्य प्रस्थापित करने का समाज प्रबोधन कार्य वे गत ६-७ दशकों से कर रहे हैं। जिस प्रकार भगवद्गीता प्रभु श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति है, उसी प्रकार अमर भारती श्री अमर मुनिजी की कलाकृति है। इस कथन में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है। श्री अमर मुनिजी जो भी जैन धर्मीय सन्त के नाते विख्यात हैं, फिर भी इस ग्रन्थ में हमें उनका जीवन दर्शन प्रतीत होता है कि तथाकथित सभी विभिन्न धर्म, धर्म न हो कर आध्यात्मिक मानवता वादी आत्मधर्म अथवा मानव धर्म ही एकमात्र धर्म है; और ये सभी धर्म उसीके उपधर्म यानी सम्प्रदाय हैं। वर्तमान समय में ये तथाकथित धर्म नीतिधर्म के ऐवज में जातिधर्म पर ही जोर देते हैं। धर्म के नाम से असहिष्णुता, संकुचितता, अभिनिवेश, परविद्वेष व तज्जन्य जातीय तनावों से समाज जीवन अशान्त एवं उध्वस्त होता जा रहा है।

इस अवस्था में संकुचित साम्प्रदायिकता के वशीभूत न होते हुए उसपर कठोर प्रहार कर यथार्थ आत्मधर्म का निर्भीक पुरस्कार कर धर्मानुयायियों में धर्मपरिवर्तन रूपी युगधर्म प्रसृत कर रहे क्रान्तदर्शी महामुनि की यह आधुनिक धर्म गाथा है। इस में तनिक भी सन्देह नहीं है।

मुनिश्री फरमाते हैं, “हर यात्री का अपना ही एक नया पन्थ होता है। यह परम सत्य है कि मार्ग बने हुए नहीं होते, बनाने पड़ते हैं। जो चलना जानता है, उसके लिए जहाँ भी कदम पड़ते हैं, पथ बन जाता है। समाज का गौरव हर किन्हीं पुराने नियमों को पकड़े रहने में नहीं है, अपितु जीवन विकास कारी नये नियमों के सृजन में है।”

इस परसे मुनिश्री का पुरोगामी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। “सत्यसंशोधन याने चिन्तन। पूर्वाग्रहमुक्त चिन्तन ही सत्य-चिन्तन है।” यही है मुनिश्री के आत्म चिन्तन का सार और उसी का आविष्कार है यह विचार गाथा। दुनिया भर का शाश्वत सत्य एक ही होता है। उसकी देश-काल-स्थिति की सीमा नहीं होती। परन्तु लोक व्यवहार में उतरने वाला सत्य सापेक्ष होता है, उसमें देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते रहता है। रूढियों, रीतिरिवाज मूलतः धर्म नहीं हैं। उन्हें धर्म समझना बड़ी भारी भूल है। कारण वे समाज के सामयिक रूप हैं। धर्म न तो प्राचीनता में है, न अर्वाचीनता में, वह तो समीचीनता में है। यही है मुनिश्री का प्रतिपादन। ‘भेदे अभेदः’ मानव संस्कृति की और खास कर भारतीय संस्कृति की विशेषता है। इस सत्य की प्रतीति करनी हो तो मेरा कथन सत्य है, दूसरों का असत्य, यह दावा—अभिमान त्यागना होगा। हर एक को अपनी दृष्टि अनुसार सत्य का अनुभव होता है। सिर्फ हम ही सत्य के ठेकेदार नहीं हैं, यह समझना होगा। औरों के सत्य प्रत्यय का अनादर न हो, बल्कि आदर किया जाय—यही है मानवी सुखसंवाद का रहस्य। मतभेद होने पर मनभेद न हो, वाद हो तो भी संवाद हो, मतिभिन्नता होने पर संगति हो—इसी सहिष्णुता, समन्वय एवं सहजीवन की दीक्षा मानव समाज को देने का महान कार्य भगवान महावीर उपदेशित अनेकान्त दर्शन ने सुलभ किया है। “अनेकान्त की दिव्य ध्वनि है—मेरा ही सत्य मात्र सत्य नहीं है, सत्य अनन्त है। और वह जहाँ भी कहीं है, जिस किसी भी रूप में है, जिस किसी के भी पास है—मेरा है, मेरा है। सत्य मेरे लिए समर्पित नहीं है, अपितु मैं सत्य के लिए समर्पित हूँ।” मुनिश्री की इस वाणी पर लोक यदि ध्यान देंगे, तो समाज जीवन में शान्ति-प्रेम के वातावरण का निर्माण करना सहज होगा।

मुनिश्री की पाप-पुण्य की मीमांसा में भी द्रष्टापन की झलक है। “कर्म का कर्ता नरक में और उस कर्म के फल का भोक्ता स्वर्ग में, कितनी विचित्र बौद्धिक विडम्बना है? रोटी कमानेवाला और बनाने-पकानेवाला पापी है और उसे धर्म के नामपर मुफ्त में प्राप्त कर खानेवाला पुण्यात्मा है— धर्मात्मा है।... कर्म और धर्म के बीच में विभाजन की दीवार हमने ऐसी खड़ी कर दी कि कर्म धर्म से शून्य हो गया और धर्म कर्म से । हर कर्म धर्म है, यदि उसमें जनहित का व्यापक आयाम है।” एकाघ दुर्घटना हुई अथवा अनपेक्षित घटना घटी तो हम कहते हैं यह कर्म-धर्म-संयोग से हुआ। कर्म व धर्म का संयोग यानी दुर्घटना ही है, ऐसा पारम्परिक विचार ही इस शब्द योजना से ध्वनित होता है। यह बहुधा पाया जाता है कि धर्म करने के दावेदार मात्र कर्तव्य नहीं करते। मुनिजी की दृष्टि में धर्म ही जीवित शक्ति है। “हमें जीवित एवं सप्राण धर्म की आवश्यकता है, प्राणहीन मृत धर्म की नहीं।” यह है उनका इशारा— इंगित। वे स्पष्ट रूप से बताते हैं कि कइयों का धर्म श्रवण मात्र के लिए है, वह निरीक्षण के लिए नहीं है, परखने के लिए कतई नहीं है। ‘पण्णा समिक्खए धम्मं।’ प्रज्ञा द्वारा धर्म का समीक्षण करना चाहिए यह भगवान महावीर का उपदेश पुनः कार्यान्वित हो, यही उनकी आन्तरिक चिन्ता है। उनका आग्रह है कि धर्म की ओर केवल अन्धश्रद्धा न रखते हुए किसी भी क्रिया के आचरण करते समय वह युक्तिसंगत एवं तर्कानुकूल हो, इस बारे में सोचना आवश्यक है। उससे तुम्हारा एवं समाज का हित हो, यह विश्वास हो जाना चाहिए। समाज निरपेक्ष वैयक्तिक साधना आत्मसाधना नहीं है। सभी के भीतर निवास किये हुए जीवात्मा को ध्यान में रखकर आत्महित एवं समाजहित—दोनों का सुयोग्य समन्वय ही धर्म रहस्य है। यही भूमिका इस ग्रन्थ में द्रष्टापन, समर्पकता एवं आधुनिक स्थिति के समालोचन से प्रकट की गई है। यही इस मुनिदर्शन की विशेषता है। यही कारण है कि नर-नारी, श्रीमान-गरीब, महाजन-हरिजन जैसे आत्मधर्म विरोधक भेदभावों पर रास्त आघात किया है। पत्नी को देवता का स्थान देने की प्राचीन भारतीय संस्कृति की पार्श्वभूमि पर पत्नी को दासी मानने की विकृति आ गई है। जिस देश में नारी की पूजा को देवताओं की प्रसन्नता माना जाता था, उसी में नारी हेय दृष्टि से देखी जाती है। यह धर्म नहीं बल्कि अधर्म है, इस प्रकार घोष कर रहा है यह सुधारक सन्त। ‘नारी को बाहर में नहीं, अन्दर देखना होगा।’ कितना मार्मिक है यह वचन! भगवान महावीर आध्यात्मिक सिद्ध जरूर थे, साथ ही वे मानवतावादी समाज-सुधारक भी थे। इस प्रकार का समन्वित उभयान्वयी सम्यक् दर्शन जैन धर्मीयों एवं साहित्यिकों ने समाज में प्रस्तुत किया ही नहीं। यह उनके दिल में

जखन थी। यह ग्रन्थ इस दिव्य जीवन-दर्शन का प्रभावी आविष्कार है। भगवान महावीर उभयमुखी जीवन-क्रान्ति के प्रतीक थे। वे मात्र वीतरागी ही नहीं थे तो वे तीर्थंकर भी थे। भीतर से अक्रिय अनासक्ति और बाहर सक्रिय क्रान्ति यह सब होते हुए भी वे मंगलकारी समन्वयवाद के प्रवर्तक थे। अपने इस जीवन दर्शन का बोध सुयोग्य रीति से मुनिश्री ने करवाया ही है, साथ ही उस भूमिका से स्वयं एकरूप हो कर आत्मोद्धार एवं जनोद्धार—दोनों के समन्वय का परिणामकारी समाज प्रबोधन भी किया है। “महावीर का उभयमुखी आदर्श अपनाने की आज महती आवश्यकता है। आज में कुछ समाज और राष्ट्र धर्म के नाम पर सर्वथा निष्क्रिय होते जा रहे हैं। दूसरी ओर विज्ञान तथा क्रान्ति के नाम पर अनर्गल अन्धा तूफान चल रहा है, जिसमें मानवता की जड़ें उखड़ी जा रही हैं। आवश्यकता है धर्म और विज्ञान के, अध्यात्म और क्रान्ति के यथोचित समन्वय की; महावीर के इस समन्वयवाद में ही जनमंगल के बीज छिपे हैं। समय की पुकार है, उन्हें जल्दी से जल्दी अंकुरित किया जाए।” मुनिश्री के इस कथन में उनका जीवन दर्शन, इस वाङ्मय का प्रयोजन एवं युगधर्म का प्रबोधन इस त्रिवेणी संगम का जनता को अनुभव होगा। इससे बढ़कर इस ग्रन्थ का श्रेष्ठत्व कौन बता सकेगा?

मुनिश्री का यह उद्बोधक विचार धन पढ़ते समय स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, सन्त विनोबा इन विभूतियों की साहित्य कृतियों का स्मरण हो आता है। मुनिश्री के ये निबन्ध विषय की दृष्टि में चुनिन्दा, रसास्वाद की दृष्टि से रोचक, मार्गदर्शन की दृष्टि से प्रेरक, साधक की दृष्टि से जीवन मोचक तथा समाज सेवकों की दृष्टि से क्रान्तिकारक हैं। अनुभूति एवं सहानुभूति, भाग्य एवं वैराग्य, प्रपंच एवं परमार्थ, सद्गति एवं प्रगति, शान एवं ज्ञान तथा व्यक्ति एवं समष्टि के समन्वय पर जोर देने वाले भारतीय अवतारी पुरुषों, सन्त-मुनियों के दिव्य जीवन दर्शन की परम्परा इस ग्रन्थ के हर पृष्ठ में दिग्दर्शित होती है। साहित्यिक सुरस प्रासादिकता, विचारों की प्रगल्भता, द्रष्टा की प्रतिभा, आत्मरूप की तन्मयता, दीन-हीनों के प्रति वत्सलता, एक ही शब्द में कहना हो तो आध्यात्मिक मानवता की प्रचीति इस ग्रन्थ में सम्यक् रूप से होगी। ब्रती होते हुए भी ब्रतों का स्तोम नहीं है, मुनि होते हुए भी समाज विन्मुखता नहीं है, साम्प्रदायिक उपाध्याय होते हुए भी साम्प्रदायिकता नहीं है, मानवी जीवनमूल्यों के सनातन धर्म का आचरण करते हुए वर्तमान युगधर्म की विस्मृति नहीं है, धर्म के तत्त्वों का आग्रह रखते हुए भी अन्ध रूढ़ियों का पूर्वग्रह नहीं है, साधु परम्परा के

आचार का अवलम्ब करते हुए कालबाह्य उपचार नहीं है, जैन धर्म के प्रवक्ता होते हुए भी संकुचित अभिनिवेश का लवलेख नहीं है, सर्वोपरि आत्मशान्ति की साधना में समाज क्रान्ति का अनादर नहीं है। यह है अमर मुनिजी का दिव्य विभूतिमत्त्व। दिव्यता एवं मानवता का संगम ही साधुता है। यही साधुता ज्ञान व ध्यान द्वारा शिष्य-साधकों को प्रतीत होती ही है, बल्कि सामान्य पाठकों को भी इस साधुता की प्रतीति हर पृष्ठ में प्राप्त होती है। ऐसा है यह अपूर्व ग्रन्थ। जन को सज्जन बनाने में ही संस्कार होते हैं, सज्जन को साधक बनाने का नाम है दीक्षा। ये दोनों बातें आज भी सभी धर्मों में मौजूद हैं। इन्हीं के कारण व्यक्तिगत भाव शक्ति जिस प्रकार वृद्धिगत होती है, उसी प्रकार सामाजिक प्रभाव शक्ति की अनुभूति नहीं होती। तब मानव धर्म किस प्रकार प्रभावित होगा? इसीलिए साधक सेवक बने यही सन्त-मुनियों का उपदेश है। परन्तु वर्तमान समय में इतने मात्र से काम नहीं चलेगा। अतः साधक सेवकों को क्रान्तिकारक बनना होगा। यही आध्यात्मिक मानवता का आज का युगधर्म है। इसी युगधर्म की पुकार-ललकार ही अमर मुनिजी की अमर भारती है। किसी भी धर्मानुयायी, किसी भी वृत्ति के सत्प्रवृत्त पाठक को अमर मुनिजी की यह वाणी एक साथ ही भाविक, चिकित्सक, साधक एवं सेवक बना पाएगी, ऐसी क्षमता इस ग्रन्थ की है!

पुणे,

२२ जून १९८८

श्री. शि. भारदे

विषयानुक्रम

नवपथ का निर्माण करो; राही !	१
नव-सृजन की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, परिवर्तन	४
समज और समाज के बीच की रेखा	६
पूर्वाग्रह-मुक्त चिन्तन ही सत्य चिन्तन है	९
आँख खोल कर देखो, परखो	१२
समन्वय में ही अहिंसा का मूल है	१६
जरूरत है, सम्हलकर चलने की	२०
शुभाशा का सन्देशवाहक : नव वर्ष	२४
सक्रिय मन ही महान है	२८
पाप, पुण्य कर्म में नहीं, भाव में हैं	३२
जन-युग के निर्माता महावीर	३७
जीवन रथ के दो सुचक्र	४१
महाश्रमण महावीर की उभयमुखी क्रान्ति	४४
परिवर्तन अनिवार्य है	५०
शब्द नहीं, कर्म	५४
अन्तर् में शुभ भावना के बीज बोते रहिए	५९
तरुण, तरुण है : साहस की अखण्ड ज्योति	६४
महावीर की दृष्टि में नारी की गरिमा	६९
तमस् है, तो दीप जलाओ	७५
जीवन कैसा हो ?	८०
क्रान्ति के देवता श्रमण भगवान महावीर	८४
जीवन स्वयं ही एक दर्शन है	८७
सही सुख क्या है ?	९२
सुख-दुःखों के दास नहीं, स्वामी बनिए	९७
अशान्ति का मूल कहाँ है ?	१००
प्रतिक्रमणं परमौषधम्	१०५
साहस की दहकती ज्वालाओं में से गुजरिए	१११
महामन्त्र : संकल्प	११७
प्रश्न है, तुम क्या होना चाहते हो ?	१२१

मैं सबका हूँ, सब मेरे हैं	१२५
हिंसा और अहिंसा का मौलिक विश्लेषण	१३०
मैत्री का सूत्रपात	१३९
अहंभाव से मुक्ति ही यथार्थ मुक्ति	१४५
साधना की दो धाराएँ	१५१
विश्वमंगल का संदेशवाहक : पर्युषण पर्व	१५७
विराट आत्माओं की विलक्षणता	१६०
सर्वतोमुखी क्रान्ति के सूत्रधार महाश्रमण महावीर	१६५
जीवन का मूलतत्त्व है शुभाशा	१६९
मानव, खोल मन की आँख	१७५
महत्ता शब्द की नहीं, भाव की है	१८१
मन को यथाप्रसंग खाली करते रहिए	१८५
अनाकुलता का मूल मंत्र नियतिवाद	१९०
एक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण—	
—समयोचित परिवर्तन : एक जीवन्त प्रक्रिया	१९६
वह सांस्कृतिक गरिमा आज कहाँ है ?	२०६
विचारों के बीज	२११
यह है मानवता !	२१४
मातृजाति की गरिमा का प्रश्न ?	२१७
नये वर्ष की आवाज	२२०
सिद्धगिरि वैभार का गरिमामय इतिहास	२२४
अहिंसा : एक अनुचिन्तन	२२९
साध्वियों की पद-यात्रा	२३५
अंध विश्वासों की सधन अंध रात्रि क्यों ?	२४१
भक्ति प्रदर्शन नहीं, दर्शन है	२४७
यह सत्य की पूजा नहीं, हत्या है	२५०
साधु-साध्वियों द्वारा यान-प्रयोग : एक स्पष्टीकरण	२५७

नव पथ का निर्माण करो; राही !

कोई भी पूर्व निर्धारित निश्चित राह नहीं है । हर यात्री का अपना ही एक नया पथ होता है । यह परम सत्य है कि मार्ग बने हुए नहीं होते, बनाने पड़ते हैं । जिन्दगी की नई मंजिलों के लिए पुरानी पगडंडियाँ काम नहीं आती हैं।

पुराने पथ पर भी चलना हो, तो उसे साफ कर चलने योग्य बनाना होगा । देखते हो, पुराने पथ पर कितने झाड़-झंखाड़ खड़े हो गए हैं। कहीं बहुत गहरे अन्धगर्त हो गए हैं तो कहीं ऊँचे टीले बन गए हैं । नुकीले काँटों से कितना आच्छन्न है पुराना पथ । यदि इस पुराने पथ पर भी चलना है, तो इसे ठीक करना होगा, झाड़-झंखाड़ों को साफ कर तथा गतों को पाटकर समतल बनाना होगा, और तब यह पुराना पथ भी नया ही पथ हो जाएगा । यात्रा नए पथ पर ही सुखद होती है, यह सर्वानुभूत सत्य है ।

नए पथ का निर्माण करो, यात्री ! तुम नए तो तुम्हारा पथ भी नया । तुम्हारा हर कदम नया है, उसे नया पथ ही चाहिए । पुरानी लकीरों पर चले, तो क्या चले ? लकीर के फकीर मत बनिए । लकीर का फकीर अंधा होता है । उसकी अपनी आँख नहीं होती । वह दूसरों की आवाजों पर चलता है । और दूसरों की आवाजें कभी धोखा भी दे सकती हैं ।

सुना है तुमने लीक-लीक कौन चलता है ? लीक-लीक चलता है कपूत। जिसकी आँखों में कोई नई रोशनी नहीं है, जिसके मस्तिष्क में नया कोई सपना नहीं है, जिसके अन्तर्मन में नई कोई कल्पना नहीं है — स्फुरणा नहीं है, जिसे नया कुछ पाना नहीं है, जो प्राप्त है उसी पर सन्तुष्ट होकर बैठे रहता है, वह कभी के मृत हुए बाप-दादाजों के नाम पर पुरानी लकीरों के गीत गाता

रहता है, उन्हीं पर चलने के मनसूबे बाँधता रहता है । परन्तु जो सपूत हैं, वे पुरानी लकीरों पर नहीं चलते । हर सपूत नई लकीरें बनाता है, नई लकीरों पर चलता है । सुना है कभी यह दोहा—

लीक-लीक गाड़ी चले, लीक ही चले कपूत ।

ये तीनों लीकों ना चलें, शायर सिंह सपूत ॥

जो चलना जानता है, उसके लिए जहाँ ही कदम पड़ते हैं, पथ बन जाता है । भले आदमी, क्या पूछता फिरता है — कहाँ चलूँ, किधर चलूँ, कौनसा पथ सीधा है, साफ है । तेरे ये इधर उधर भटकते विकल्प ही तुझे चलने नहीं दे रहे हैं । एक दिन क्या, हजार दिन भी तू यही सोचता रहेगा, चलने नहीं पायेगा। संकल्प के रूप में बिखरे मन को एकत्र कर और चल पड़ । तू चला कि राह बनी । तेरा हर कदम राह का निर्माता है ।

देखते हो, पर्वत की वज्र चट्टानों की अवरोधक कठोर परतों को तोड़कर ऊपर आने वाला झरना क्या करता है ? उसके लिए किसी ने पहले से पथ बना रखा है क्या ? झरना इधर-उधर टकराता जाता है, अपना पथ स्वयं बनाता जाता है, उछलता-कूदता-मचलता बहता जाता है। बाधाएँ आती हैं, पथ अवरुद्ध हो जाता है । कुछ क्षण किसी अवरोध के कारण झरना रुक भी जाता है, किन्तु चन्द क्षणों में ही बाधाओं को वह टक्कर मारता है कि बाधाएँ चूर-चूर हो जाती हैं, और झरना उछल कर झट आगे बढ़ जाता है, हँसता ... गाता... शोर मचाता !

मानव ! तू कौन है ? झरना ही है तू भी तो ! पर्वत के झरने की तब भी शक्ति सीमित है । किन्तु तू तो अनन्त शक्ति का स्रोत है । तू अनन्त, तेरी शक्ति अनन्त ! तू तो भुजाओं से सागर पार करने के लिए आया है । नौका की क्या प्रतीक्षा ? तेरी भुजा ही तेरी नौका है । तेरे जैसे हाथ और किसी के पास हैं ? नहीं हैं, नहीं हैं, देवताओं के पास भी नहीं हैं । देवता भी मनुष्य बनकर ही कुछ करना चाहते हैं ! बिना मनुष्य बने, उनका भी गुजारा नहीं है । श्रमण भगवान् महावीर इसीलिए तुझे सम्बोधित करते रहे हैं— देवाणुप्पिय, अर्थात् देवताओं के प्यारे । वैदिक ऋषि तुझे अमृतपुत्र कहते हैं ।

अपने को समझ, पहचान कि तू कौन है ?

(२)

तू मानव है, स्वयं स्वयं का स्रष्टा असली भाग्य विधाता ।
नर के चोले में नारायण, तू है निज पर सबका वाता ॥

जनवरी १९७४

नव सृजन की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, परिवर्तन

वृक्ष का सौंदर्य उसके अपने मूल पर आधारित है। वृक्ष का मूल ज्यों-का-त्यों कायम रहता है, प्रतिवर्ष केवल पत्ते, फूल और फल बदलते रहते हैं। पतझर का समय जब आता है, हवा के एक तेज झोंके के साथ सैकड़ों ही पत्ते टूट कर नीचे आ गिरते हैं। परन्तु वृक्ष अपने संचित वैभव को जाता हुआ देख कर रोता नहीं है, हाय हाय नहीं करता है। अपने हरे-भरे तन को ठूँठ-सा देखकर भी वृक्ष आकुल नहीं होता। अगर कोई व्यक्ति वृक्ष के पत्ते नोंचता है, फूल और फल तोड़ता है, तब भी वृक्ष रोता नहीं है। इसलिए नहीं रोता कि वृक्ष का अपना मूल कायम है। जबतक वृक्ष का मूल सचेतन है, उसमें प्राण है, चेतना है, जीवन है, तबतक हजारों नए पत्ते जन्म लेते रहेंगे, हजारों नए फूल खिलते रहेंगे, हजारों ही नए फल मधुरस से भरे झूमते रहेंगे। जबतक सृजनशक्ति का स्रोत मूल में प्रवहमान है, तबतक वृक्ष क्यों रोए, क्यों आँसू बहाए। हर पतझर के बाद वसन्त आता है, आता ही है। वसन्त आया कि वृक्ष फिर हराभरा हो जाता है, पत्र-पुष्प-फल की मोहक श्री से पुनः समृद्ध हो जाता है। रोये वह वृक्ष, जिसमें प्राण नहीं है, चेतना नहीं है, जीवन नहीं है। जो केवल निर्जीव ठूँठ मात्र रह गया है, वह रात के अँधेरे में आने जाने वाले बच्चों को भूत बन कर डराता है। और क्या करता है !

समाज भी एक वृक्ष है। सांस्कृतिक चेतना उसका मूल है, और सभ्यता एवं समृद्धि के रूप में, नियमोपनियमों के रूप में अन्य सब उसके पत्ते हैं, फूल हैं, फल हैं। मूल को नहीं बदलना है, बदलना है पत्तों को, फूलों को, फलों को। पुराने पत्ते, फूल और फल वृक्ष पर लगे नहीं रह सकते, उन्हें एक दिन झड़ना ही होगा। वृक्ष की शोभा पुराने जीर्ण-शीर्ण सूखे पत्ते से नहीं, नये हरे चमकते पत्तों से है। समाज के नियमोपनियम, कायदे कानून, विधिनिषेधरूप क्रियाकलाप जबतक सजीव रहते हैं, उपयोगी रहते हैं, तबतक संरक्षणीय हैं वे। उनसे समाज की गरिमा है, श्री है, समृद्धि है, शोभा है। परन्तु महाकाल की यात्रा में जब ये पुराने पड़ जाते हैं, प्राणहीन हो जाते हैं, सड़ गल जाते हैं, तो अपनी उपयोगिता खो बैठते हैं। केवल जड़ रूढ़ियों और परम्पराओं के सूखे ठूँठ

रह जाते हैं । ऐसे नियमोपनियमों को बदलना ही होगा, समाप्त करना ही होगा । मृत परम्पराओं को ढोते रहने से समाज के कर्मशरीर में नया प्राण, नया जीवन, नया चैतन्य नहीं आ सकता । समाज में अभिनव सृजनशील सौन्दर्य विकसित करने के लिए क्रमागत जीर्ण परम्पराओं के पुराने पत्तों का मोह-ममत्व त्यागना ही होगा । सड़े-गले आचार-विचारों को विदा करने के लिए हृदय को मुक्तसाहसी बनाना होगा, समाजहित की दृष्टि से सोचना-विचारना होगा।

जो समाज समय की गति के साथ आगे नहीं बढ़ता है, सजीव भविष्य को नहीं अपनाता है, मृत अतीत से ही चिपका बैठा रहता है, वह नष्ट हो जाता है । सांस्कृतिक चेतना का मूल यदि प्राणवान् है, तो हम इन पत्तों के जाने पर क्यों रोएँ ? इनसे भी अच्छे और उपयोगी नये नियमोपनियम बनाएँगे, और समाज की गरिमा में चार चाँद लगाएँगे । रोए वह, जो अपनी सृजनशक्ति खो बैठा है, जिसे नया कुछ करने और पाने का विश्वास नहीं रहा है ।

जो मीठे पानी के लिए नया कुँआ खोद सकता है, दूर से भी मीठा पानी लाने की हिम्मत रखता है, वह घर के आँगन में अपने बाप-दादाओं के खुदवाये हुए कुए का खारा पानी क्यों पीए ? बाप-दादाओं की प्रतिष्ठा उनके बनाए खारे कुँए का पानी पीने में नहीं है, बल्कि अपने बलविक्रम पर, अपने बौद्धिक चातुर्य पर मीठे पानी के नये स्रोत उपलब्ध करने में है। समाज का गौरव हर किन्हीं पुराने नियमों को पकड़े रखने में नहीं है, अपितु जीवनविकासकारी नये नियमों के सृजन में है ।

जो वर्तमान अतीत हो चुका है, उसे अब भविष्य नहीं बनाया जा सकता । हर आने वाला नया सांस भविष्य में है । और उसी नये भविष्य में समाज को जीना है । तब क्यों नहीं, समाज को आने वाले भविष्य के अनुरूप ढाला जाए । श्रमण भगवान महावीर का दर्शन कहता है, बदलने योग्य नियमों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लक्ष्य में रखकर यथावसर बदला भी जा सकता है । व्यवहार क्षेत्र में अपरिवर्तनीय जैसा कुछ भी तो नहीं है ।

फरवरी १९७४

समज और समाज के बीच की रेखा

संस्कृत-साहित्य में एक ही ध्वनि के दो शब्द काफी प्रसिद्ध हैं — ‘समज’ और ‘समाज’ । उच्चारण की दृष्टि से केवल ‘अ’कार और ‘आ’कार का अन्तर है । परन्तु ध्वनि का यह छोटा-सा अन्तर भी अर्थ की दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर रखता है ।

‘समज’ और ‘समाज’ का सामान्यतः ‘समूह’ अर्थ है , किन्तु विशेषता की दृष्टि से इस ‘समूह’ अर्थ में काफी अन्तर पड़ जाता है । बात यह है कि पशुओं के समूह को ‘समज’ कहते हैं और मनुष्यों के समूह को ‘समाज’ । पशुओं का समूह, केवल समूह होता है । उसमें कोई बौद्धिक एकसूत्रता नहीं होती । न कोई एक उद्देश्य होता है और न कोई लक्ष्य । पशुओं के सामूहिक चिन्तन द्वारा निर्धारित जैसा कोई एक रूप नहीं होता । साथ-साथ रहते और चलते हुए भी पशु एक दूसरे के सहयोगी नहीं होते । उनके जीवन का अधिकांश वैयक्तिक ही होता है । इसके मूल में पशुओं का मानस अविकसित है। यही कारण है कि पशुओं ने अपनी सभ्यता के विकास की दिशा में कोई प्रगति नहीं की । लाखों वर्ष पहले जो पक्षी जैसा घोंसला बनाते थे, आज भी वे वैसा ही बना रहे हैं । लाखों वर्ष पहले जंगली जानवर जैसे बिल या धुरी बनाते थे, वैसे ही आज बनाते हैं — कोई अन्तर नहीं; एक इंच भी फेरफार नहीं । उनकी सामूहिक शक्ति ने कोई नया निर्माण नहीं किया । एक दूसरे की सुख-सुविधा के लिए कोई नई उपलब्धि नहीं की ।

१. इसी प्रकार पशुओं—कुत्ते आदि के भौकने को ‘भषण’ और मनुष्यों के बोलने को भाषण कहते हैं । सम्भवतः पशु—मानव की एक ही क्रिया के नामों में न्हस्व-दीर्घ के इस भेद में दोनों के मौलिक अन्तर का भाव छिपा है ।

पशु समूह के रूप में एक जगह खड़े अवश्य नजर आते हैं ; परन्तु उनके इस प्रकार एक जगह खड़े होने का कोई मौलिक आदर्श नहीं है। और सच बात तो यह है कि वे एकत्रित होते नहीं, अपितु किए जाते हैं। ग्वाला डंडों की मार से उन्हें इधर उधर से घेर-घार कर एक जगह लाकर खड़ा कर देता है, बस, और कुछ नहीं। अतः यह समूह केवल समज है, समाज नहीं।

समाज मनुष्यों का ही होता है। चूँकि मनुष्य मनन-शील प्राणी है, अतः उसके पास मनन है, चिन्तन है। मनन और चिन्तन हर कार्य एवं चेष्टा को सोद्देश्य बनाता है। वह सामूहिक चेतना को विकसित करता है। सुख-दुख में एक दूसरे का सहयोगी होना, एक साथ हँसना या रोना, परस्पर मिलकर एक-दूसरे की समापतित समस्याओं का समाधान खोजना, मानव की मनन-शक्ति का सुपरिणाम है। मानव किसी महत्त्वपूर्ण निर्माणकारी उद्देश्य को लेकर ही संघटित होता है, समूह बनाता है। इसी भाव में से मानव सभ्यता का विकास हुआ है। चिर अतीत के उस वन्य जीवन से कितनी मंजिलों को पार कर आज मानव कितनी ऊँचाइयों पर पहुँच गया है। आज मानव नीचे गहराई में समुद्रों के तल को छू रहा है, और ऊपर ऊँचाई में चन्द्रतल पर विचरण कर रहा है। अरबों मील दूर सितारों पर उसके अपोलो या पायोनियर यान चक्कर काट रहे हैं और धरती पर वहाँ के चित्र भेज रहे हैं। यह मानव की सामूहिक सुनियोजित मनन एवं कर्म शक्ति का प्रतिफल है।

परस्पर एक दूसरे को भावित करने वाला ही सचमुच में मानव है। पतिपत्नी क्या हैं ? क्या पशुओं में भी पति-पत्नी होते हैं ? नहीं होते। क्यों नहीं होते, इसलिए कि उनमें विवाह नहीं होता। नर-मादा के रूप में उनके केवल क्रियाशील तन मिलते हैं, मननशील मन नहीं। यही कारण है कि पशुओं के मिलाप में कोई दायित्व की भावना नहीं, जबकि मानव समाज में यह भावना बहुत गहरी एवं व्यापक होती है। जो बात विवाह के सम्बन्ध में है, वही बात अन्य सम्बन्धों के सम्बन्ध में भी है।

मानव स्वयं की अन्तःप्रेरणा से संघटन के लिए आगे बढ़ा है। इसी में उसका समाज के रूप में विकास हुआ है। वह पशुओं की तरह डंडों की मार से बलात् घेर कर एक जगह बाड़े में बन्द नहीं किया गया है। बस, यही है मूल में अन्तर समज और समाज का। जिन मनुष्यों में स्वतः प्रेरित सहयोग भावना

नहीं है, केवल वैयक्तिक स्वार्थवाद ही है, सामूहिक निर्माण मूलक चेतना नहीं है, उनका समूह भी पशुओं की तरह समझ ही है, समाज नहीं ।

अप्रैल १९७४

पूर्वाग्रह-मुक्त चिन्तन ही सत्य चिन्तन है

चिन्तन का सबसे पहला स्वर्णसूत्र है-पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सत्यानुलक्षी तटस्थ दृष्टि से सोचना, समझना, विचारना । सत्य के दर्शन पूर्वाग्रह से धूमिल एवं विकृत हुई दृष्टि से कथमपि संभव नहीं हैं ।

जिसकी आँखों में पीलिया का रोग हो जाता है, उसे सर्वथा श्वेत वस्तु भी पीले रंग की ही नजर आती है । अन्तर् चेतना की दृष्टि को भी पीलिया का रोग होता है । यह है बिना सोचे-समझे और विचार-मन्यन किए इधर-उधर से कुछ भी पकड़ लिए गए विकृत धारणाओं के बन्द घेरे में ही चेतना को केन्द्रित कर लेना । महावीर के दर्शन में इसे आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं । इस दृष्टि के लोग अपने को बहुत बड़ा श्रद्धालु कहते हैं, सम्यक् दर्शनी कहते हैं । इनका दावा होता है कि विश्व का समग्र सत्य हमारी पूर्वगृहित मान्यताओं में ही है । इसके अतिरिक्त जो भी है, वह सब असत्य है, झूठ है, फरेब है । इन्हें अपने सिवा सर्वत्र पाखण्ड ही पाखण्ड दृष्टिगत होता है ।

सत्य के ये दावेदार सत्य के नहीं, असत्य के पक्षधर होते हैं । सत्य 'ही' में नहीं, 'भी' में समाहित है । यह ही सत्य है, जो मैंने माना है, मैंने बताया है — यह 'ही' के मूल में छिपा अहंकार का विषधर सत्य की हत्या करता है । 'ही' विवेकमूढ एकान्तवाद का पक्षधर है । यह 'ही' अनन्त सत्य को सान्त एवं असीम सत्य को ससीम बनाता है । सागर की एक बूँद सागर का अंश होने का दावा करे तो ठीक है, किन्तु यदि वह अपनेको समग्र सागर होने का उद्घोष करे, तो यह कितना हास्यास्पद वर्तन होगा, बूँद का । लगता है आज की कुछ क्षुद्र बूँदें किस जोशो-खँरोश से अपने को सागर उद्घोषित कर रही हैं । कहावत है — एक क्षुद्र चूहे को इधर-उधर भटकते कहीं से सूँठ का एक टुकड़ा मिल गया और वह अपने को पंसारी (औषधि आदि का विक्रेता) समझ

बैठा । एक सूँठ की गाँठ लेकर पंसारी की दुकान का बोर्ड लगा बैठना, कहों की बुद्धिमत्ता है !

सत्य के लिए व्यापक, साथ ही मुक्त चिन्तन की अपेक्षा है । प्राचीन धर्मसूत्रों एवं लोकसूत्रों में जो कुछ कहा है, वह किस अपेक्षा से कहा है ? उस समय कौन देश था, कौन व्यक्ति थे, समाज की क्या स्थिति थी, जनता की क्या अपेक्षाएँ थीं — यह सब निरीक्षण तथा परीक्षण करना, आवश्यक है। शाश्वत सत्य समग्र विश्व का एक होता है । न उसकी कोई आदि होती है और न उसका कोई अन्त होता है । वह अजर-अमर है, जन्म जरा मरण की सीमाओं से परे है। परन्तु लोकव्यवहार में आने वाला सत्य परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है । वह न कभी स्थायी हुआ है, और न कभी होगा । उसे देश, काल, व्यक्ति, समाज और उनकी परिवर्तित स्थिति के अनुसार बदलना ही होगा। यदि वह न बदला गया तो अनुपयोगी होगा, सुख के बदले दुःख का कारण होगा। शीतकाल में सर्दी से बचने के लिए मोटा ऊनी कंबल गर्मी के तपते दिनों में भी चारों ओर लपेटे रखना, क्या अर्थ रखता है ? गर्मी या बरसात के दिनों में काम आने वाले हलके-फुलके मल-मल के वस्त्र यदि तन को चीरती कड़के की सर्दी में कोई पहने रखने का दुराग्रह करे, तो वह जनता में कितना मूर्ख प्रमाणित होगा ?

युग का सत्य अपने युग तक ही सत्य होता है । युग के बदलते ही वह असत्य हो जाता है । धर्मों के जितने भी बाह्याचार हैं, विधि-निषेध हैं, क्रियाकाण्ड हैं, नियमोपनियम हैं, वे शाश्वत नहीं होते । यदि ये शाश्वत होते, तो एक तीर्थंकर के बाद दूसरे तीर्थंकर की कोई अपेक्षा नहीं होती, एक महापुरुष के बाद दूसरे किसी महापुरुष की जरूरत नहीं होती । महापुरुष एक दूसरे की कार्बन कॉपी नहीं होते। हर महापुरुष देश-कालानुसार नियमों में, विधिनिषेधों में संशोधन करता है, काट-छाँट करता है । जो विधि-निषेध प्राणवान् है, सजीव है, अभी कुछ और समय तक उपयोगी है, उन्हें सुरक्षित करता है, और जो जीण-शीर्ण हो गए हैं, निर्जीव एवं मृत हो गए हैं, अपनी उपयोगिता खो बैठे हैं, उन्हें अपने सत्यानुलक्षी तर्क के पैसे कुठार से काट कर दूर फेंक देता है और उनके स्थान में प्राणवान् उपयोगी नए विधि-निषेधों को फिट करता है । समाज शरीर है । उसका कोई भी अंग दूषित हो जाए, सड़ जाए, विषाक्त हो जाए तो उसे तर्करूप आपरेशन के द्वारा काट कर अलग करना ही होगा ।

अन्यथा वह एक दिन सारे शरीर को विषाक्त बना देगा और अन्ततः मौत के घाट उतार देगा ।

रीति-रिवाज मूल में धर्म हैं ही नहीं । उन्हें धर्म कहना ही भूल है, ये तो समाज के सामयिक रूप हैं । सामाजिक परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहते हैं । उन्हें शाश्वत सत्य मान लेना, उन्हें असत्य में बदलना है, विकृत कर देना है । यह मिथ्यात्व नहीं तो और क्या है ? चिन्तन की स्वच्छता अनाग्रह में है; सत्य न प्राचीनता में है, न अर्वाचीनता (नवीनता) में है । वह तो एक मात्र समीचीनता में है । समीचीन ही सत्य होता है । कोई भी पूर्वाग्रह हो, धर्मपरम्परा का हो या समाज-परम्परा का, मुक्त एवं तटस्थ चिन्तन के अभाव में वह सत्य को धूमिल ही करता है, निर्मल नहीं । अन्तर्मन को पूर्वाग्रह से मुक्त रख कर ही सत्य का दर्शन हो सकता है । सत्य के प्रति अभिनिवेश की भावना या भाषा जीवन का अभिशाप है । आजकल राजनीति, धर्म, समाज या अन्य किसी भी पक्ष-विपक्ष को लेकर जो विग्रह हो रहे हैं, लूट-पाट, गाली-गलौज, आगजनी या हत्याएँ हो रही हैं, इन सबके मूल में मान्यताओं के अन्ध आग्रह हैं, दुरभिनिवेश हैं । ये सब मानवता के पवित्र मस्तक पर कलंक के काले धब्बे हैं । उन्हें मुक्त एवं व्यापक चिन्तन के द्वारा ही साफ किया जा सकता है ।

मई १९७४

आँख खोल कर देखो, परखो

आज मानव के ज्ञान की सीमा रेखाएँ काफी विस्तार पा रही हैं। मानव का मस्तिष्क अपनी पुरानी सीमाओं को बहुत दूर तक लांघ चुका है। उसने पृथ्वी के अन्तर्गर्भ में बहुत कुछ खोज निकाला है, समुद्रों को तलैया की तरह खंखोल डाला है, आकाश में सुदूर नक्षत्रलोक को अपने परीक्षण में ले आया है। आज मानव के राकेटयान मंगल, बुध, शुक्र आदि पर उड़ान भर रहे हैं, जो कभी अतीत में देवता के रूप में पूजे जा रहे थे, मनुष्य के भाग्य के निर्माता थे। चन्द्रलोक पर तो मानव उसी तरह विचरण कर रहा है, जैसा कि वह इस भूमंडल पर निर्द्वन्द्वभाव से विचरण करता है। चन्द्रलोक की दैवी मिट्टी का अपनी प्रयोगशाला में परीक्षण कर रहा है कि वह क्या है, उसमें क्या कुछ गुणधर्म हैं, विशेषताएँ हैं ?

पुराने विश्वास, जो लाखों वर्षों से चले आए थे, टूट रहे हैं, ध्वस्त हो रहे हैं। कुछ लोग हैं कि इस पर जरूरत से ज्यादा परेशान और हैरान हैं। वे श्रद्धा के नाम पर दुहाई दे रहे हैं कि यह सब झूठ है, धोखा है। दुनिया को विज्ञान के नाम पर मूर्ख बनाया जा रहा है। यह सब धर्म को ध्वस्त करने का षड्यन्त्र है। ये लोग मानवबुद्धि को इधर उधर की सुनी सुनायी अर्थहीन बातों को मात्र मान लेने के लिए मजबूर करते हैं। उनकी दृष्टि में मूल तथ्य को जान लेने की बात सोचना पाप है। उनका धर्म एवं दर्शन केवल सुनने के लिए है, देखने के लिए नहीं, परखने के लिए तो बिल्कुल भी नहीं। जो अतीत से आ रहा है, उसे सुनो और मानो, देखो और परखो नहीं। इनके यहाँ कान हैं, आँखें नहीं।

मैं देख रहा हूँ, मानव-मस्तिष्क को, मानवबुद्धि को कुछ लोग बिल्कुल निष्क्रिय कर देना चाहते हैं। ज्यों ही मानव की अन्तर चेतना हल-चल में आती है, इनकी बौद्धिक भूमि पर भूकम्प के झटके लगने लगते हैं और वे पुकारने

लगते हैं, चुप रहो ! तुम्हें सोचने, समझने, देखने, परखने का कोई अधिकार नहीं है ! तुमने जरा भी कहीं अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग किया कि बस, पाप में डूब जाओगे, नरक में धकेल दिए जाओगे ।

मैं पूछना चाहता हूँ, क्या धर्म इतना दुर्बल है, इतना छुईमुई है कि तर्क का स्पर्श पाते ही वह कुम्हला जाता है, अपना तेज खो बैठता है ? क्या वह इतना पुराना जर्जर, जीण-शीर्ण खंडहर है कि तर्क का धक्का लगते ही धराशायी हो जाएगा, ईट-ईंट के रूप में बिखर जाएगा ? यदि ऐसा है, तो फिर ऐसे धर्म की क्या उपयोगिता है ? वह हमारे जीवन-निर्माण में क्या योगदान कर सकता है ? ऐसा धर्म, मेरे विचार में तो कल खत्म होता हो तो आज ही हो जाए । हमें जीवित एवं संप्राण धर्म की आवश्यकता है, प्राणहीन मृत धर्म की नहीं ।

धर्म एक जीवित शक्ति है । वह हमारे जीवन के कण-कण में निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली दिव्यज्योति है, जो तर्क के हजारों-हजार तूफानी झंझावातों से भी बुझने वाली नहीं है । और जो बुझ जाएगी, वह धर्म की ज्योति नहीं है, कुछ और है और उसे बुझ ही जाना चाहिए । जो लोग तर्क से घबराते हैं, अपने धर्म को तर्क से बचाना चाहते हैं, उनकी अपनी दृष्टि में ही धर्म खरा स्वर्ण नहीं है, स्वर्ण के रूप में छिपा हुआ पीतल है । खरा स्वर्ण परीक्षण से भला क्यों डरेगा ? एक बार क्या, हजार बार दहकती आग में डालो, कसौटी पर कसो, काटो, छेदो, कुछ भी करो । स्वर्ण स्वर्ण है, वह अधिकाधिक दीप्त होता जाएगा, चमकता-दमकता जाएगा । किसी भी हालत में वह काला नहीं पड़ेगा । स्वर्ण का नकली जामा पहनने वाला पीतल ही परीक्षा से घबराता है कि कहीं मेरी पोल न खुल जाए । कस्तूरी यदि असली है, नकली नहीं है, तो उसको प्रमाणित करने के लिए सौगंद खाने की क्या जरूरत है ? 'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ।'

श्रमण भगवान महावीर धर्म को परखने का सीधा आह्वान करते हैं । गणधर गौतम ने उनकी वाणी को उपस्थित करते हुए कहा है कि 'पण्णा समिक्खए धम्मं।' मानव की अपनी प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा कर सकती है । धर्म को दूसरों की शब्दरूप आँखों से नहीं, अपनी चिन्तनरूप प्रज्ञा की आँखों से देखो । महावीर स्वयं चक्षुष्मान् हैं, और दूसरों को भी चक्षुष्मान् बनाना चाहते हैं । नमोत्पुणं सूत्र के अनुसार वे 'चक्षुदयाणं' हैं, 'सद्ददयाणं' नहीं । वे जिज्ञासु

साधक को केवल सत्य का श्रोता नहीं, अपितु श्रोता की भूमिका से आगे सत्य का द्रष्टा होने की प्रेरणा देते हैं। महावीर ने सर्वत्र अपने उपदिष्ट परिबोध के लिए तर्क उपस्थित किए हैं, हेतु दिए हैं। इतना ही नहीं, गणधर गौतम ने भी महावीर से उनके द्वारा उपदिष्ट परिबोध के लिए हेतु की माँग की है। यत्रतत्र उल्लेख मिलता है — केणट्ठेणं भंते एवं बुच्चई' भगवन् किस्स हेतु से आप ऐसा कहते हैं? क्या अब भी कोई यह कह सकता है कि महावीर तर्क से बच कर चलना चाहते हैं; वे अपने प्रस्तावित सत्य को बिना परीक्षण के यों ही मान लेने को कहते हैं? वे मूलतः मान लेने के पक्षधर नहीं, जानने के पक्षधर हैं।

तथागत भगवान् बुद्ध भी सत्य के परीक्षण के पक्षधर हैं। वे अपने शिष्यों को आँख मूंदकर अपनी बात मान लेने को नहीं कहते। उनका तो यह मुक्त उद्घोष है कि भिक्षुओ, मेरी बात भी परीक्षा करके ग्रहण करो— 'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्बचो न तु गौरवात्।' और वैदिक परम्परा के महर्षि व्यास भी तर्क के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि तर्क से ही धर्म का सही अनुसन्धान हो सकता है — 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।' तर्क ही ऋषि है, ऋषि अर्थात् सत्यद्रष्टा।

वर्तमान युग परीक्षण का युग है। धर्म और धर्मशास्त्र किसी भी हालत में अब परीक्षण से बच नहीं सकते। परीक्षा के द्वारा जो सच है, वह सच रह जाएगा, उसे कोई आँच नहीं आएगी। साँच को आँच कहाँ? और जो असत्य है, उसका पर्दाफाश हो जाएगा, वह कूड़े के ढेर में फेंक दिया जाएगा। अब असत्य को सत्य के सिंहासन पर बैठे रहने का अन्धयुग समाप्त हो गया है। लाख कोशिश करो, धर्मरक्षा के नाम की कितनी ही दुहाई देते फिरो, धर्म के नाम पर अधर्म का, सत्य के नाम पर असत्य का छोटा सिक्का आज के तर्कप्रधान चिन्तन के बाजार में अब चल नहीं सकेगा। आपने जरा भी परीक्षा कराने से इन्कार किया कि लोग समझ लेंगे, आपका माल असली नहीं, नकली है। आप धोखा दे रहे हैं लोगों को।

एक सज्जन ने कहा है — अमर मुनि कभी मुनि थे, अब तो वे तर्क—मुनि हैं। श्रद्धा तो उनमें अंशमात्र भी नहीं है। तर्कमुनि कह कर वे मेरा मजाक उड़ाते हैं, उड़ाएँ। मुझे कोई इसकी चिन्ता नहीं है। कुछ लोग अपने

समाचारपत्रों में मुझे गालियाँ देते हैं । दें, उनकी इच्छा है । मैं गालियों से तो क्या, गोलियों से भी अपना पथ बदलने वाला नहीं हूँ । जो मुनि है, वह तर्कमुनि ही है; बिना तर्क के कोई मुनि बन ही नहीं सकता । मुनि के मूल में मनन ही तो है — ‘मननात् मुनिः’ । जो मनन करता है, चिन्तन करता है, वह मुनि है । मनन से ही सत्य पर का आवरण दूर होता है, फलतः सत्य का शुद्ध मूल रूप चमकता है । जुगनू जब तक निष्क्रिय बैठा रहता है, नहीं चमकता है, ज्योतिर्मय नहीं होता है । जब वह उड़ता है, अपने पंखों को गति देता है, तभी वह दीप्तिमान होता है । अपने चिन्तन को गति दो, बुद्धि के तर्क-पंखों को गतिशील बनाओ, सच्चे अर्थों में मुनि बनो, तभी आपका सत्य ज्योतिर्मय होगा । अन्यथा वह अन्धकार में डूबा रहेगा । आँख बन्द करके चलने वाला व्यक्ति कदम कदम पर ठोकर नहीं खाएगा, तो कौन खाएगा ? क्या आँख खोलकर चलने वाला खाएगा, आपकी सुमति में ?

श्रद्धा श्रद्धा है । वह अन्ध-विश्वास नहीं है । श्रद्धा में सत्य प्रदीप्त होना चाहिए । श्रद्धा की निरुक्ति ही है — ‘श्रुत् सत्यं दद्यातीति श्रद्धा’ जो अपने में सत्य को धारण किए रहती है, वह श्रद्धा है । सत्य के अभाव में श्रद्धा का कुछ अर्थ नहीं है । सत्य की सत्य के रूप में सर्वांगीण परीक्षा होने के बाद जो उसके प्रति ‘इदमित्यमेव’ के रूप में निष्ठा होती है, वही सच्ची श्रद्धा होती है । इस श्रद्धा से अमरमुनि रिक्त नहीं हैं । कोई भी मुनि यदि वह मुनि है तो श्रद्धा से रिक्त नहीं हो सकता । श्रद्धा का तर्क से विरोध नहीं है । अपितु वे एक दूसरे के पूरक हैं । बिना तर्क एवं परीक्षण के श्रद्धा अन्धी है । और यह अन्धी श्रद्धा भला साधक का क्या कल्याण कर सकती है ? आज जो इधर-उधर की धर्मपरम्पराओं में विकृतियाँ आ गई हैं, गन्दगी जम गई है, अनेक मिथ्याचार फैल गए हैं, वे सब विवेकमूलक तर्क एवं चिन्तन के अभाव में ही पनपे हैं । इस विकृतिरूप गन्दगी को परीक्षाप्रधान तर्क से ही दूर किया जा सकता है । हंसबुद्धि से सत्यासत्य के क्षीर-नीर का विवेक करो, हंस बनो, बगुले नहीं ।

आँख खोल कर देखो, परखो, करो न बंद बुद्धि के द्वार ।

छिन्न-भिन्न कर दो तमसावृत, रूढिवाद का कारागार ॥

समन्वय में ही अहिंसा का मूल है ।

अहिंसा का मूल वैचारिक समन्वय में है । मानवजाति में जहाँ-जहाँ पंथ या सम्प्रदाय, वर्ण या जाति, देश या विदेश आदि के जो भी अपने पराये के द्वन्द्व हैं, संघर्ष हैं, कलंक हैं, विग्रह हैं; वे सब विचारभेद से होने वाली घृणा से जन्म लेते हैं । किसी से घृणा न करो, किसी को पीड़ा न दो— यह उपदेश तब तक हवा में उड़ कर रह जाते हैं, जब तक कि विचारभेद में रहे हुए अभेद का दर्शन न किया जाए, विचारवैषम्य में भी समन्वय की अन्तःसलिला सरस्वती प्रवाहित न की जाए ।

अहिंसा, दया या प्रेम के नाम पर जो भी द्वन्द्वशमन के प्रयास हैं, वे सब आग पर उबलते-उफनते दूध पर पानी के छीटे देने के समान हैं । पानी के छीटे कुछ क्षणों के लिए उफनते दूध को शान्त कर सकते हैं, किन्तु उनके पास दूध के लिए शान्ति का स्थायी हल नहीं है । नीचे आग जल रही है तो वह गरमी देती ही रहेगी और दूध उबलता-उफनता ही रहेगा । दूध की स्थायी शान्ति के लिए नीचे की आग का दूर होना, आवश्यक ही नहीं, अतीव आवश्यक है । यही बात परिवार, समाज, राष्ट्र धर्म एवं दर्शन के द्वन्द्वों के सम्बन्ध में भी है। जब तक अपने विचारों का दुराग्रह रहेगा, अपनी मान्यताओं का मोह रहेगा, स्वयं को पूर्ण सत्य और दूसरों को झुठलाने का कदाग्रह बना रहेगा, तब तक ऊपर के एकता और संगठन के नारों की चेपाचेपी से कुछ नहीं होनेवाला है, फिर भले ही ये किसी भी क्षेत्र में हों ।

सत्य अनन्त है। उसका कोई एक ही पहलू नहीं है । देश, काल, व्यक्ति आदि के जिन विभिन्न कोणों से उसे देखोगे, वह आपको एक दूसरे से भिन्न रूप में ही दिखाई देगा । वृक्ष के मूल-जड़, स्कन्ध-तना, शाखा, पत्र, पुष्प और फल क्या एक-दूसरे से परस्पर मिलते हैं ? नहीं मिलते हैं । मूल स्कन्ध से नहीं मिलता, स्कन्ध शाखा से नहीं । इसी प्रकार पत्र, पुष्प और फल भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं । फिर भी वृक्ष उनमें परिव्याप्त है, परिलक्षित है।

आम का पेड अपने मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प-मंजरी, फल, रस और बीज आदि हर अंग में समाया हुआ है। तभी तो कहा जाता है— यह आम की जड़ है, यह आम का तना है, यह आम का पत्ता है, यह आम की मंजरी है-फल है-रस है और यह आम की गुठली है। आम का वृक्ष भेद में अभेद और विषमता में समता सूचित करता है; अनेकत्व में एकत्व का परिचायक है। सत्य भी विचारभेद के अनेक-विध परस्पर विरोधी जैसे रूपों में भी एकत्व का परिबोध देता है। बाहर से अन्दर में चिन्तन-दृष्टि जितनी भी गहराई में पैठती जाएगी, उतनी ही विषमता एवं अनेकता की बुद्धि दूर होती जाएगी और समता एवं एकता की अनुभूति उभरती जाएगी।

हमारे शरीर के अवयवों में पैर अलग हैं, हाथ अलग हैं, सिर और घड अलग हैं। आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा अलग हैं। हर अंगुली अलग है, अंगूठा अलग है। अन्दर में मांस, मज्जा, रक्त और हड्डी आदि भी एक दूसरे से भिन्नरूप हैं। किन्तु क्या वे सब मिल कर शरीर के रूप में एक नहीं हैं। सबमें शरीर का एकत्व अखंडरूप में परिलक्षित होता है। एक दो उदाहरण क्या, विश्व की हर वस्तु का यही रूप है। विचारों का भेद बाहर की विभिन्नता में है। यदि अन्तरंग में सूक्ष्मता से देखा जाए, तो भेद में भी अभेद-अनेकत्व में भी एकत्व प्रकाशमान होता नजर आएगा; सर्वत्र एक अखण्ड सत्य के ही दर्शन होंगे। फलस्वरूप सत्य पर से मेरे-तेरे के द्वैत की छाप साफ हो जाएगी। अपने अभिमत खण्डसत्य के लिए पूर्ण एवं अखण्डसत्य का वैचारिक अहम् ही संघर्ष का मूल है। जब व्यक्ति या समाज, मत या पंथ, नेता या अनुयायी, गुरु या शिष्य यह आग्रह एवं दुराग्रह करके बैठ जाते हैं कि हम ही सच्चे हैं। जो कुछ भी सत्य है, वह एकमात्र हमारे ही पास हैं, अन्य किसी के पास कुछ भी नहीं हैं। अतः हम जो कहते हैं, वही माना जाए, दूसरों की बातें सब गलत हैं, मिथ्या हैं, अतः वे मानने के योग्य नहीं हैं, उन्हें मानना चाहिए ही नहीं। जब इस प्रकार एकान्त का दुराग्रह खडा हो जाता है; सत्य के नाम पर अपने को ही एकान्ततः स्वीकारा जाता है और दूसरों को सर्वथा हठात् नकारा जाता है तो विग्रह एवं संघर्ष स्वयं उठ खड़े होंगे। उन्हें कोई कैसे दबा कर रख सकता है ? कारण हो, और उसका कार्य न हो, यह कभी हुआ है ? कभी नहीं। अग्नि हो, और उसका दाह न हो, ऐसा न कभी हुआ है और न होगा।

इसलिए जब तक बाहर के भेदों में भी अभेद, अनेकत्व में भी एकत्व को ध्रुवदर्शन की तरह नहीं देखा जायेगा, तब तक सिर्फ ऊपरी जोशीले नारों, आकर्षक लेखों, संगठनों या लच्छेदार भाषणों से इन द्वन्द्वों का शमन नहीं होगा, और यह भी उतना ही ठोस सत्य है कि जब तक अनेकान्तदर्शन की समताभूमि पर वैचारिक समन्वय नहीं होगा, तब तक परस्पर संघर्ष विभिन्न रूपों में चलते ही रहेंगे। अहिंसा एक थोथी नारेबाजी रह जाएगी, वह रचना का रूप कभी नहीं ले सकेगी। मात्र साम्प्रदायिक स्थूल क्रियाकाण्डों से अहिंसा का नापतौल होता रहेगा। जीवन के हर क्षेत्र में, हर मोड़ पर अहिंसा के दर्शन दुर्लभ होंगे।

आचार की अहिंसा का मूल विचार में है। जब तक मन में कुछ नहीं है, तब तक तन में क्या होगा? विचार की अहिंसा के बिना आचार की अहिंसा उसी प्रकार निर्जीव है, जिस प्रकार कि प्राण-चेतना के बिना शरीर और विचार की अहिंसा का सर्वोपरि शिरोमणि तत्त्व है, दुराग्रहमुक्त सत्यानुलक्षी सम्यक् आग्रह।

अहिंसा का अर्थ है—सह-अस्तित्व। सह-अस्तित्व का अर्थ हमने केवल स्थूल शरीरों का सह-अस्तित्व एवं सह-जीवन समझ लिया है। अहिंसा की वास्तविक उपलब्धि के लिए हमें आगे बढ़ना होगा। अहिंसा को मानसिक स्तर पर पहुँचाए बिना वह निष्प्राण एवं निर्जीव ही बनी रहेगी। जब तक हम दूसरों को ठीक तरह पहचानेंगे नहीं, अपने दृष्टिकोण के साथ सामने वाले के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयास करेंगे नहीं, अपने आंशिक सत्यों को पूर्ण सत्य मानने और मनवाने का दुराग्रह छोड़ेंगे नहीं, तब तक अहिंसा केवल बाह्य नाटकीय प्रदर्शन मात्र रह जाएगी, वह वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की सर्वतोमुखी प्राणवाहिनी धारा नहीं बनेगी।

विश्वशान्ति का आधार अहिंसा है। और अहिंसा का आधार मैत्री भावना है। मैत्री का अर्थ है—समत्व। न कोई हीन, न कोई उच्च। यह मैत्री ही है, जहाँ महान् देवपुरुष श्रीकृष्ण और दुर्दैवग्रस्त सुदामा विप्र एक धरातल पर खड़े होते हैं। और यह वृत्ति अपने अहं के विसर्जन से आती है। और यह विसर्जन तभी हो सकता है, जब कि अनाग्रह के प्राण-तत्त्व-अनेकान्त-दर्शन को

उसके सही अर्थ में अपनाया जाएगा। अनेकान्त की दिव्यध्वनि है—मेरा ही सत्य, मात्र सत्य नहीं है, सत्य अनन्त है। और वह जहाँ भी कहीं है, जिस किसी भी रूप में है, जिस किसी के भी पास है—मेरा है, मेरा है। सत्य मेरे लिए समर्पित नहीं है, अपितु मैं सत्य के लिए समर्पित हूँ।

अगस्त १९७४

जरूरत है, सम्हलकर चलने की

वर्तमान युग की जनचेतना बड़ी विचित्र स्थिति में से गुजर रही है। क्या परिवार, क्या समाज, क्या राष्ट्र, क्या धर्म सर्वत्र एक ऐसा कुहासा छाया हुआ है कि कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। एक सर्वथा नकारात्मक मनःस्थिति का चक्र घूम रहा है, जिधर देखो उधर ही। पुत्र पिता को नकार रहा है और पिता पुत्र को, पुत्री माँ को नकार रही है और माँ पुत्री को, शिष्य गुरु को नकार रहा है और गुरु शिष्य को। यहाँ तक कि भक्त और भगवान के बीच भी परस्पर नकार के स्वर गूँजने लगे हैं।

मैं हैरान हूँ कि यह क्या हो रहा है? यह ठीक है कि धर्म या समाज की किसी भी परम्परा में काल-दोष से कुछ दूषित तत्त्व आ जाते हैं, और कुछ अपने ही अंग भी जीर्णशीर्ण दशा में प्राणहीन होने के कारण अनुपयोगी हो जाते हैं। यथावसर उनका परिष्कार आवश्यक है। सड़े-गले दूषित अंश को साफ करना ही होगा। पर, इसका अर्थ यह तो नहीं कि धर्म एवं समाज की उपयोगी परम्पराओं को जड़ से ही उखाड़ कर फेंक दिया जाए। यह तो ऐसा ही होगा कि नाक पर बैठने वाली मक्खी को उड़ाने के लिए नाक ही काट दी जाय कि चलो, मक्खी के बैठने का अड़्डा ही साफ।

भारतीय संस्कृति की विदेशी धर्मप्रचारक काफी मजाक उड़ाते रहे हैं। हमें गुस्सा भी आता रहा है, पर क्या कर सकते थे उनका। परतन्त्रता की लाचारी थी तब। अब भी बहुत से ऐसे ही लोग हैं, जो कुछ समझते नहीं हैं और अपनी पुनीत सभ्यता की खिल्ली उड़ाते हैं। पर, इन सब पर दया ही आती है कि अज्ञान-ग्रस्त है बेचारे। कुछ और करें भी तो क्या?

परन्तु हजारों हजार बिच्छुओं का एक साथ दंश तो तब होता है, जब विद्वान मनीषी और गुरु कहे जाने वाले लोग ही छड़ेचौक अपनी परम्परा का

मखौल उड़ाने लगते हैं। और यह मखौल सुबह-शाम साधना के समय स्मरण किए जाने वाले भगवान् का होता है, राम और कृष्ण का होता है, महावीर और बुद्ध का होता है। साथ ही मजाक होता है उनके द्वारा विहित जीवनपथ का और उस पर चलने वाले श्रद्धालु भद्र भक्तों का।

आजकल विदेशों के लिए मन्दिरों से मूर्तियाँ चुराई जा रही हैं। और भारी भरकम होने के कारण चुराई न जा सकें तो मूर्तियों का सिर ही काट कर ले जाते हैं। अभी अभी मध्यप्रदेश में ऐसा ही हुआ है। गुस्सा तो आता है, पर, वे तो हमारी धर्मपरम्परा से अपरिचित विदेशी हैं। उन्हें क्या लेना देना है हमसे, हमारी श्रद्धा से और हमारी श्रद्धा के केन्द्र भगवान से। उन्हें तो भगवान के कटे सिरों से अपना ड्राइंग रूम सजाना है, बस, और कुछ नहीं। पैसों के लोभी हमारे लोग ही इसके लिए माध्यम हैं, और आजकल यह बाजार बड़े जोरशोर से चल रहा है।

खेद उन विदेशियों पर नहीं; उन लोगों पर है, जो अपने हैं, फिर भी अपने भगवान् के व्यक्तित्व एवं चरित्र का हनन कर रहे हैं। साथ ही श्रद्धालु जनहृदय का भी। एक तो युग ही अनास्था का है। कुछ लोग यों स्वतः ही अनास्था का काला कंबल ओढ़े फिर रहे हैं। और इस पर धर्मपरम्पराओं के अधिष्ठाता गुरु कहे जाने वाले महापुरुष भी अनास्था को और अधिक प्राणवान् बनाएँ तो क्या किया जाए ? अनर्गल फूहड़ आलोचनाएँ आलोच्य का शिरच्छेद करने वाली नहीं तो और क्या हैं?

मेरे एक स्नेही मुनि कविसम्मेलन में अपनी कविताएँ सुना रहे थे। उपस्थिति साधारण ग्रामीण जनता की ही अधिक थी, जो पहले से ही जैनों के प्रति अरुचि एवं अश्रद्धा का भाव लिए हुए थी। आजकल एक फैशन हो गया है कि जब भी हो, जैसे भी हो, व्यापारी समाज का, पंडे-पुरोहितों का, राजनीतिज्ञों का, नेताओं का, धर्मों का, और धर्मगुरुओं का खुला मजाक उड़ाना। कवि लोग दो-चार इधर-उधर की कविता सुना कर इसी हँसा-हँस की धरा पर आ जाते हैं। उनका उद्देश्य ही होता है-एकमात्र जनता को हँसाना, हँसा कर अधिकाधिक करताड़न की गुरुगर्जना से सभाभवन को गुँजा देना। उनकी सफलता भी तो इसी में है न? दूसरे कवि ऐसा कह रहे थे तो मुझे कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई।

परन्तु मेरा अन्तर्मन पीड़ा से तब भर उठा, जब मुनिश्री भी उन सबके साथ हो लिए। उन्होंने भी बनिए का, नेताओं का और धर्म के ठेकेदारों के नाम से सम्बोधित धर्मगुरुओं का खुल कर मजाक उड़ाया। लोग हँसते रहे, तालियाँ गड़गड़ाते रहे, और मुनिश्रीजी उत्साह की तरंग में बढ़-बढ़ कर भगवान पर, भक्तों पर, धर्माचार्यों पर, तीर्थकरों और पैगम्बरों पर एक के बाद एक फबतियाँ कसते रहे।

और आखिर में तो मेरा भावुक हृदय तब दूक दूक हो गया, जब मुनिश्री ने जैनों की पानी छान कर पीने वाली चर्यापद्धति पर मजाक का एक अत्यन्त क्रूर प्रहार किया। उनका कहना था कि ये जीवदया के नाम पर पानी छान कर पीने वाले इधर पानी तो छान कर पीते हैं, और उधर आदमी का खून अनछाना ही पी जाते हैं। उपस्थित ग्राम्य युवकों ने तालियाँ पीटी, हँसी के फव्वारे छोड़े और जैनों की इस धर्मक्रिया पर एक दूसरे ने आपस में इशारेबाजी की। मुनिश्री भी अपनी कविता की इस दाद पर हँसे-मुस्कराए और अन्दर ही अन्दर अपने क्षुद्र अहं की संपूर्ति का मधुरस चाटने लगे।

मैं मान लेता हूँ, जैन समाज की कुछ गलतियाँ हैं, जो इन तथाकथित गुरुजनों के भ्रान्त प्रवचनों से ही अतीत में उद्भूत हुई हैं। यदि आज का गुरु प्रबुद्ध हुआ है और कुछ परिष्कार करना चाहता है, तो मैं उसका हृदय से स्वागत करूँगा। सुधार होना ही चाहिए। परिष्कार अपेक्षित ही है। परन्तु परिष्कार का यह क्या ढंग कि भीड़ के साथ हो लिए। अपना कोई आदर्श नहीं, अपनी कोई गरिमा नहीं। अपनी हर आस्था पर यों ही बिना किसी खास मतलब के छींटाकशी करना और वह भी पहले से ही अनादर की भावना रखने वाली इतर जनता में। मैं कुछ समझ नहीं पाया। हाँ, इतना अवश्य समझ पाया कि वाहवाही लेनी है, खुद को क्रान्तिकारी कहलाना है। क्रान्ति करनी है, तो घर में बैठिए, और लताड़िए अपने भक्तों को। किन्तु अन्दर में सब कुछ चलने देना, उन्हीं आदमी का अनछाना खून पीने वालों से अपनी सुखसुविधा के साधन जुटाते रहना, अपने मत-पंथों की दूटती, गिरती, ढहती दीवारों की, सम्प्रदाय की अनर्गल मान्यताओं की तत्त्वहीन उड़ाऊ तकों के गारे-मिट्टी से मरम्मत करते जाना, कहाँ की क्रान्तिकारिता है! सम्प्रदाय की तो छोटी-सी धूलिरेखा भी नहीं पार की जाती और उधर एक ही छलांग में हिमालय लाँघने के नारे बुलन्द किए जाते हैं। यह सब खेल ज्यादा दिन नहीं चल सकेगा। एक दिन होना ही होगा,

इधर या उधर। आखिर दो घोड़ों पर एक साथ कैसे तवारी करते रहेंगे। सरकस के खेल कुछ क्षणों के मनोरंजन ही कर सकते हैं, जीवन के यथार्थ स्थायी समाधान नहीं।

नई पीढ़ी के मेरे साथियों! मृतप्राय जड़क्रियाकाण्डों पर आलोचना करो, पर वह करो सधे हाथों से। जैसे कुम्हार अपने कलाकुशल सधे हाथों से मृद्भाण्ड पर चोट करता है, पर जानते हैं, वह चोट ध्वंस नहीं, निर्माण करती है। मजाक नहीं, आलोचना करो अपने मतपंथों के भ्रमों की। पर, वह फूहड़ न हो, पानी छानते छानते आदमी का अनछाना खून पीने जैसी। यदि आपको कुछ भी आस्था नहीं है अपने में, तो चलो उस दूसरे शिविर में इस पुराने शिविर में इधर-उधर क्या ताकझांक रहे हो?

मेरी बात कड़वी है। पर, मुझे कहना है शिष्टता के लिए शासन की गरिमा के लिए। आप ही शासन की गरिमा का संरक्षण नहीं करेंगे तो कौन करेगा? पुत्र ही जब पिता की फर्म को ठुकराएगा, उसे बदनाम करेगा तो क्या होगा? झाड़ू दो, कूड़े को बाहर फेंको, पर असली माल को समेट कर करीने से फिर अपनी जगह सजाओ। दूसरों के द्वारा दुर्भावना से की गई लांछनाओं को अपने नये शब्दों में आबद्ध कर अपने को लांछित करना, कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

सितम्बर १९७४

शुभाशा का सन्देश वाहक : नववर्ष

पुराना वर्ष जर्जर, क्षीण एवं शीर्ण हो कर महाकाल के गाल का ग्रास हो रहा है, और नया वर्ष जन्म ले रहा है। पुराना वर्ष कैसा गुजरा ? अब उक्त प्रश्न और उसके उत्तर के लिए सिरदर्द करने की कोई अपेक्षा नहीं है। जैसा भी था गुजर गया। महलों में गुजरा या झोपड़ी में? प्रकाश में गुजरा या अन्धकार में? सुख में गुजरा या दुःख में? इन विकल्पों से कोई लाभ नहीं है, अब आते वर्तमान में। ये विकल्प भविष्य की ओर बढ़ते प्रगतिशील कदमों के आगे रोड़े ही बन सकते हैं, बाधक ही बन सकते हैं, साधक नहीं। जो बीत गई सो बात गई। गया वक्त फिर कभी लौटा है? नहीं, कभी नहीं। भगवान महावीर ने कहा है—‘जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।’

अतीत के उत्थान या पतन से, विकास या न्हास से जो शिक्षा मिली है, जो बोध हुआ है, उसके प्रकाश में आने वाले भविष्य की यात्रा करनी है। अब अतीत में लौट कर कुछ नहीं हो सकता, वर्तमान में रह कर ही कुछ हो सकता है। कर्म का कुरुक्षेत्र वर्तमान ही है, न अतीत है और न भविष्य। इसी संदर्भ में एक अनुभवी मनीषी ने कहा था—‘वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः’- विचक्षण बुद्धिमान व्यक्तियों का वर्तमान काल के अनुसार ही वर्तन अर्थात् कर्मव्यवहार होता है।

जीवन बहुमूल्य है। बहुमूल्य क्या अनमोल है। उसका लघु-से-लघुतम एक क्षण भी इतना मूल्यवान है कि स्वर्ग का राज्य भी उसकी तुलना में नहीं आ सकता। उक्त जीवन को अंधेरे कोने में मुँह लटकाए, मुहर्रमी सूरत बनाये, आँसू बहाते गुजार देना, जीवन के प्रति कितना बड़ा अन्याय है? यह इतना भयंकर अपराध है कि इसका कभी कोई परिमार्जन नहीं हो सकता। जीवन पैर पसार कर मुर्दे की तरह पड़े रहने के लिए नहीं है। संघर्ष, निरंतर संघर्ष ही जीवित-प्राणवान जीवन का एक मात्र अबाधित लक्षण है, चिह्न है। संघर्ष के एक-से-एक नये मोर्चे खोलो, अविचल मनोबल के साथ प्रतिकूलताओं एवं बाधाओं

से युद्ध करो, उन्हें हर कीमत पर पराजित करो और आगे बढ़ कर दूर-दूर तक अपने विजयध्वज लहराओ। मानव की कर्मशक्ति एक तूफान है। तूफान के आगे कौन नतमस्तक नहीं हो जाता ?

मानव गर्जती-उछलती शक्तियों का अनन्त सागर है। आवश्यकता है, उन शक्तियों को संगठित एवं केन्द्रित करने की। केन्द्रित न होने के कारण ही वे शक्तियाँ पंगु बनी हुई हैं। उनसे कुछ हो नहीं पाता है। और इस पर से मानव समझ लेता है कि “मेरे भाग्य में कुछ नहीं है। मैं रिक्तघट हूँ, जल की एक बूँद भी तो यहाँ नहीं है। रिक्तघट तो भरा जा सकता है। पर, मैं तो फूटा घड़ा हूँ, भर कैसे सकूँगा ?” यह विचार एकदम तोड़ देते हैं आदमी को। पर, किसने कहा तुम्हें कि तुम रिक्त घट हो, या फूटे घट हो ? महावीर ने तो कहा है—तुम अनन्तशक्ति के स्रोत हो। जो मुझमें है वह तुममें भी है। कोई भी व्यक्ति ईश्वरीय अनन्त ज्योति से खाली नहीं है। अपेक्षा है, सोई हुई शक्तियों को जागृत करने की। जिसकी शक्तियाँ जाग जाती हैं, उसके लिए कुछ भी अलभ्य नहीं है, असंभव नहीं है।

अधूरे मन से किया गया प्रारम्भ हमेशा आदमी को अधूरा रखता है। पूर्णता के लिए पूर्ण मन चाहिए। यह पूर्ण मन ही वह निष्ठा है, जो कर्म को प्राणवान बना देती है। पूरी निष्ठा के साथ कर्मयात्रा करो। कर्म के प्रति सच्चा रहना ही कर्म की सफलता का मूलमंत्र है। और कहीं आप ईमानदार हैं या नहीं, जाने दो इस सवाल को। कम से कम इतना तो प्रमाणित करो कि तुम अपने कर्म के प्रति तो ईमानदार हो। इस एक ईमानदारी में विश्व—ब्रह्माण्ड की एक-एक करके सभी ईमानदारियाँ अपने आप समाहित हो जाती हैं। कर्म की सफलता के लिए कर्मशक्ति अपेक्षित हैं, और यह कर्मशक्ति आती है कर्म की सत्यता से, अर्थात्, कर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं ईमानदारी से। यही वह निष्ठा है जहाँ मानव का मन तदनुरूप वाणी का, और वाणी तदनुरूप कर्म का रूप लेती है। भगवान महावीर के साथ इसी सन्दर्भ में हुए एक प्रश्नोत्तर की चर्चा उत्तराख्ययन सूत्र (२९, ५३) में मिलती है :

“करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ”

“करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ ।

करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ।”

प्रश्न है शिष्य का — “भंते ! करणसत्य (प्रारब्ध कार्य के प्रति सच्चाई) से कर्ता को क्या लाभ होता है ?”

उत्तर है भ. महावीर का —“ करणसत्य से व्यक्ति को करणशक्ति (प्रारम्भ किए गए कार्य को सम्यक्तया सम्पन्न करने की अदम्य क्षमता) प्राप्त होती है ।

करणसत्य में वर्तमान अर्थात् कर्मनिष्ठ व्यक्ति यथावादी तथाकारी (जैसा बोलता है, वैसा ही करने वाला) होता है ।”

किंबहुना, नया वर्ष आ रहा है, तुम्हारे द्वार पर । वह देखो, आ ही गया है । उसका हँसते-खिलते मनमस्तिष्क से स्वागत करो । वह तुम्हें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए अवसर देने आया है । मन के किसी भी कोने में निराशा छुपी बैठी हो, तो उसे धक्का दे कर बाहर निकाल दो । अन्तर्मन के स्वर्णसिंहासन पर आशा की, शुभाशा की देवी को विराजमान करो । आशा की देवी का वरदान जिस व्यक्ति को मिल जाता है, फिर उसे कोई कमी नहीं रहती है । किसकी शक्ति है, जो उसे पराजित कर दे ! मानव जब कभी पराजित हुआ है, अपने से ही पराजित हुआ है, किसी दूसरे से नहीं । और जब कभी विजेता भी बना है, तो अपने से ही ; अर्थात् अपने बल पर ही विजेता बना है, किसी दूसरे के बल पर नहीं । आशा ही मानवहृदय का वह बल है, जो मानव को प्राणलेवा कठिन संघर्षों में भी विजेता बनाता है । आशा का अमरदीप अन्धकार के क्षणों को ज्योतिर्मय कर देता है । मानवजीवन की अमृत संजीवनी है आशा, जो दम तोड़ते मरणोन्मुख जीवन में भी नये प्राणों का संचार कर देती है; मानव को जीते-जी मरने की स्थिति में उबार लेती है। आशा मानवहृदय का सदा काल खिलता-महकता रहने वाला दिव्यपुष्प है । कुछ भी हो, सुन्दर भविष्य के मंगल-प्रभात की आशा का नन्दादीप न बुझने पाए । एक से एक सुन्दर कल्पना करो, सोचो-विचारो । जैसा विचार होता है, वैसा ही आचार होता है । और जैसा आचार होता है, वैसा जीवन का संस्कार एवं परिष्कार होता है । विचार ऊँचा उठा कि मनुष्य उँचा उठा । विचार नीचे गिरा कि मनुष्य नीचे गिरा । मनुष्य का उत्थानपतन उसके उठते-गिरते संकल्पों में है, भावनाओं में है।

अस्तु, नई आशा, नई उमंग, नया उत्साह, नई महत्त्वाकांक्षा, नई

प्रेरणा लेकर नए वर्ष में प्रवेश करो । रोते हुए नहीं, हँसते हुए आगे बढ़ो । जो रोता है, उसे रोता हुआ भविष्य मिलता है; और जो हँसता है उसे हँसता हुआ । तुम्हारे सामने बहुत बड़े दायित्व हैं। तुम्हें अपने व्यक्तिगत जीवन का ही नहीं, अपितु अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म तथा सांस्कृतिक परम्परा का ध्यान रखना है । सर्वत्र नवनिर्माण, विकास और परिष्कार की पुकार है । तुम्हें इस पुकार को ठीक तरह सुनना है और उसके लिए अपने दायित्व का निर्धारित भाग अदा करना है । तुम्हें अगल-बगल, दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे यह नहीं देखना है कि दूसरा कोई कुछ इस दिशा में कर रहा है या नहीं कर रहा है। दूसरा कोई करे या न करे; संकल्प करो, तुम्हें करना है, तुम्हें अकेले को करना है । यह मत सोचो कि मैं अकेला क्या कर पाऊँगा ? प्राचीन भारत के महामनीषी की यह अमरवाणी हर क्षण स्मृति में रखो — ‘एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च ताराः सहस्रशः।’ हजारों-लाखों तारे नहीं, एक चन्द्र ही अन्धकार का नाश करता है। तुम चन्द्र हो, तारा नहीं। भारतीय दर्शन की भाषा में तुम नर नहीं, नारायण हो। प्रत्येक सत्कर्म की पूर्ति के लिए, जो कुछ भी तुम्हारे पास है, हँसते मन से उसकी आहुति दे दो। अच्छे और सच्चे मन से किया गया कोई भी प्रयत्न निष्फल नहीं होता। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो आने वाले दूसरे कल को वह सफल होगा ही। भूमि में पड़े बीज को अवसर मिलते ही अंकुरित होना है, पुष्पित-फलित होना है।

जीते रहो, जूझते रहो। विजय की पताका आगे-और आगे बढ़ाते रहो। लोगों के कण्ठ अकुला रहे हैं, तुम्हारे नाम का जिन्दाबाद बोलने के लिए। ज्यों ही तुम्हारे हाथों संपादित एक भी सत्कर्म मंजिल पर पहुँचेगा कि हजारों हजारों कंठों से मुखरित होने वाले जिन्दाबाद के जयघोषों से गगन गूँजने लगेगा। क्या पता, तुमसे ऐसा कोई महान् कार्य हो जाय, जो तुम्हें इस वर्ष का इतिहासपुरुष ही बना दे। ऐसा इतिहासपुरुष, जो युग-युग तक जनजीवन के लिए प्रेरणा का उदाहरण बना रहे। आज तक के मानव-इतिहास में जो भी कोई महान् व्यक्ति हुए हैं, वे सब अपने किसी दिव्यकर्म के द्वारा ही इतिहासप्रसिद्धि की महिमा एवं गरिमा से मण्डित हुए हैं।

आओ, आगे बढ़ो, नववर्ष तुम्हारे स्वागत के लिए प्रस्तुत है। शुभास्ते सन्तु पन्थानः!

जनवरी १९७५

सक्रिय मन ही महान है ।

मानव की श्रेष्ठता तन से नहीं, मन से है । अनेक हजार फूल और पत्र ऐसे हैं, जो मानव के तन से कहीं अधिक सुन्दर हैं । मानव उन्हीं फूलों और पत्तों से अपने तन को सजाता है; अपने को सुन्दर बनाता है । हजारों-लाखों पशु और पक्षी भी ऐसे हैं, जिनके सौन्दर्य की उपमा मानव के विभिन्न अंगों को दी जाती है । मानव की गति उपमित है गज और हंस की गति से; बल विक्रम तथा साहस उपमित है सिंह के बल, विक्रम और साहस से; वाणी उपमित है कोकिल की वाणी से । दो चार क्या शताधिक उपमाएँ मानवतन को पशु-पक्षी जगत से मिलती आ रही हैं हजारों-लाखों वर्षों से । इसका स्पष्ट अर्थ है मानव तन से नहीं, मन से ही श्रेष्ठ है ।

जितना विकसित मन मानव को मिला है, उतना अन्य किसी योनि में नहीं है । नरक के प्राणी अनादिकाल से दुःख भोग रहे हैं, पीड़ा पा रहे हैं । न उनके पास खाने को अन्न है, न पीने को पानी ; न वस्त्र है, न मकान है । जंगली पशुओं के पास तन छुपाने को मांद है, बिल है और पक्षियों के पास घोंसले हैं; किन्तु असंख्य नारक जीवों के पास तो वे भी कुछ नहीं । कितनी दयनीय स्थिति है ! तन तो उनके पास भी मानवाकार है, फिर भी क्यों नहीं वे अपना विकास कर पाते हैं ? स्पष्ट है, विकास का मूल स्रोत दिव्य मन है और वह मन की दिव्यता उनके पास नहीं है ।

पशु-पक्षी भी मानव जैसी विकसित भूमिका पर नहीं आ पाये हैं । जो पक्षी तिनकों का जैसा घोंसला हजारों वर्ष पहले बनाता था, वैसा ही आज भी बनाता है । जरा भी तो कोई परिष्कार एवं संस्कार उन घोंसलों की रचना में नहीं हो पाया है । सुख-सुविधा की कोई भी तो युगानुकूल नई व्यवस्था नहीं हो पाई है । पशुओं के मांद अगर बिल सभी वैसे ही हजारों-लाखों वर्ष पहले के

पुरातनरूप में हैं । क्या कुछ नया परिवर्तन एवं परिवर्द्धन देखा है कभी किसी ने उनके आकार में ? यह सब अविकसित मन की स्थिति है ।

देवों की बड़ी महिमा है । बहुत ही अद्भुत एवं रंगीन वर्णन मिलते हैं दैवी वैभव के परम्परागत साहित्य में । किन्तु एक बात है, उन्हीं तथाकथित शास्त्रों के अनुसार वह सब वैभव इतना पुराना, इतना जराजीर्ण है कि कुछ पूछो नहीं । अनन्त असंख्यकाल से देवताओं के पूर्वभुक्त जूठन ही भोगते आ रहे हैं सभी देव ; यहाँ तक कि इन्द्र भी । कोई नया उत्पादन नहीं, नया अर्जन—सृजन नहीं । वे ही पुराने भवन, वस्त्र, शय्या, आसन, अलंकार आदि हैं । न कोई परिवार, न समाज, न संस्कृति । और तो क्या दंपती के रूप में मानवजाति ने जैसे विवाहसंस्कार का मंगलमय आविष्कार किया है, वह भी देवजाति में नहीं । देवजाति में पति-पत्नी नहीं , केवल शारीरिक भूख की पूर्ति के लिए नर—मादा हैं, जैसे कि पशु-पक्षियों में होते हैं । देवताओं का तन भी मानवाकार है । फिर भी विकास क्यों नहीं ? मानवजाति ने जैसे धरती पर नित नये विकास किए हैं, धरती और आकाश के बीच एक नई अद्भुत सृष्टि तैयार की है, और उसमें निरन्तर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया है, ऐसा कुछ देवजाति में नहीं हुआ है, जैसा कि हमें पुरातन-साहित्य में पढ़ने को मिला है । संस्कृति और सम्यता के क्षेत्र में देवताओं के पास मानव जैसा कुछ भी तो उपादेय नहीं है । इसका अर्थ है देवों के पास मानव जैसी मनःशक्ति का अभाव है ! चिन्तन से ही चेतना जागृत होती है । जागृत चेतना से ही जीवन का परिष्कार नित नया मोड़ लेता है ।

मानव भाग्यशाली है, इस सन्दर्भ में कि उसे मननशील मन मिला है, चिन्तनशील चेतना मिली है । यदि वह अपने मन का उचित दिशा में उपयोग करे, मन की दिव्यशक्ति को कर्म में लगाए तो वह अपने देवजगत् से भी श्रेष्ठ एवं दिव्य मानवजगत् को बना सकता है । मानव सब कुछ कर सकता है, सब कुछ पा सकता है, यदि वह पूरे मन से निर्माण के क्षेत्र में उतरे तो । अधूरे एवं दुर्बल मन से कुछ नहीं होता है ।

जो भी कार्य करना हो, पहले यह सोचो कि वह युक्तिसंगत है, तर्कानुकूल है। उससे तुम्हारा अपना हित है, मंगल है । उससे तुम्हारी कोई हानि तो नहीं है? तुम्हारे जीवन को गंदा तो नहीं बनाता है, विकृत

तो नहीं करता है ? साथ ही यह भी चिंतन मनन करो कि तुम्हारे उस कर्म से दूसरों का भी मंगल होता है या नहीं? कर्म वही श्रेष्ठ है, जो स्व और पर दोनों के लिए मंगलमय हो, हितकर हो। जिस कर्म से दूसरों का अहित होता हो, दूसरों की हानि होती हो, दूसरों का उसमें से कुछ भी हितकर जैसा न मिलता हो, वह बाहर में कितना ही भव्य क्यों न हो, सर्वथा हेय है।

और जब यह निश्चित हो जाय मनन के द्वारा कि यह कर्म स्वपरमंगलकारी है, इसमें निज-पर का हित साधन है, तो उसमें पूरे मन से उतर जाओ; अपनी पूरी विवेकशक्ति का उपयोग करो; और सब कुछ भूल जाओ। उसी में इतने विभोर हो जाओ कि तुम्हारा तन और मन उसी के रंग में रंग जाए। जीवन का कोई भी अंग, चेतना या कोई भी अंश ऐसा न हो, जो उसके दिव्यस्पर्श से अस्पृष्ट रह जाए। जैसे बिजली की झनझनाहट सारे शरीर में अनुप्राणित हो जाती है, उसी प्रकार निर्धारित कर्म से तुम्हारी चेतना का कण-कण अनुप्राणित हो जाना चाहिए। तभी वह कर्मयात्रा सफल होगी, सिद्धि द्वार पर पहुँचेगी। अन्यथा उस कर्म को तुम रोते हुए करोगे तब वह कर्म एक मुर्दा-सड़ी हुई लाश को ढोने जैसा रहेगा।

प्रत्येक शुभकर्म के लिए एकग्रता की बड़ी अपेक्षा है। सूर्य की हर किरण दिव्य है, दीप्तिमती है। परन्तु जब वे केन्द्रित होती हैं, तभी उनमें से दहकती ज्वाला फूटती है; बिखरी हुई किरणें साधारण-सा ताप देकर रह जाती हैं, ज्वाला नहीं जगा सकती। मन की भी यही स्थिति है। कितना ही अच्छा दीप्तिमान मन हो, यदि वह बिखरा हुआ है, इधर-उधर उलझा हुआ है, प्राप्त कर्म के साथ केन्द्रित नहीं हुआ है, तो वह कुछ नहीं कर पायेगा। स्वप्न के मन की तरह आलजंजाल में बिखर कर रह जाएगा। परन्तु ज्यों ही वह केन्द्रित होगा, तो उसमें से वह दिव्यज्योति प्रस्फुटित होगी, जो कर्म को प्राणवान बना देगी। केन्द्रित मन ही सिद्धि का द्वार खोलता है। फिर वह सिद्धि इस जन्म की हो, या किसी दूसरे जन्म की; लोक की हो, या परलोक की; संसार की हो या मोक्ष की।

आज के युग की सबसे बड़ी जटिल समस्या यही है कि मनुष्य कर्म इधर करता है और मन कहीं उधर उलझाये रहता है। जीवन के दो खण्ड हो जाते हैं। मन की दिशा अन्य हो और कर्म की दिशा अन्य हो तो यही स्थिति

होगी कि एक पैर पूर्वदिशा में चलेगा और एक पैर पश्चिमदिशा में चलेगा । यह गति कैसी होगी ? यह जीवन की द्वैधता ही आज के युग की सबसे बड़ी विडम्बना है । मन जैसी दिव्यशक्ति का उचित दिशा में केन्द्रित उपयोग ही मानव को इस विडम्बना से मुक्ति दिला सकता है और तभी मानव सच्चे अर्थ में मानव बन सकता है ।

फरवरी १९७५

पाप, पुण्य कर्म में नहीं, भाव में हैं ।

मानव का उत्थान और पतन, विकास और न्हास उसकी चिन्तनशैली पर आधारित है । मन मूल है । जैसा मन वैसा तन; अर्थात् जैसा मनन वैसा कर्म । कर्म स्वयं में शुद्ध या अशुद्ध कुछ नहीं होता है । कर्म के मूल में जो अशुद्ध या शुद्ध, शुभ या अशुभ भाव होते हैं, वे ही यथाप्रसंग कर्म को अच्छा बुरा बनाते हैं ।

समाज का वह युग कितने दुर्भाग्य का युग था, जिस युग में कर्म के अच्छे-बुरेपन का विभाजन आन्तरिक भावना से मुक्त कर केवल बाहर के अच्छे-बुरे लगने वाले आकार-प्रकारों के रूप में किया गया । और उक्त विभाजन की गलत दृष्टि भटकते-भटकते अन्त में इस स्थिति में पहुँची कि कर्ममात्र पाप हो गया । अतः कर्म न करना ही जीवन की सर्वोपरि श्रेष्ठता समझी जाने लगी । और यह निष्कर्मता एवं अकर्मण्यता ही आगे चल कर धर्म के सिंहासन पर जा बैठी, जिसका प्रतिफलन यह हुआ कि सच्चा और शुद्ध धार्मिक वही व्यक्ति माना जाने लगा, जो कुछ भी काम न करे । समय पर अपनी आवश्यकताएँ दूसरों के कर्म अर्थात् श्रम से पूरी कर ले और बस स्वयं निठल्ला ठाली बैठा राम-राम जपा करे । इतना ही नहीं, जिनके कर्म से सेवा ली है, उन्हें उस कर्म के प्रति पापी कहता रहे, और उनके लिए नरकादि दुर्गतिगमन के शास्त्र-प्रमाण उद्धोषित करता रहे। कर्म का कर्ता नरक में और उस कर्म के फल का उपभोक्ता स्वर्ग में, कितनी विचित्र बौद्धिक विडंबना है ! रोटी कमाने और बनाने-पकाने वाला पापी है, और उसे धर्म के नाम पर मुफ्त में प्राप्त कर खाने वाला पुण्यात्मा है, धर्मात्मा है !

उक्त भारतीय चिन्तन का यह दुष्परिणाम आया कि प्रायः हर व्यक्ति कर्म से जी चुराता है, श्रम से भागता है । वह परोपजीवी बनता जा रहा है, और देश का दुर्भाग्य है कि इसमें अपनी श्रेष्ठता भी समझता है। भारतीय जनमानस में यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि स्वयं कर्म करना छोटे कहे

जानेवाले साधारण निम्न-श्रेणी के लोगों का काम है और अपने लिये वही कर्म दूसरे से करा लेना ऊँचे और बड़े लोगों का प्रतीक है ।

वाराणसी के आसपास मुझे एक वृद्ध पण्डितजी मिले । बात चल पड़ी धर्मों की, दर्शनों की, स्वर्गों की, नरकों की और संसार एवं मुक्ति की । वार्ता ने काफी लम्बीचौड़ी दूर-दूर की परिक्रमा की । आखिर अतीत में से भटकती हुई वह वर्तमान में आ टिकी । पण्डितजी ने कहा — “महाराज, अब क्या है ? अब तो धर्म का नाश हो रहा है । नीच जाति के लोग सिरपर चढ़ रहे हैं । कोई काम ही नहीं करता । भगवान की दया से पचास-साठ बीघा जमीन है । कभी अच्छा गुजारा हो जाता था । घर में दस-पन्द्रह प्राणी हैं, लड़के हैं, पोते हैं, सब मौज उड़ाते थे । कमीण (शूद्र, हरिजन आदि) लोग खूब मेहनत से खेत में काम करते थे और बदले में थोड़ा बहुत दे दिया, उसी पर खुश रहते थे, हमारी जय-जयकार करते थे । पर, अब तो जमाना ही बदल गया । काम के बदले में इतनी माँग है कि सारी उपज वे ही हड़प जायें । ‘जोते उसकी धरती’ का नारा काँग्रेस ने क्या दिया कि हम ऊँचे लोगों को तो उजाड़ कर ही रख दिया।”

पंडितजी की बात लम्बी होती जा रही थी । मैंने बीच में ही रोक कर कहा कि “ऐसी स्थिति है, तो आप स्वयं खेती क्यों नहीं करते ?” प्रश्न सुनना था कि पंडितजी आश्चर्य की मुद्रा में बोले— “महाराज, आप शास्त्र के ज्ञाता हैं, ऐसी बात कैसे कहते हैं ? हम ब्राह्मण हैं । भला ब्राह्मण कैसे हल पकड़ सकता है ? शास्त्र में निषेध है न ! यह तो शूद्रों का काम है । ब्राह्मण भी यदि हल पकड़े, भूमि जोते, तो फिर शूद्र और ब्राह्मण में अन्तर ही क्या रह जायेगा?”, मैंने काफी समझाया । आखिर मुश्किल से बात समझ में भी आई । फिर भी यहाँ अटक कर रह गई कि हमारी जाति के लोग हमें क्या कहेंगे ? हम उनकी निगाहों में गिर जायेंगे । लड़के-लड़कियों के नाते रिश्ते जाति में अच्छी जगह लेने बंद हो जायेंगे । वर्णाश्रम के नाम पर किए गये कर्म के विभाजन ने मानवजाति को किस दुःस्थिति में ला पटका है, यह है उसका एक साधारण सा उदाहरण ।

उक्त चर्चा से सम्बन्धित पण्डितजी का या उनकी जाति विशेष का यह कोई व्यक्तिगत दोष नहीं है । यह दोष है हमारे अतीत के गलत चिन्तन का । कर्म और धर्म के बीच में विभाजन की दीवार हमने ऐसी खड़ी कर दी कि कर्म

धर्म से शून्य हो गया और धर्म कर्म से । जीवन अखण्ड है, वहाँ ऐसा कोई विभाजन नहीं है । अखण्ड शरीर के सिर और धड़ अलग-अलग कर दिये जाएँ तो दोनों ही निष्प्राण हो जाएँगे । उस स्थिति में सिर सिर न रहेगा और धड़ धड़ नहीं रहेगा । दोनों का स्थान घर न रहेगा ; मरघट की दहकती चिता रहेगा । धर्म और कर्म भी अखण्ड हैं । उन्हें बीच में से काट कर अलग न कीजिए । हर कर्म धर्म है, यदि उसमें जनहित का व्यापक आयाम है, किसी उच्चतर जनकल्याण का संकल्प है । कर्ता का वही कर्म पाप या अधर्म होता है, जो व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थभावना से किया जाता है । येन-केन प्रकारेण केवल अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति कर लेना ही पाप है । जब व्यक्ति के कर्म का उद्देश्य या फल, मैं और मेरे की सीमा को लॉघ कर, हम और हमारे के व्यापक क्षेत्र में पहुँचता है, बहुजनहिताय बहुजनसुखाय के बौद्धिक आलोक में अपनी प्राप्ति के द्वार खोल देता है, तब हर कर्म धर्म हो जाता है । इस प्रकार बहुजनहिताय किये गये कर्म का विष निकल जाता है और वह अमृत हो जाता है । इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद के महान तत्त्वद्रष्टा ऋषि का प्राचीन उद्घोष है कि “ तेन त्यक्तेन भुंजीथाः । ” अर्थात् त्याग पूर्वक ही भोग होना चाहिए । जो प्राप्त है, प्राप्त किया है, उसका पहले आसपास में, परिजन में, पुरजन में — यथास्थिति एवं यथाप्रसंग वितरण करो, तदनन्तर अपने न्यायोचित लाभांश का उपभोग करो । गीतादर्शन के महान उद्गाता कर्मयोगी श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि जो व्यक्ति केवल अपने वैयक्तिक स्वार्थ के लिए साधन सामग्री जुटाता है, उपभोग करता है, वह मात्र पाप का उपभोग करता है — “ अघं स केवलं भुंक्ते, यः पचत्यात्मकारणात् । ” महाश्रमण तीर्थंकर महावीर ने भी यही घोषणा की थी कि जो साधक अपनी प्राप्त सामग्री का अपने आसपास के जनसमाज में यथोचित सम्यक् बँटवारा नहीं करता है, अकेला ही खा पीकर लमलेट हो जाता है, उसे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी — “असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।”

यह मार्ग है, कर्म को निर्मल और पवित्र बनाने का । कर्म के फल में जनता के प्रति व्यापक हित की दृष्टि रखने पर ही वह पवित्र धर्म बन जाता है । दो चार क्या, हजारों उद्धरण दे सकता हूँ, उक्त सत्य के समर्थन में । जब तक यह सत्य जनजीवन में व्याप्त रहा, कर्म के फल की धारा मुक्तरूपेण व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रवाहित रही, तब तक भारतीय समाज फूलता फलता रहा, समृद्ध होता रहा, धरती पर ही स्वर्ग को अवतरित करता रहा । और जब से कर्म वैयक्तिक स्वार्थ के क्षुद्र घेरे में बंद हो गया, अथवा

अकर्म को ही धार्मिकता एवं पवित्रता का मानदण्ड समझ लिया गया; स्वयं कुछ न करके दूसरों के द्वारा किए गए कर्म एवं श्रम का लाभ उठाने में ही अपना श्रेष्ठत्व समझा जाने लगा, तभी से भारत का पतन होता चला गया, स्वर्गोपम धरती पर नरक का राज्य स्थापित हो गया ।

जैन परम्परा के आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने मानवजाति को कर्म की शुद्ध दृष्टि दी थी । उनके युग तक मानवजाति वन्यजीवन की यात्रा पर, प्रकृति की सहज उपलब्धियों पर अपनी आवश्यकतापूर्ति कर रही थी । परन्तु जब इधर जनसंख्या बढ़ी और उधर प्रकृति से प्राप्त साधन-सामग्री क्षीण होने लगी, तो जनता भुखमरी की स्थिति में पहुँच गयी। सब ओर हाहाकार प्रतिध्वनित होने लगा । भूखा मरता, क्या न करता ? परस्परद्वन्द्व बढ़ा, छीनाझपटी होने लगी । युगद्रष्टा ऋषभदेव ने कर्म की घोषणा की । जैन इतिहास कहता है— भगवान् ऋषभदेव ने धरती पर के झाड़-झंखाड़ एवं ऊँचे-नीचे टीले साफ कराये, समतल खेत बनाये और लोगों को खेती करने की शिक्षा दी । कुम्हार और लुहार आदि के उद्योग भी प्रचलित किए । इस प्रकार उनके द्वारा अकर्मभूमि-युग कर्मभूमि-युग में परिवर्तित हुआ । प्रश्न है, भगवान् का यह कर्म पापकर्म था या पुण्यकर्म ? आज के कुछ तथाकथित धर्माभिमानी जैनों की मान्यता के अनुसार यह पापकर्म है, तो फिर पुण्यकर्म कौनसा होगा ? लोग भूखे मर रहे थे तो अपने पापकर्म से मर रहे थे । उनके मरने का पाप भगवान् को तो नहीं लग रहा था! फिर भगवान् ने व्यर्थ ही यह कृषि आदि का पापकर्म किया, और कराया, जो तब से अब तक चला आ रहा है । स्पष्ट है कि भगवान् ने वैयक्तिक कर्म को और उसके द्वारा प्राप्त होने वाले फल की वैयक्तिक उपभोगदृष्टि को सामाजिक रूप दिया । और इस प्रकार सर्वजनहित की दृष्टि से वह कर्म व्यापक आयाम के साथ पुण्य की भूमिका में पहुँच गया । कर्म में से क्षुद्रता का विष निकल गया और उसमें जनहित की भूमिका का अमृत समा गया । खेद है, मध्यकाल की कुछ शताब्दियों से जैन-समाज भगवान् ऋषभदेव के सामाजिक आदर्शों को भुला बैठा, जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसे धर्मध्वजी लोग मैदान में आ खड़े हुए, जिन्होंने आँख बन्द कर घोषणाएँ शुरू कर दी कि खेती करना महारंभ है, महापाप है, कुम्हार, लुहार, तेली आदि के उद्योग कर्मादान हैं, अर्थात् पापादान हैं, पाप के केन्द्र हैं । अहिंसा का साधक जैन यह कर्म किसी भी हालत में नहीं कर सकता। दुकान पर बैठ कर भले ही कोई सुबह से शाम तक हजार झूठ बोलता रहे, चोरी करता रहे, कम तौलता रहे, मिलावट करता रहे, इसकी कोई चिन्ता नहीं।

चिन्ता है केवल कुम्हार, लुहार, किसान आदि कर्म-करों के कृषि आदि कर्मों से सम्बन्धित औद्योगिक स्थूलहिंसा की, जिसकी भगवान महावीर के द्वारा गृहस्थ के लिए कोई शास्त्रीय वर्जना नहीं है। यह चिन्तन की बौद्धिक दुर्बलता है, जिसने समाज के अल्पसंख्यक वर्ग को सीधे जनहितमूलक उत्पादन क्षेत्र से हटा कर उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का एक दलाल मात्र बना दिया है, जिसे आज के युग की चेतना बीच में से निकाल फेंकने की बात सोच रही है। समय आ गया है, अपने जीवनदर्शन पर नए सिरे से पुनर्विचार करने का। भगवान ऋषभदेव के कर्मदर्शन की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी। अकर्म में नहीं, कर्म में धर्म के दर्शन करने होंगे। कर्म को वैयक्तिक स्वार्थ की चेतना से निकाल कर व्यापक सामाजिक चेतना देनी होगी। आज के अधिकांश धार्मिक और शिक्षित कहे जाने वाले लोग श्रम से सम्बन्धित कृषि एवं उद्योग-धन्यों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें बस ठाली बैठे किया जाने वाला कोई व्यापार-धन्या चाहिए या नौकरी चाहिए। काम कम, लाभ भरपूर। न पैट की कहीं क्रीज खराब हो, न कहीं कोई धूल या कालिख लगे। सेठ को दुग्धघवल गद्दी चाहिए, और अफसर को चमचमाती कुर्सी। काम कोई और करे, पसीना कोई और बहाए, किन्तु खजाना उनका भरे। पाप कोई करे और उसके फलोपभोग से धर्म इन्हें मिल जाए। याद रखिए, न कोई काम छोटा है, न बड़ा है। छोटा बड़ा होता है मानव का मन। अच्छा बुरा काम बाहर में नहीं, आपके अन्तर्मन के उद्देश्य में है, भावना में है। आपको ऐसा धार्मिक होना चाहिए कि आप पवित्र एवं जनहित के संकल्प से जिस कर्म को भी छू लें, वह धर्म बन जाए। 'पुनातीति पुण्य' की व्युत्पत्ति वाला वह पुण्य, जो कर्ता के अन्दर और बाहर सब ओर पवित्रता की निर्मल धारा बहा दे।

मार्च १९७५

जन-युग के निर्माता महावीर

युग-निर्माता का निर्मल मानस सदा ही जनमंगल की ओर गतिशील रहता है । वह उचित परंपरा को ग्रहण करने, अनुचित को तोड़ने और अनेक आवश्यक नई परम्पराओं को जन्म देने की विविध शक्तियाँ रखता है । यह बात और है कि ऐसे युग-निर्माता एक-दो ही होते हैं । युग की पुकार ही युग-निर्माता को आगे आने को विवश करती है । और ऐसे युग-निर्माता का अनुसरण युग करता ही है, अन्यथा वह युग-निर्माता कैसा ? राम, कृष्ण, महावीर तथा बुद्ध ऐसे ही युगनिर्माता हुए हैं । इन सभी महापुरुषों के द्वारा सर्वतोमुखी लोकमंगल का सृजन हुआ है और धर्म, समाज तथा राजनीति को इनसे नई दृष्टि मिली है । भगवान के रूप में इनकी अर्चना अकारण नहीं है ।

लोकमंगल की दिव्यदृष्टि एवं सृष्टि के निर्माताओं के इतिहास पर ज्यों ही एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो हम अनायास ही भगवान् महावीर के युग-परिवर्तनकारी दिव्यरूप का दर्शन करते हैं । धर्म, समाज और राजनीति-तीनों ही क्षेत्र में, भगवान् महावीर, हमें क्रान्तिशील साधना से संवलित दृष्टि-गोचर होते हैं । आइए इस दिशा में हम सर्वप्रथम धार्मिक क्षेत्र पर दृष्टिपात करें ।

ईसापूर्व की छठी शती सम्पूर्ण विश्व के लिए धार्मिक संक्रान्ति-काल मानी जाती है । हमारा भारत तो उस समय अत्यन्त ही व्याकुलता के दौर से गुजर रहा था । धर्म के क्षेत्र में वहाँ केवल रूढ़ियाँ मात्र शेष रह गई थीं । धर्म का तेजस्वी रूप रूढ़ियों के अन्धकार में विलीन हो चुका था । वेदाऽऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् का ज्योतिर्मय उद्घोष करने वाला राष्ट्र उस समय स्वयं अन्धकार में भटक रहा था; यज्ञ-यागादि के रूप में मूक पशुओं का बलिदान दे कर अपने लिए वह देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त करने की विहम्बना अपना रहा था । धर्म के नाम पर यत्र-तत्र दैहिक उत्पीड़नप्रधान क्रियाकाण्डों की जयजयकार बुलाई जा रही थी । 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' की ओट में अभक्ष्य वस्तु

भी उसके लिए भक्ष्य वस्तु बन गई थी । मनुष्य एक प्रकार से मानवी वृत्ति से राक्षसी वृत्ति पर उतर आया था और वह भी दैवी वृत्ति की पवित्रता के नाम पर । करुणा और दया की ज्योति मनुष्य की आँखों से दूर हो चुकी थी । कहना तो यह चाहिए कि धर्म का कोई अंग ऐसा नहीं बच रहा था, जिसमें सत्य के निर्देशन की क्षमता शेष रही हो । ऐसे कठिन समय में भगवान् महावीर को हम सत्य-धर्म का निरूपण करते हुए देख कर निश्चय ही विस्मयविभोर हो उठते हैं । अर्थहीन कर्मकाण्ड के स्थान में अध्यात्मभाव की नई दृष्टि प्रदान कर वे धर्म को अमंगलभूमि से मंगलभूमि में स्थापित कर देते हैं^१। शुभ और अशुभ की सत्यलक्षी यथार्थ व्याख्या कर वे मनुष्यमात्र की आँखें खोल देते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं । सभी प्राणियों में परमात्मतत्त्व की भावना अपनाकर मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो गया । मानवता की दिव्य-प्रभा से मानव-हृदय आलोकित हो उठा।

सामाजिक क्षेत्र में भगवान् महावीर की जो देन है, वह तो सर्वथा क्रान्तिकारी देन कही जायेगी । समत्व की चर्चा जो कि बीच में विलुप्त हो चुकी थी, उनके द्वारा पुनः विशुद्ध रूप से प्रचारित हुई । व्यवहार में समता का जीवन मनुष्यों को पुनः उनके द्वारा प्राप्त हुआ । उन्होंने शूद्र और नारी-समाज के लिए उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर दिया । चिर-पतितों और उपेक्षितों के जीवन में प्रथम बार जागृति आई । युगान्तर स्पष्ट दर्शित होने लगा । शूद्रों की छाया से अपवित्र होने की आशंका पवित्र विप्रों के लिए नहीं रह गई^१। नारी को केवल भोग्य या दासी बना कर नारकीय जीवन बिताने की आज्ञा देने वालों को अपनी क्रूरता पर पश्चात्ताप होने लगा । भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व का इतिहास आज अलभ्य नहीं रह गया है, हम उसके पृष्ठों में समाज का जो हृदय-द्रावक रूप पाते हैं, उसके स्मरणमात्र से रोमांच हो आता है । बाजार में खुले आ-मातृजाति का क्रय-विक्रय होता था, उन्हें पशुओं की तरह खरीदने के लिए सड़कों पर बोलियाँ लगाई जाती थीं ।^१ इतना ही क्यों, यदि उन दास-दासियों की मृत्यु स्वामी की मारों से हो जाती थी तो उसकी सुनवाई के लिए कहीं स्थान नहीं था। कैसी विडम्बना थी कि उनके हथ्यों भिक्षा ग्रहण करने में भिक्षुक भी अपना

१. उत्तराध्ययन सूत्र २३ वां अध्यायन

२. उत्तराध्ययन १२ वां अध्यायन

३. महावीर-चरित-गुणचन्द्र

अपमान मानते थे । भगवान् महावीर ने प्रथम बार इस जघन वृत्ति के लिए चेतावनी दी, सृजनात्मक विप्लवी घोषणा की । इतिहास के पृष्ठों में चन्दनबाला की कष्ट कथा, तत्कालीन मनुष्य-समाज की दानवी-प्रवृत्ति, सामाजिक-विकृति दोनों को ही उजागर करने वाली कथा है । भगवान् महावीर ने उसे यंत्रणापूर्ण जीवन से उबार कर विराट् साध्वीसंघ से प्रमुखपद की पीठिका पर समासीन करने की भूमिका निभाई ।^४ उनके धर्म-संघ में वह श्रेष्ठ मानव-आचारों की प्रवक्ता बनी । पवित्र शूद्र कहलाने वाला, जीवनभर दासकर्म करता हुआ मृत्यु अपनाने वाला अभिशापित वर्ग, समाज में श्रद्धा-भाजन ही नहीं, मुक्ति प्राप्त भगवत्स्वरूप अर्हन्त भी स्वीकृत हुआ । समाज की विषमता दूर करने में भगवान् महावीर को हम अन्य सभी महापुरुषों से आगे पाते हैं । ज्ञात इतिहास में उनके वैशिष्ट्य की तुलना सहज ही किसी दूसरे से नहीं की जा सकती ।

रही राजनीति-क्षेत्र की बात । हम देखते हैं राजनीति के क्षेत्र में भी भगवान् महावीर की उपलब्धि किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती । जिस संक्रान्तिकाल में उनका जन्म हुआ था, वह राजनीति का सर्वथा न्हासकाल था । भारत ने प्रजातंत्र का नवीन प्रयोग कर जो कीर्ति प्राप्त की थी, उस प्रजातन्त्र का ढाँचा-मात्र शेष रह गया था । प्रजातन्त्र में भी अधिनायकवाद का उभरता प्रचण्ड नाग जनता का रक्तपान करने लगा था । प्रजातन्त्र की जन्मभूमि वैशाली में जननायक जन से हट कर केवल नायक के आसन पर आसीन हो रहे थे । और तो क्या, राजा और राजा से ऊपर महाराजा का उच्च आसन भी रिक्त नहीं था तत्कालीन प्रजातन्त्रों में । इतिहास महाराजा चेटक को हमारे सामने सर्वाधिकारप्राप्त महाराजा के रूप में ही उपस्थित करता है । स्वयं भगवान् महावीर का जन्म ज्ञातृ-गणतन्त्र के वैभवशाली एक सम्मान्य राज-कुल में हुआ था । हम तो कहेंगे, प्रजातन्त्र की अनेक अलोकतंत्रीय खामियों ने, नित्य के होने वाले उत्पीड़नों ने उन्हें तथाकथित प्रजातन्त्री जननायकों तथा एकतंत्री निरंकुश राजाओं के विरुद्ध बोलने को विवश कर दिया था । यहाँ तक कि अपने भिक्षुओं को राजकीय अन्नग्रहण का भी निषेध कर दिया था । उन्होंने प्रथमबार आने वाले कठिन भविष्य की ओर उन जननायकों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं कराया, उन्हें सही रूप में जन-प्रतिनिधि के योग्य कर्तव्य-पालन की चेतावनी भी दी । महावीर ने कहा था 'कोई कैसा ही महान क्यों न हो, किन्तु उसके द्वारा किए

जाने वाले महा-आरम्भ और महापरिग्रह नरक के द्वार है । ' समग्रभाव से प्रजा के प्रति अनुकम्पाशील होना ही राजा का सही अर्थ में राजत्व है । ' 'और कुछ उच्चतर नहीं कर सकते हो तो आर्यकर्म तो करो । ' राजनीति के क्षेत्र में यह कितना महान उद्बोधन था ! कौन कह सकता है कि वैशाली-जनतन्त्र का विघटन भगवान महावीर के उक्त साम्यधर्म को यथारूप में ग्रहण करने के अभाव में नहीं हुआ ? यदि वैशाली के जननायक अपने को साम्यभूमि पर उतार पाते, बिखरे जनगण को समधर्मी रूप में अपनाने का साहस करते तो वैशाली का जनशासन कभी विघटित नहीं होता । मगध की राजशक्ति वैशाली को चिरकाल में भी ध्वस्त नहीं कर पाती ।

इतिहास का वातायन एक-एक अन्वेषी हृदय के लिए खुला हुआ है — हम जितनी बार चाहें भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात कर सकते हैं । हमें उनके जीवन एवं सन्देशों से किसी भी समस्या का समुचित समाधान आज भी प्राप्त हो सकता है ।

जाती है जिस ओर दृष्टि, बस उसी ओर आकर्षण,
करता अग जग को अनुप्राणित जग-नायक का जीवन।

अप्रैल १९७५

५. स्थानांग सूत्र

६-७. उत्तराध्ययन १३ वां अध्यायन

जीवन-रथ के दो सुचक्र

रथ को लक्ष्य की ओर गतिशील होने के लिए दो चक्रों की अपेक्षा है । एक चक्र (पहिया) से रथ कभी भी गतिमान नहीं हो सकता । ‘ कदाप्येकेन चक्रेण, न रथस्य गतिर्भवेत् ।’ और दोनों चक्र भी आकार प्रकार में, ऊँचाई में बल आदि में सम होने चाहिए । दोनों में एक बहुत ऊँचा, एक बहुत नीचा, एक दुर्बल जर्जर और एक दृढ़ नवीन हो तो क्या रथ ठीक तरह से गति कर सकेगा ? प्रत्यक्षानुभव से सिद्ध है कि इस प्रकार विषम स्थिति वाले चक्र, रथ को गति देने में अक्षम होते हैं । चक्रों के समत्व में ही गति की साधकता है ।

परिवार एवं समाज रूप रथ के भी नर और नारी दो चक्र हैं । नर और नारी के समन्वित आधार पर ही तो परिवार और समाज का अस्तित्व है । एक दूसरे से शून्य समाज का कुछ अर्थ नहीं है । अतः परिवार एवं समाज को भविष्यकालीन विकास की ओर निरन्तर अग्रसर होने के लिए समुचित गति अपेक्षित है । और यह गति नर और नारी के योग्य समन्वय पर आधारित है । यदि दोनों में एक विकसित हो और एक अविकसित, एक विराट विशाल हो और एक क्षुद्र क्षुद्रतर, एक सशक्त सक्षम हो और एक अशक्त अक्षम, एक योग्य हो और एक अयोग्य हो तो न परिवार समुचित विकास की दिशा में गति कर सकता है, और न समाज । नर-नारी के योग्य समत्व में ही गति की क्षमता है । जहाँ दोनों में वैषम्य-ऊँचा नीचापन है, योग्य विकास का अभाव है, वहाँ परिवार और समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है ।

भारत के प्राचीन इतिहास बिन्दुओं पर दृष्टि जाती है तो हम नर और नारी दोनों को ही विकास के योग्य धरातल पर खड़े देखते हैं । उस युग का जैसे नर महान् है, उच्च पदस्थ है, कर्मक्षेत्र में रत है तो नारी भी उसी प्रकार उच्च एवं विराट कर्म-रथ का एक सुचक्र हैं । दोनों ही अपने निर्धारित लक्ष्य

पथ पर कदम से कदम मिलाए समाज के नवनिर्माण में संलग्न हैं । अपने अपने योग्य दायित्वों को शानदार तरीके से पूरा करते हैं । यह ठीक है कि दोनों का दायित्व बाहर में विभक्त हैं, किन्तु अन्दर में वह अविभक्त है, इस प्रकार वे एक दूसरे के दायित्व के पूरक हैं, साधक हैं, बाधक एवं विघातक नहीं। नर नारी दोनों एक दूसरे पर आश्रित होते हुए भी अनाश्रित हैं अर्थात् स्वतन्त्र हैं । अतएव वे दोनों परस्पर मित्र हैं, सखा हैं, दास और गुलाम नहीं । यही कारण है कि जहाँ पुरातन इतिहास में पुरुषों की प्रशंसा एवं महत्ता के अनेक उल्लेख मिलते हैं वहाँ नारी की महत्ता एवं श्रेष्ठता के भी अनेक दिव्य समुल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं। भारतीय संस्कृति के महान् संविधाता एवं उद्गाता आचार्य मनु ने इसी सन्दर्भ में कहा है ‘ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ’ जिस परिवार तथा समाज में नारियाँ पूजित हैं, सत्कृत हैं, वहाँ देवता क्रीड़ा करते हैं, अर्थात् सृजनशील दैवी शक्तियाँ सानन्द लीला करती हैं । कितना उदात्त संगान है नारी की दिव्यता का । इसी भाव को लक्ष्य में रखकर कभी नारी को ‘देवी’ के सम्बोधन से सम्बोधित किया जाता था। आज भी कुछ प्रसंगों पर यह सम्बोधन प्रचलित है, भले ही वह प्राचीन परम्परा के पालन का एक सभ्यतामूलक अहंमात्र रह गया है ।

भारतीय नारी एक युग में केवल पत्नी ही नहीं धर्म-पत्नी होती थी अर्थात् धर्मसाधना की सहभागिनी । पत्नी शरीर नहीं, इस के ऊपर कुछ और भी थी । राम सीताहरण के समय शरीर की सीता के लिए नहीं रोये थे । शरीर की सीता हजारों मिल सकती थीं, बल्कि सीता से कहीं अधिक सुन्दर, सुरूप भी । रघुवंशी सम्राट अज ने अपनी इन्दुमती पत्नी के लिए ठीक ही कहा था कि इन्दुमती मेरी गृहिणी, घर की स्वामिनी — राज्य शासन में योग्य परामर्श देने वाली मंत्री और प्रिय मित्र है — ‘गृहिणी सचिवः सखी मित्रं’। पत्नी नारी का ही एक रूप है, उसके प्रति भारत में एक दिन यह कितनी उदात्त भावना थी । उस युग में आज जैसी क्षुद्र मनोवृत्ति न थी कि पत्नी पैरों की जूती है । पुरानी की जगह नई पहन लो, टूट जाने पर दूसरी बदल लो ।

पुरुष की आँखों ने अभी तक नारी को केवल बाहर से देखा है । अतः वह उसे काले-गोरे रंगों के रूप में सुन्दर असुन्दर आकृति के आयाम में ही आँक रहा है, यह तो एक क्षुद्र चर्मकार की दृष्टि हुई; जो पशु का मूल्यांकन केवल चर्म के रूप में ही करता है । नारी को बाहर में नहीं, अन्दर देखना होगा ।

नारी के अन्दर में कहीं वात्सल्यपूर्ण मातृत्व छिपा है, तो कहीं विशुद्ध बन्धुता से पूर्ण भगिनीत्व छिपा है। कहीं सुख-दुख के हर क्षण में छाया के समान साथ चलने वाला स्नेह-सिक्त सहचरीत्व (पत्नीत्व) रहा हुआ है तो कहीं माता-पिता का सहज स्नेह लिए भावनामूर्ति पुत्रीत्व प्रतिबिम्बित है। जब तक नारी के इन तथा इन जैसे अन्य अनेक आन्तरिक दिव्य रूपों को नहीं देखा जाएगा तब तक विश्व समाज का आधा अंग अपंग, कुरूप एवं पक्षाघात-पीड़ित ही रहेगा। और आप जानते हैं, इस प्रकार का क्रियाशून्य अर्धशरीर समग्र शरीर को धीरे-धीरे श्मशान घाट की ओर ही ले जाता है।

प्रस्तुत १९७५ का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नारी वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। सौभाग्य से यही वर्ष नारी जाति की गरिमा को चार चाँद लगाने वाले नारी मुक्ति के महान मंत्रदाता श्रमण भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्वाण वर्ष भी जनजीवन में इतिहास का रूप ले रहा है। इधर निर्वाण वर्ष के उत्सवों एवं आयोजनों की चतुर्दिक झनकार है, और उधर नारी वर्ष के उद्घोष भी यत्र तत्र गूँज रहे हैं। मैं समझता हूँ यह अनायास ही एक भव्य संयोग जन जीवन को प्राप्त हुआ है। हमें इस शुभ संयोग का हृदय की तीव्रता के साथ लाभ उठाना चाहिए। भगवान महावीर के नारी मुक्ति सम्बन्धी दिव्य सन्देशों को केवल वाणी का ही नहीं अन्दर में मन का और बाहर में कर्म का रूप भी देना चाहिए। मध्यकाल से नारी निरन्तर अपने मौलिक अधिकारों से वंचित होती आ रही है, देवी से उसने निरीह मूक दासी का रूप ले लिया है। ले लिया क्या है, पुरुष के अज्ञान एवं अहं ने उसे बलात् वह रूप दे दिया है। युग बदल रहा है, युग के स्वर बदल रहे हैं। युग की पुकार है नारी को अपनी वह प्राचीन गरिमा पुनः मिलनी चाहिए। वह पुरुष के पीछे नहीं, आगे भी नहीं ठीक बगल में बराबर के कदमों से चलेगी, हर कर्म में सहचरी बनेगी, तभी मानव जाति के अधूरे स्वप्न पूरे होंगे, मरने के बाद नहीं, जीते जी ही मानव जाति को स्वर्ग का आनन्द मिलेगा।

मई १९७५

महाश्रमण महावीर की उभयमुखी क्रान्ति

तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर के सम्बन्ध में अतीत में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, और वर्तमान में भी बहुत कुछ लिखा जा रहा है । प्रस्तुत २५०० वें निर्वाण पर्व की स्मृति में तो इधर-उधर से इतना अधिक लिखा गया है, कि संभवतः कोई एक पाठक पूरे जीवन में उसे पढ़ पायेगा या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

महावीर का सत्य एकान्त नहीं अनेकान्त

परन्तु एक बात है, जो इस लेखन पर मेरे मन में प्रायः उभरती रही है । वह यह कि महावीर को किसी एकांगी दृष्टि से चित्रित करना महावीर की अखण्ड विराट मूर्ति को एक खण्ड क्षुद्र रूप देना है । महावीर का सत्य एकान्त नहीं, अनेकान्त है क्योंकि महावीर बिन्दु दृष्टि के नहीं, सिन्धु दृष्टि के हैं । उनकी दृष्टि में बिन्दु सिन्धु का एक अंश अवश्य है, पर वह (बिन्दु) सिन्धु होने का दावेदार नहीं हो सकता । अस्तु, स्वयं महावीर को भी इसी व्यापक अनेकान्त दृष्टि से देखना होगा । उनकी विस्तृत जीवनरेखाओं का, उनके व्यापक जीवनदर्शन का रूप जो कुछ मैंने इन दिनों इधर-उधर देखा है, वह अधिकतर एकांगी है । मैं यह मानता हूँ कि महावीर को पूर्णता में उपस्थित करना कठिन है, कठिन क्या, एक प्रकार से असंभव ही है । फिर भी इस दिशा में कुछ कदम तो रखने ही चाहिए थे, यावद् बुद्धि-बलोदयम् के रूप में कुछ तो प्रयत्न होना ही चाहिए था ।

महावीर का अध्यात्मवाद तो अनन्त है

अनेक लेखक महानुभावों ने महावीर के अन्तरंग आध्यात्मिक जीवन पर ही बल दिया है । उनकी दृष्टि में महावीर वीतराग थे, निःस्पृह और निःसंग । उन्हें समाज की गिरती-पड़ती स्थिति से कुछ लेना देना नहीं था । पर

से उनका कोई वास्ता ही नहीं था । ये लेखक भगवान महावीर के अनन्त ज्ञान का, अनन्त दर्शन का, अनन्त चरित्र आदि गुणों का वर्णन शास्त्रीय भाषा में करते हैं । उनकी वीतरागता का, परम पारिणामिक भावरूप परमात्मतत्त्व का निरूपण ऐसा कुछ करते हैं, जैसे कि इन्होंने वस्तुतः उस परम तत्त्व का स्वयं साक्षात्कार कर लिया हो ! यह ठीक है कि उनका यह लेखन असत्य नहीं है । महावीर का अन्तरंग पक्ष ऐसा ही था । महावीर का अध्यात्मभाव तो अनन्त है। शास्त्रकार भी अनन्त के सम्बन्ध में कैसे कोई इति लगा पाते और जब शास्त्रकार ही इति नहीं लगा सके, तो हम तो होते ही कौन हैं? हम उस अनन्त, असीम, अध्यात्मक्षीर-सागर की दो चार बूँदों को ही देख पाए हैं, जान पाए हैं । वह भी शास्त्र की आँख से, अपनी निज की आँख से नहीं । अस्तु, मैं उन अध्यात्मवादी लेखकों पर कटाक्ष नहीं कर रहा हूँ, अपितु उनका आदर ही कर रहा हूँ, चलो कुछ लिखा तो है । मेरी शिकायत तो यह है कि यह सब एकाँगी क्यों लिखा है? कुछ ने तो दूसरे बाह्य पक्ष को बुरी तरह नकारा भी है । मैं कहता हूँ, यह नहीं होना चाहिए था ।

महावीर का मात्र समाज सुधारक रूप भी एक अधूरा चित्र है

दूसरी ओर वे लेखक भी हैं, जो शब्दों के घटाटोप में महावीर को केवल एक समाज सुधारक, समाज के दर्द से पीड़ित, एक महान् क्रान्तिकारी के रूप में उपस्थित करते हैं । उन्होंने समाज के मंगल-कल्याण के लिए राज्य छोड़ा, परिवार छोड़ा, सुख सुविधाएँ छोड़ी, मोह-माया छोड़ी और फिर समाज के शूद्र, पीड़ित एवं दलित वर्ग के लिए यह किया, वह किया । यज्ञ एवं बलिदानों से मूक पशु-पक्षियों के प्राणों की रक्षा की । मानव होते हुए भी मूक पशु के समान निरीह जीवन बिताने वाले दासों का उद्धार किया । मातृजाति को भी पातालमुखी गर्त से उबार कर उसे पुरुषों के समक्ष ऊँचाई पर लाये । उक्त लेखन में महावीर के जनजागरण रूप कर्म का स्वर मुखरित होता है, उनकी करुणा के दिव्य दर्शन होते हैं । मैं इन क्रान्तिवादी लेखकों का हृदय से स्वागत एवं समादर करता हूँ । किन्तु शिकायत मेरी इन से भी है । मैं यह नहीं कहता; कि यह वर्णन असत्य है या अनावश्यक है । मेरी शतप्रतिशत उक्त विधा के लेखन के साथ सहमति होते हुए भी मैं कहता हूँ — 'यह भी महावीर की अधूरी तस्वीर है ।' महावीर यह सब है, पर, इन से परे और गहरे में वे और कुछ भी हैं । सागर की सक्रिय लहरों को जो हम सागर के वक्ष पर नाचते,

उछलते-मचलते, दौड़ते देख रहे हैं, वे ही सागर नहीं हैं । सागर इनके अन्दर गहराई में है, जिसमें से ये उद्वेलित हो रही हैं । महावीर सागर हैं, केवल तरंग नहीं हैं । महावीर क्रान्तिकारी हैं, ठीक है; महावीर समाज सुधारक हैं, ठीक है । आपका यह सब स्वीकार है, क्योंकि वह असत्य नहीं है । परन्तु मेहरबानो ! इससे परे कुछ और भी तो देखो, उसे भी यथा शक्ति चित्रित करो। यदि उस स्वरूप को चित्रित नहीं कर पाये तो महावीर का चित्र अधूरा रह जायेगा । वे केवल इतिहास की एक घटना बनकर रह जायेंगे । शाश्वतता जैसी कोई स्थिति महावीर के पास नहीं रहेगी ।

उभयमुखी जीवन-क्रान्ति के प्रतीक महावीर

महावीर उभयमुखी जीवन-क्रान्ति के प्रतीक हैं । वे अन्दर में परम अनन्त वीतरागी हैं । संसार के सुख-दुःख उन्हें आकुल नहीं कर सकते, राग द्वेष के बड़े-से-बड़े प्रसंग उन्हें विभुब्ध नहीं कर सकते । अतः महावीर वीतराग पहले हैं, और तीर्थंकर बाद में । उन्होंने पहले पाने का प्रयत्न किया और देने का बाद में । पाने वाला ही तो देने वाला बन सकता है । खाली झोली में से भला क्या दिया जा सकता है ? अतः महावीर के अन्तरंग के विकास का, निर्विकारता का, परम वीतराग भाव का निरूपण इतना आवश्यक है, कि हम उसे एक क्षण के लिए भी छोड़कर या उपेक्षित कर एक कदम आगे नहीं चल सकते । यह महावीर शाश्वत एवं सनातन है । जैन दर्शन की भाषा में आदि अनन्त महावीर है । यह महावीर स्वयंभू है, स्वयं में स्वयं संभूत है । यह किसी काल विशेष, देश विशेष, परिस्थिति विशेष या परिवेश विशेष की उपज नहीं है, जिसे हम इतिहास का चश्मा लगाकर अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के अतीत के अन्धकार में तलाशते फिरते हैं, पुरानी पोथियों के पन्ने उलटते-पलटते रहते हैं, पास-पड़ोस के तत्कालीन धर्मों एवं पंथों की गवाहियाँ इकट्ठी करके कागजों के ढेर पर ढेर लगाते जा रहे हैं ।

केवल वीतराग नहीं, तीर्थंकर भी

साथ ही यह भी ध्यान में रखने जैसा है, कि वे केवल वीतराग ही नहीं, तीर्थंकर भी हैं, तीर्थंकर अर्थात् तीर्थ का कर्ता । बाहर में उसकी आँखें बन्द नहीं हैं । वह तत्कालीन धर्म एवं समाज के गले-सड़े नियमों का,

रीतिरिवाजों का, परंपराओं का मूलतः उच्छेदन करता है, यथा काल परिमार्जन एवं परिष्कार करता है, और कुछ सर्वथा नये नीति नियमों की स्थापना भी करता है। वह घरती पर नीति नियमों की एक नई सृष्टि रचनेवाला ब्रह्मा है, उपयोगी एवं जनहितोचित व्यवस्थाओं का संरक्षण करनेवाला विष्णु है, और अन्याय, अत्याचार तथा अनाचार पर आधारित एवं कालातीत होने के कारण निर्जीव एवं निष्प्राण मरणोन्मुख-परंपराओं का ध्वंस करने वाला रुद्र भी है। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में महावीर का अर्थसूत्र ही है—‘उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्तं सत् ।’ जो ध्रुव है, फिर भी नवीन के उत्पाद और पुरातन के विनाश से हर क्षण युक्त है, वही सत् है, अर्थात् सत्य है।

सामयिक तीर्थकरत्व

महावीर का यही सामयिक तीर्थकरत्व है, जो अंग, वंग, कलिंग, मगध, विदेह, कौशल, पांचाल, सौवीर, सिन्धु, कुरुजनपद आदि देशों में दूर-सुदूर तीस वर्ष तक हजारों भिक्षु और भिक्षुणियों को साथ लिए घूमता है, धर्म के नाम पर विहित यज्ञ-याज्ञादि की हिंसा का विरोध करता है, शूद्रों एवं नारियों के लोये हुए आत्म विश्वास को जगाता है, और घोषणा करता है—‘एगे आया।’ अर्थात् विश्व की सब आत्माएँ एक हैं, एक स्वरूप हैं। ब्राह्मण हो, या शूद्र हो, अर्म हो या अनार्य हो, स्वदेशी हो या परदेशी हो, स्त्री हो या पुरुष हो, सब आत्माएँ बिना किसी भेदभाव के अपना आध्यात्मिक एवं सामाजिक विकास कर सकते हैं। समग्र मानवजाति एक है ‘एगा मणुस्सजाई।’

अन्दर से अक्रिय तो बाहर से सक्रिय

महावीर अन्दर में अक्रिय हैं, तो बाहर में सक्रिय हैं। अन्दर में पूर्ण अकर्ता गीतराग हैं, तो बाहर में इतने तूफानी कर्ता कि कुछ पूछो मत। अन्दर में नित्पि नारायण हैं, किसी से कुछ लेना देना नहीं है उन्हें, किन्तु बाहर में इतने अधिक कर्मलिप्त हैं कि विश्वमंगल की नव योजनाओं को दिन-रात स्थापित करने में लगे हैं। अनेक बार सत्कर्म करने वालों को, प्रशंसा से उत्साहित करते हैं तो अनेक बार पथभ्रष्ट लोगों की सार्वजनिक प्रताड़ना भी करते हैं, फिर भी अन्दर में एक रस हैं, एक रूप हैं, निन्दास्तुति से परे। निर्वाण के समय दो दिन का उपवास होते हुए भी उन्होंने लगातार सोलह प्रहर तक दिव्य वाणी की धाराप्रवाहित की है। इतना महान् कर्मयोगी दूसरा कौन मिलेगा।

विरोधाभास भी महावीरत्व

अनेक प्रसंग ऐसे हैं, उनकी कथनी और करनी में विरोधाभास मिलता है । एक ओर कहते रहे, पानी की एक बूँद में असंख्यात प्राणी हैं, दूसरी ओर गंगा जैसी महानदियों को उत्तर से दक्षिण में और दक्षिण से उत्तर में हजारों भिक्षुभिक्षुणियों के साथ पार करते रहे हैं । एक ओर तिलतुष मात्र परिग्रह से भी इन्कार, सर्वथा नग्न निरावरण तन है । तो दूसरी ओर स्वर्ण सिंहासन पर बैठे हैं, शिर पर तीन-तीन छत्र हैं, चामर दुल रहे हैं हजारों पताकाएँ फहरा रही हैं, दुन्दुभि बज रही हैं, पुष्प वृष्टि हो रही है । कितना अद्भुत विरोधाभास से भरा जीवन है महावीर का । मैं कहता हूँ, यह विरोधाभास न हो तो वह महावीर कैसा, तीर्थंकर कैसा ? आज के कुछ संप्रदायवादी पंडित कुछ आचारी शब्दों को तोड़ मरोड़ कर, ठोक पीटकर उक्त विरोधाभास को मिताने में लगे हैं, और इसके लिए इतना असत्य का ढेर लगाया जा रहा है कि उसके नीचे महावीर का वास्तविक स्वरूप ही घनाच्छन्न हो रहा है । पर, उन्हें क्या पता कि यह विरोधाभास है, विरोध नहीं । विरोध जैसा झलकता है ऊपर में, किन्तु अन्दर में कहीं कोई विरोध नहीं है । व्यर्थ ही सम्प्रदायों के कुचक्र चल रहे हैं, और महावीर को अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मतान्ध मान्यताओं के अनुरूप वित्रित किया जा रहा है । यह सब भ्रष्टाचार है, क्यों कि जनता के समक्ष महावीर को महावीर के रूप में नहीं, अपितु अपने मतकल्पित रूपों में दिखाया जा रहा है । परन्तु आज की प्रबुद्ध जनता को कब तक भुलावे में रखा जा सकता है ?

महावीर चतुर्मुखी

आज जो जैनधर्म निष्क्रिय है, पिछड़ा हुआ है, उस का कारण महावीर का आदर्श नहीं है । अपितु वह मिथ्या आदर्श है, जो मध्यकाल में मतान्ध संप्रदायों ने निर्धारित किया है । महावीर चतुर्मुखी ब्रह्मा हैं, स्वयं जैनों की ही समवसरण में स्थित महावीर के सम्बन्ध में यह मान्यता है । आज भी अनेक चौमुखी पुरानी प्रतिमाएँ मिलती हैं, जो उस रूप की साक्षी हैं । इस रूप का अर्थ है, महावीर की दृष्टि चतुर्दिक् है ।

समन्वयवाद में ही जनमंगल के बीज

सागर अन्दर में बहुत गहराई में शान्त है, निश्चल है, निस्तरंग है,

किन्तु ऊपर में लाखों लाख तरंगों जिघर देखो उघर ही उछलती हैं, नाचती हैं । सागर अन्दर में मौन है, किन्तु बाहर में दिन-रात अविराम गर्जता रहता है । वृक्ष अन्दर में जड़ों के रूप में स्थिर है, निश्चेष्ट है, किन्तु बाहर में पवन के झकोरों के साथ शाखाएँ झूम रही हैं, पत्ते खड़खड़ा रहे हैं, लगता है वृक्ष नाच रहा है, शाखाओं के सैकड़ों हाथ फैलाए । महावीर की स्थिति यही दुहरी स्थिति है । वह वीतराग हैं इसलिए अकर्ता हैं, और तीर्थंकर हैं इसलिए कर्ता हैं । महावीर का यह उभयमुखी आदर्श अपनाने की आज महती आवश्यकता है, आज के कुछ समाज और राष्ट्र धर्म के नाम पर सर्वथा निष्क्रिय होते जा रहे हैं । दूसरी ओर विज्ञान तथा क्रान्ति के नाम पर अनर्गल अंधा तूफान चल रहा है, जिसमें मानवता की जड़ें ही उखड़ी जा रही हैं । आवश्यकता है धर्म और विज्ञान के, अध्यात्म और क्रान्ति के यथोचित समन्वय की, महावीर के इस समन्वयवाद में ही जनमंगल के बीज छिपे हैं । उन्हें अंकुरित करने की अपेक्षा है। समय की पुकार है, उन्हें जल्दी से जल्दी अंकुरित किया जाए ।

जून १९७५

परिवर्तन अनिवार्य है

आज का युग परिवर्तन का युग है । परिवर्तन आ कर धक्का दे रहा है, द्वार खटखटा रहा है, परन्तु पुरानी पीढ़ी दरवाजा खोलकर उसका हर्ष मुद्रा में स्वागत करने की अपेक्षा, द्वार बन्द किये अन्दर बैठी है । अन्दर भी चुपचाप न बैठकर उसे गालियाँ पर गालियाँ दिये जा रही है । याद रखिये इससे कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है । यदि हम स्वयं प्रबुद्ध विचारों के साथ इस परिवर्तन के स्वागत के लिये स्वतः तैयार नहीं हुए तो परिवर्तन स्वतः आएगा और बलपूर्वक आएगा । क्योंकि परिवर्तन अनिवार्य है । किन्तु यदि ऐसा हुआ तो हम प्रभाव हीन हो जायेंगे । अतएव यदि हम युग को बदलना चाहते हैं तो अपने को बदलें, यदि हम अपने को बदलना चाहते हैं तो युग परिवर्तन के साथ चलें । आज युग परिवर्तन के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलने वाले ही सिद्धि और सफलता प्राप्त कर सकते हैं ।

विकट समस्याएँ

आज के युग की समस्याएँ बड़ी विकट हैं । विशेषतया आज भारतीय समाज के समक्ष गरीबी, अशिक्षा, बेकारी, बेरोजगारी, सामाजिक ऊँच-नीचता, साम्प्रदायिकता, गलत मान्यताएँ, नाना कुप्रथाएँ, कुण्ठाएँ, रूढ़ियाँ और नाना भाँति के अन्धविश्वास जैसी बड़ी-बड़ी विकट समस्याएँ, सुरसा की भाँति मुँह फैलाये हुए निगलने को तैयार हैं । जरा चूके कि सब कुछ समाप्त । भारतीय समाज एवं धर्म को ऐसी भयावह स्थिति से बचाने के लिए हमें समाज और तथा कथित धर्म में बहुत कुछ परिवर्तन एवं संशोधन लाना होगा । तभी हम आज के इस विज्ञान और टेक्नोलॉजी के युग में अपने आपको सुरक्षित रख सकेंगे, तभी पनप और फल-फूल सकेंगे ।

पुनर्मूल्यांकन

सम्पूर्ण मानव जाति ने अब तक जो सांस्कृतिक विकास किया है,
(५०)

आध्यात्मिक धार्मिक एवं सामाजिक उन्नति प्राप्त की है, उसे स्पष्ट रूप से समझे बिना तथा उसका पुनर्मूल्यांकन किये बिना कोई गति नहीं है । आज के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में नूतन संस्कृति का निर्माण और पुरातन मान्यताओं का संशोधन किए बिना कथमपि चारा नहीं चलेगा ।

नवीन एवं पुरातन का संगम

गंगा का प्रवाह बहता चला आ रहा है, बहता चला आ रहा है । उसमें जहाँ तहाँ स्थान-स्थान पर नये-नये नदी-नद और नाले आ-आकर मिलते रहते हैं तो गंगा का प्रवाह विराट और विशाल रूप में प्रवहमान रहता है, उसकी पावनता उसी प्रकार बनी रहती है । अन्यथा नये नदी, नद और नालों के मिलन के अभाव में स्वयं गंगा का प्रवाह भी स्वल्प सा शून्य सा होकर सूख सकता है और रेगिस्तान के रूप में बूँद-बूँद सूख सकता है ।

इसी प्रकार वृक्ष का मूल तना और प्रमुख-प्रमुख शाखाएँ यथावत् रहने पर भी उसके पत्र, पुष्प और फल ऋतु के अनुसार बदलते रहते हैं । पुराने झड़ते रहते हैं और नये आते रहते हैं । नवीन और पुरातन के इसी संगम से वृक्ष की शोभा है । इस परिवर्तन प्रक्रिया के अभाव में वृक्ष स्वयं सूखकर मात्र ढूँठ बन कर रह जाता है ।

कुण्ठाग्रस्त युवा पीढ़ी

लेकिन आज की युवा पीढ़ी तो कुण्ठाग्रस्त है, क्षुब्ध है और उसका आक्रोश सब कुछ विनाश एवं विध्वंस करने पर उतारू है । इसी का कुपरिणाम है कि आज की युवा पीढ़ी की अधिकांश शक्ति रचनात्मक कार्यों की अपेक्षा तोड़-फोड़ और विध्वंसात्मक कार्यों में अधिक व्यक्त हो रही है । इसीलिये परम आवश्यकता है आज की युवा पीढ़ी को उचित निर्देश एवं दिशा बोध देने की, उसे उचित कार्यों एवं युग परिवर्तन में लगाने की । यदि ऐसा हो सका तब तो समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण, उत्थान और पुनर्निर्माण हो सकेगा । अन्यथा सब कुछ अन्ध रसातल में चला जायेगा । इसीलिये देश के पुनर्निर्माण और देश की प्रगति में आज की युवा पीढ़ी को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है ।

जोश को होश देकर चलना होगा

आधुनिकता के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ आज पुरातन और जर्जर मूल्य टूट रहे हैं, बिखर रहे हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण मोड़ आ रहा है। यह परिवर्तन का आरम्भ है। युवा वर्ग नये मूल्यों के प्रति आस्थावान है, यह बहुत अच्छी बात है। युवा वर्ग में तूफानी वेग से बढ़ने की सहज प्रवृत्ति होती ही है। महत्वाकांक्षाएँ और स्वर्णिम स्वप्न, यह तो उम्र का तकाजा है। आज दायित्वहीन, विवेकहीन और सिरफिरा कह कर युवा वर्ग की आलोचना नहीं की जा सकती। टीका टिप्पणी से समस्या की डोर सुलझेगी नहीं अपितु वह तो और भी अधिक उलझेगी। समस्या को यदि सहज ढंग से सुलझाना है तो पुरातन वृद्धवर्ग को नूतन युवापीढ़ी को साथ लेकर और उनके तूफानी जोश को अपने मूल्यवान अनुभवों का होश देकर चलना होगा।

नए सत्य का दर्शन

समाज और देश में चले आ रहे अन्धविश्वासों, कुरुद्वियों और समाजविरोधी तत्त्वों को देख-देख कर आज की युवा पीढ़ी में विद्रोह क्यों न हो! नीचे यदि भयंकर आग जलती हो, ज्वालाएँ उठ रही हों तो ऊपर रखा हुआ दूध कब तक शान्त रहेगा? वह तो उफनेगा ही और बड़े जोरों से उफनेगा। उसके उफान और तूफान को कोई रोक नहीं सकता।

आज की युवा पीढ़ी न तो भूत को देखती है और न भविष्य को। वह तो हर वर्तमान के साथ है। भूत का रोना रोने अथवा भविष्य की स्वर्णिम कल्पनाएँ करने से तो वर्तमान सुधरेगा नहीं। उसे सुधारना है तो वर्तमान में ही भूत एवं भविष्य दोनों को साकार करना होगा।

पुराने लोग पुरातन सत्य का मीठा मोह और झूठा भ्रम पाले हुए हैं। उन्हें इसका युगानुसारी पुनर्मूल्यांकन करना ही होगा। उन्हें यह मीठा मोह छोड़ कर तथा झूठा भ्रम तोड़ कर नये सत्य का दर्शन और स्वागत करना ही होगा।

संस्कार और परिष्कार

अत्याधुनिकतावादी कुछ लोग कहते हैं कि हमें तो सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, और नैतिक धरातल पर पुनर्निर्माण और पुनर्रचना करनी

है। तभी हम सुरक्षित रह सकेंगे। सब कुछ मिटा कर सर्वथा नव रचना और नव निर्माण होना चाहिए। ऐसा कहना भी निरी मूर्खता है। नव रचना एवं नव निर्माण तो पूर्णविध्वंस के पश्चात ही हुआ करता है। बुरे के साथ अच्छे का विध्वंस तो कोई बुद्धिमत्ता पूर्ण कार्य नहीं होगा। इसलिए हमें पुनर्निर्माण और पुनर्रचना की नहीं, संस्कार एवं परिष्कार की आवश्यकता है। हमें तो पुरातन का परिष्कार करते हुए उसमें नूतन का संस्कार करना है। हमें पुरातन को नूतन से और नूतन को पुरातन से सजाना है। पुरातन में जो श्रेष्ठ है, सत्य है, उसे स्वीकार करके शेष का नव संस्कार नव निर्माण करना ही वर्तमान युगबोध और स्वस्थ एवं सही परिवर्तन है।

महावीर शताब्दी के सन्दर्भ में

भगवान महावीर ने भी तो अपने युग में यही सब कुछ किया था। उन्होंने अपनी धर्म संस्थापना के समय परिष्कार संस्कार आदि बहुत कुछ किया था। तभी तो जैन धर्म आज तक उसी प्रकार स्थिर और शाश्वत रह सका है, अन्यथा कभी का समाप्त हो गया होता। भगवान महावीर ने पहले से चले आ रहे धर्म को, पार्श्वपरम्परा को ज्यों का त्यों ऐसे ही स्वीकार नहीं कर लिया। उन्होंने उसमें युगानुकूल अनेकानेक संस्कार और परिष्कार किए, बहुत कुछ परिवर्तन और संशोधन किए, तब जाकर उसका बिल्कुल नया शाश्वत रूप स्वीकार किया।

आज समय की पुकार और युग की माँग है कि महावीर निर्वाण की इस पच्चीसवीं शताब्दी के संदर्भ में हम परिवर्तन की इन नई दिशाओं, नई आहटों और नई सम्भावनाओं को देखें, सुनें और चिन्तन की गहरी दृष्टि से उनका पुनर्मूल्यांकन करते हुए आचरण के क्षेत्र में ले आयें।

आँखें खोलकर देखो, परखो,
करो न बन्द बुद्धि के द्वार।

छिन्न-भिन्न कर दो तमसावृत
रूढ़िवाद का कारागार ॥

जुलाई १९७५

(५३)

शब्द नहीं, कर्म

आज के इन्सान की जीभ इतनी अधिक लम्बी हो गई है कि कुछ पूछो नहीं । और यह लम्बाई निरन्तर बढ़ती ही जा रही है । कहाँ है इसकी सीमा-रेखा ? कुछ पता ही नहीं है किसी को !

आदिकाल से पशुओं की जीभ लम्बी रही है । कुत्तों की जीभ बाहर में लपलपाती रहती है । और भी अनेक पशु हैं, जिनकी जीभ बाहर में लपकती रहती है, उसमें से लार टपकती रहती है । परन्तु पशुओं की इस लम्बी जीभ से कुछ खतरा नहीं है । वह मूक है । यदि कभी वह लम्बी जीभ मुखर होती भी है तो कुछ भौंक लेती है, कुछ रेंक लेती है, और बस ।

किन्तु इन्सान की जीभ जब से लम्बी हुई है, घरती की शान्ति चौपट हो गई है । लम्बी जीभ वाले परिवार में हैं तो परिवार को, समाज में हैं तो समाज को और राष्ट्र में हैं तो राष्ट्र को नरक बनाए हुए हैं । महाकाली की तरह लम्बी जीभ लपलपाते हुए रक्तपिपासु जीव कब, क्या नया तूफान खड़ा कर देंगे, महाभारत का दृश्य उपस्थित कर देंगे, कुछ पता नहीं ।

एक युग था कभी, जब आदमी बोलने से पहले हिताहित सोचता था, और बाद में बोलता था । हिताहित की यथोचित छँटी करने के बाद जो जनहित में होता उसी की अभिव्यक्ति जिह्वा से होती थी, वह भी संक्षेप में, सूत्ररूप में । वाक्पात को वीर्यपात से भी अधिक हानिकर समझा जाता था । उनका वह सूत्र था — “वाक्पातो हि वीर्यपाताद् गरीयान् । ”

एक युग वह भी था कभी, जब आदमी पहले तो नहीं सोच पाता था । बोलने का क्या परिणाम होगा ? पहले तो नहीं देख पाता था, परन्तु बोलने के बाद अवश्य कुछ सोचता था कि यह तो ठीक नहीं बोला गया । यह नहीं कहना

(५४)

चाहिए था । यदि इस बात को इस तरह बदलकर कहता तो अच्छा होता । गलत या गलतदंग से बात कहने पर उसे पछतावा होता था ! कमान से तीर छूटने के बाद अब क्या हेरफेर हो सकता है, यह सत्य है, फिर भी यदि कुछ समझ आ जाए, गलती को गलती के रूप में महसूस कर ले, तो ठीक ही है । देर से ही सही, जगा तो । देर तो हुई, किन्तु आखिर तक अंधेर तो नहीं हुआ । प्रकाश की किरण फूटी तो सही ।

परन्तु आज के युग के सम्बन्ध में क्या कहूँ आज का आदमी तो न बोलने से पहले कुछ सोचता है और न बोलने के बाद । मुझे तो लगता है, आज का आदमी बोलता नहीं है, इन्सान की बोली में भौंकता है या रेंकता है । क्या ही अच्छा होता, यह भौंकना या रेंकना जानवर की बोली में होता ।

वाणी का अपव्यय या दुर्व्यय जितना आज हो रहा है, मुझे तो नहीं लगता कि ज्ञात इतिहास के पृष्ठों पर अतीत में कभी इतना हुआ हो । मनुष्य की जिह्वा पर सरस्वती का निवास बताया था कभी भारत के मनीषी पूर्वजों ने— 'जिह्वाग्रे च सरस्वती।' सरस्वती ज्ञान की पवित्र देवी है । खेद है, बोलने के नामपर अनर्गल प्रलाप करने वाले लोग सरस्वती का कितना प्रचण्ड अपमान कर रहे हैं । वाणी की देवी सरस्वती के सम्मान में लिखा गया वह सूत्र आज कहाँ रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया है, जिसमें लिखा था कि मनुष्य को मौन रहना चाहिए । अतीव आवश्यक स्थिति में बोलना ही हो तो सत्य बोलना चाहिए । और वह सत्य भी हित हो, साथ ही मित भी । हित का अर्थ है जनकल्याण और मित का अर्थ है अल्प से अल्प शब्दों में । जनहित के नाम पर आये दिन घंटों-पहरों बेलगाम उपदेश झाड़ना भारत की प्राचीन संस्कृति को अभीष्ट नहीं है । भारत के पुराने गुरुओं का तो कहना है 'मनुष्य का पवित्र एवं उच्च जीवन ही उसकी वाणी होना चाहिए । उसे जैसे कोई देखे और बस तत्काल तदनुसार कर्म में लग जाए वह दर्शक मनुष्य ।' यह है जीवन ही वाणी होने का अर्थ । इसीलिए हमारे यहाँ देव, गुरु के रूप में महापुरुषों के दर्शन करने की धर्म परम्परा है । प्रथम दर्शन है । दर्शन से ही समाधान हो जाना चाहिए । "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु चिन्तनसंशयाः।" सधन आवरण से आवृत्त चेतना वाले का यदि कुछ समाधान न हो, तो दर्शन के अनन्तर श्रवण का नम्बर आता है । हमारी संस्कृति कर्म की संस्कृति है । यहाँ का सज्जन कहा जानेवाला किसी के अभीष्ट हित के प्रश्न का उत्तर वाणी से नहीं हित संपादन के

रूप में ही देता था । इसी संदर्भ में महाकवि कालिदास ने कभी कहा था —

“ प्रत्युक्तं हि प्रणमिषु सतामीप्सितार्थं क्रियैव।”

अपने स्नेही जनों की इच्छित कामना का पूरा किया जाना ही सज्जनों का उत्तर होता है ।

हृदय वेदना से भर जाता है कि आज ये सब बातें कहाँ हवा हो गई । आज कर्म पर नहीं, वाणी पर बल दिया जाता है । भगवान् महावीर के शब्दों में आज का आदमी खाली गर्जने वाला मेघ है, वर्षने वाला नहीं । श्रेष्ठ मेघ वह है जो गरजता नहीं, बरसता है । मध्यममेघ भी अच्छा है जो जोर से गरजता है तो जोर से बरसता भी है । पर आज समस्या तो उन मेघों की है, जो गरज-गरज कर कानों को बहरा बनाते जा रहे हैं, किन्तु निदाघ से तप्त प्यासी घरती के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं टपकाते ।

आज के राजनीतिक एवं धार्मिक आन्दोलन एक भीषण वात्याचक्र में उलझ गए हैं । आज के कुछ धर्मगुरु, तो गुरु नहीं, सीधे भगवान ही बन गए हैं। और देशों का मुझे पता नहीं, भारत में तो भगवानों की भीड़ लग गई है । ये भगवान प्रवचन मंच पर से चीखते चिल्लाते आये दिन घोषणा करते हैं कि हम विश्व का कल्याण करेंगे । राज्यशासन से कुछ नहीं होगा । वह भौतिक है। अधर्म पर आधारित है । विज्ञान भी सर्वनाश का हेतु है । किसी से कुछ नहीं होगा । हम धर्म गुरु ही विश्व का कल्याण कर सकते हैं । हमारे मन में विश्व में फैलती जा रही हिंसा का, अनीति का असह्य दर्द है । और इस दर्द से कराहते हुए कुछ भगवान् तो विश्व कल्याण की घोर गर्जना के स्वर में विदेशों को भागे जा रहे हैं । भारत में उनकी नाक के नीचे कितने जघन्य अपराध हो रहे हैं । कितनी हत्या, लूटमार, शराबखोरी, व्यभिचार, तोड़फोड़, विग्रह, साम्प्रदायिक संघर्ष आदि की आये दिन हजारों पटनाएँ हो रही हैं । ये सब हमारे पापाचार हमारे विश्वोद्धारक भगवानों को नहीं दिखाई देते, उन्हें दिखाई देते हैं, हजारों हजार मील दूर जापान, फ्रान्स, इंग्लैण्ड और अमरीका आदि के पापाचार। लगता है इन भगवानों की दूर की नजर तो ठीक है, पास की नजर ठीक नहीं है। दो-चार रटेरटाए घिसेपिटे लच्छेदार भाषणों से विश्व की कायापलट कर देने के स्वप्न देखनेवाले ये मसीहा जरा अपने गिरेबान में नजर डालकर देख लेते तो

अच्छा होता कि आपके द्वारा यहाँ कितना जन-कल्याण हुआ है, जनता की कितनी क्रायापलट हुई है। लोकोक्ति है — 'अपनी आँख का शहतीर दिखाई नहीं देता, दूसरों की आँख का तिनका अंधेरे में भी दिखाई देता है।'

आत्म विकृत्यन का भयंकर रोग लगा है हमारी वाणी को। रात दिन 'अहं-अहं' का स्वर गूँजता रहता है। 'मैं' के दर्द ने आज मानव की सहज विनम्र चेतना को मार कर ढेर कर दिया है। आज किसे पड़ी है समाज की, देश और धर्म की। बस, एक 'मैं' की पड़ी है, जिसके फलस्वरूप मानव पागल कुत्ते की तरह दिशाहीन दौड़ रहा है। महर्षि व्यास ने आत्म प्रशंसा को, भले ही वह प्रशंसा सत्य ही क्यों न हो, आत्महत्या के समान कहा है। यह ठीक है कि अपने स्व को गरिमा देने की मनुष्य के मन की एक चिरन्तन भूख है। मुझे इस पर खास आपत्ति भी नहीं है। मेरी आपत्ति है इस भूख की अनर्गलता पर। 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने की भी तो कोई सीमा होनी चाहिए न ?

राजनीति का क्षेत्र भी आज वाणी के द्वारा इतना गंदा हो रहा है, कि कुछ पूछो नहीं। जिधर देखो उधर नेताओं की और पार्टियों की बाढ आई हुई है। मन में नहीं, वाणी में देशोद्धार का, भारतीय संस्कृति का लोकतंत्र का और न मालूम किस-किस का क्या-क्या दर्द है कि चारों ओर शोर मच रहा है चीखने चिल्लाने का। कभी-कभी अखबारों की सुर्खियाँ पढ़ लेता हूँ तो अन्तर्मन ग्लानि से भर जाता है कि कुछ पूछो नहीं। इतने झूठे, बेबुनियाद आरोप राष्ट्र के ऊँचे आसनों पर लगाए जाते हैं कि साधारण जनता विभ्रम में पड़ जाती है। एक जबांदाराज नेता अपने लगे बंधे पिट्ठुओं में यों ही कोई एक अफवाह छोड़ देता है और पिट्ठू वेद-मंत्र की तरह सस्वर पाठ करते हुए उसे ले दौड़ते हैं जनता में। इस तरह अच्छे-से-अच्छे जन-नायकों की तस्वीरों को गंदा किया जा रहा है, उनके व्यक्तित्व की भव्य प्रतिमाओं को तोड़ा जा रहा है। और सब भ्रष्टाचारी हैं, देश को बर्बाद करने वाले हैं, यदि कोई दूध के धुले सदाचारी हैं, तो बस, हम दो और हमारे दो। जन-कल्याण के नाम पर, भ्रष्टाचार मिटाने के नाम पर उत्तेजनात्मक भाषण होते हैं, मर्यादाहीन नारे लगते हैं, और फिर शुरु हो जाता है— तोड़फोड़, ढेले-पत्थर, आगजनी, हत्या और लूटमार का सिलसिला। और फिर चलने लगती हैं, लाठियाँ और गोलियाँ। जनता में से कुछ अनजान निरपराध मर जाते हैं और नेता शानदार होटलों में या अपने पार्टी भवनों में आनन्द से गर्म चाय एवं कॉफी की चुस्कियाँ लेते हैं, भविष्य में इससे

भी अधिक भीषण उत्तेजनात्मक योजनाओं को मूर्तरूप देने की परिकल्पनाओं के व्यामोह में ।

चाहे धर्मगुरु हों, चाहे राजनीतिक नेता हों, जनकल्याण भाषणों की भीषण गर्जनाओं और अनर्गल नारों से नहीं होगा । वह होगा, जनकल्याण का रचनात्मक मार्ग अपनाने से । ध्वंस के उपक्रमों से सृजन नहीं, ध्वंस ही होता है। जनता में जाइए, चुपचाप मौन भाव से पीड़ित जनता की जो बन सके, सेवा कीजिए । फूल में सुगन्ध होगी, तो भ्रमरों की टोलियाँ अपने आप आकर गुनगुनाने लगेंगी ।

हूजूमे बुलबुल हुआ चमन में किया जो गुल ने जमाल पैदा ।
कमी नहीं कद्रदाँ की ' अकबर', करे तो कोई कमाल पैदा ॥

अगस्त १९७५

अन्तर् में शुभ भावना के बीज बोते रहिए

क्रिया का मूल : भावना

बाहर में परिलक्षित होने वाली प्रत्येक क्रिया का मूल भावना में है । शरीर और वाणी की क्रियाएँ, चेष्टाएँ अपने आप में न शुभ हैं, न अशुभ हैं । क्योंकि शरीर और वाणी जड़ हैं । जड़ की क्रिया जड़ ही रहती है, सचेतन नहीं। अतः ये क्रियाएँ बन्ध की हेतु नहीं होतीं । बन्ध के लिए इनके मूल में होने वाली शुभ या अशुभ कोई-न-कोई भावना अपेक्षित है । भावना, वृत्ति, परिणति, परिणाम एवं अध्यवसाय सब एक ही अर्थ के द्योतक हैं । हम यहाँ स्पष्टता के लिए ' भावना ' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं ।

अशुभ और शुभ भावना

व्यक्ति के अन्तर्मन में भावना सुप्त पड़ी रहती है । अनेकानेक जन्मों से उसका निर्माण होता आता है । व्यक्ति की चेतना ने कभी कोई गलत दिशा पकड़ ली तो वह काफी दूर तक अशुभ के रूप में प्रवाहित होती चली जाती है । और यह अशुभ भावना मानवता का अधःपतन कर देती है । किन्तु चेतना जब कभी सही दिशा पकड़ लेती है, तो वह काफी दूर तक जन्म जन्मान्तरों तक शुभ भावना के रूप में प्रवहमान होती रहती है । यह शुभ भावना मानवता का उत्थान, विकास एवं ऊर्ध्वमुखीकरण कर देती है । मानव ही क्या, प्रत्येक प्राणी का उत्थान तथा पतन, विकास तथा न्हास उसकी अपनी अन्दर में तरंगित होने वाली शुभ या अशुभ भावनाओं पर अवलंबित है ।

दो प्रतीक

चेतना की शुभाशुभ भावनाओं से निर्मित होने वाले दो जगत्प्रसिद्ध
(५९)

शुभाशुभ व्यक्तित्व राम और रावण हैं, ये केवल इतिहास के दो व्यक्ति ही नहीं, अपितु शुभाशुभ रूप शाश्वत सत्य के दो प्रतीक हैं । एक प्रकाश है तो दूसरा अन्धकार, एक देवत्व की ज्योति है, तो दूसरा दानवता की प्रतिमूर्ति है । राम और रावण का निर्माण केवल एक जन्म की, उसी जन्म की प्रक्रिया नहीं है। रामत्व और रावणत्व के निर्माण की आधारभूमि, जो चिर अतीत से बनती आ रही थी, वह थी उनकी भावना, जिसे दर्शन की भाषा में संस्कार कह सकते हैं ।

दुर्भावना , विषवृक्ष अथवा जलता हुआ स्फुलिंग

व्यक्ति की चेतना कब, कैसे और क्या रूप ले ले, कौन सी दिशा पकड़ ले, इस सम्बन्ध में बहुत सजग रहने की अपेक्षा है । जब भी कोई गलत भाव मन में उभरे, तत्काल उसे बाहर निकाल फेंकना चाहिए । बात अपने में कितनी ही छोटी क्यों न हो, उसकी उपेक्षा निषिद्ध है । “अरे इसमें क्या है? कोई बात नहीं, मामूली सा प्रश्न है ! यों ही जरा मन इधर उधर खिसक गया है ” – कितनी ही बार ऐसी ही कुछ शब्दावली का प्रयोग कर व्यक्ति झूठा आत्म सन्तोष पा लेता है, अपना क्षणिक समाधान कर लेता है । परन्तु भविष्य में इसका कितना भयंकर परिणाम आता है ? इस ओर गंभीरता के साथ लक्ष्य नहीं दिया जाता । विषवृक्ष का नन्हासा अंकुर भी उपेक्षणीय नहीं है, देखा जायेगा, करते करते एक दिन वह विराट वृक्ष बन सकता है । आग की नन्ही सी चिनगारी कभी अचानक हवा का झोंका पाकर दावानल बन सकती है । दावानल बनी कि फिर काबू से बाहर । पहाड़ों पर बन में आग लगी देखी है । गर्मी के दिनों में बांसों के परस्पर घर्षण से एक स्फुलिंग चमका और आग फैलनी शुरू हो गयी । फिर तो वन महीनों ही जलता रहता है । यही स्थिति अशुभ भावना की है । काम, क्रोध, मद, लोभ, घृणा, द्वेष आदि की साधारण सी घटना से ही कभी कभी दुर्भावना का वह स्फुलिंग प्रज्वलित हो जाता है, जो भविष्य में फैल कर दूर दूर तक परिवार, समाज एवं राष्ट्र आदि को ध्वस्त-विध्वस्त करता चला जाता है। रामायण काल की महारानी कैकेयी के मन में पुत्रमोह के कारण एक क्षुद्र स्वार्थ की वृत्ति पैदा हुई, और उसने अयोध्या के महान रघुवंश का चित्र ही बदल कर रख दिया । रावण के मन में सीता के लिए वासना का एक ऐसा विष-अंकुर पैदा हुआ कि उसने महान राक्षस जाति को मिट्टी में मिला दिया । द्रौपदी के द्वारा अज्ञानवश मजाक में कहा हुआ वह एक दो शब्दों का दुर्वचन ही था, जिसने दुर्योधन के मन को घायल कर दिया । परिणाम क्या हुआ ?

महाभारत का इतिहास आज भी उसका साक्षी है, इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था — “ हर आचरण से पूर्व विवेक-विचार आवश्यक है ।” अस्तु, हर क्षण सजग रहिए । वर्तमान में साधारण-सी दिखने वाली दुर्भावना ही भविष्य में न जाने कब भयंकर रूप ले ले, सर्वनाश का कारण बन जाए ।

सद्भावना बनाम सत्कर्म का अनुमोदन

शुभ भावना की भी यही स्थिति है । अपने मन को शुभ भावना से निरन्तर भावित रखिए । मन को निरन्तर कोई-न-कोई शुभ संकल्प देते रहिए। सत्कर्म स्वयं करने का विचार कीजिए, यथा प्रसंग दूसरों से कराने का भी भाव रखिए । और यदि करने-कराने जैसी स्थिति न हो तो, महावीर कहते हैं, दूसरों को सत्कर्म करते देख या सुनकर उसका अनुमोदन ही कीजिए, उसके लिए सरल हृदय से प्रसन्नता ही अनुभव कीजिए । महान है वह व्यक्ति जिसके मन में सत्कर्म का कोई शुभ संकल्प उत्पन्न हुआ है, उससे भी महान है वह, जो अपने संकल्प को दीर्घायु बनाता है, उसे कर्म का रूप देता है और वह उससे भी महान है, जो स्वयं सत्कर्म करता है, साथ ही दूसरों से कराता भी है । अन्यथा कुछ लोग होते हैं, जो स्वयं तो सेवादि कार्यों के लिए दानादि कर लेते हैं । परन्तु जब उनसे कहा जाता है कि जरा साथ चलिए, दूसरे साथियों को भी प्रेरणा दीजिए, ताकि हमारी आवश्यकता की ठीक-ठीक पूर्ति हो जाए, तो शट इनकार कर देते हैं कि “ना भाई, हम से यह नहीं होगा, हमें तो जो करना था, कर दिया, हम दूसरों के पास नहीं जाएँगे ।” उन्हें यह पता नहीं कि वे इस तरह इनकार करके शुभ की पुण्य की विशाल होती धारा को अवरुद्ध कर रहे हैं, प्राप्त पुण्य को भी क्षीण कर रहे हैं, उसे मलिन बना रहे हैं ।

करने से कराना मुश्किल

लोग कहते हैं कराना सहज है, करना मुश्किल है । मैं कहता हूँ सत्कर्म के क्षेत्र में यदि सही जायजा लिया जाए तो करना सहज है, कराना मुश्किल है । कराने के लिए दूसरों को प्रेरणा देने में, उन्हें उत्साहित करने में एक प्रकार से उनके व्यक्तित्व को उभारा जाता है, उल्लसित किया जाता है, जो प्रायः साधारण व्यक्ति के अहंकार को पसंद नहीं होता । अतः आमतौर पर व्यक्ति दानादि सत्कर्म स्वयं तो कर लेते हैं किन्तु दूसरों के पास जाकर सादर

प्रेरणापूर्वक कुछ कराने से कतराते हैं, संकोच करते हैं । सत्कर्म की शुभ भावना को अपने से आगे बढ़कर दूसरे व्यक्तियों में भी अधिकाधिक तीव्रगति से प्रवाहित करते समय कभी-कभी संकोच के रूप में प्रस्फुटित होने वाला जो व्यक्ति का क्षुद्र अहंकार बाधक बनता है, उसे साहस के साथ तोड़ डालना चाहिए ।

प्रमोद भावना शुभभावना का विस्तार

इसी प्रकार दूसरों के द्वारा किए जा रहे सत्कर्मों की अनुमोदना एवं प्रशंसा भी शुभभावना का विस्तार है । यह श्री उमास्वाति एवं श्री हरिभद्र आदि आचार्यों की भाषा में प्रमोद भावना है । सत्कर्म कहीं भी और किसी के भी द्वारा हो रहा हो, बिना किसी जाति, देश, पंथ एवं परम्परा आदि से सम्बन्धित पक्षपात के, उसका मुक्तमन एवं मुक्तकण्ठ से अनुमोदन करना, अपने आप में, एक विशिष्ट पुण्य कर्म है । बहुत से लोग सुकृतानुमोदन की उक्त पवित्र साधना में अतीव दुर्बल होते हैं । सत्कर्मों की प्रशंसा करते समय उनकी जिह्वा को लकवा मार जाता है । क्या मजाल, किसी की प्रशंसा में उनके मुँह से कोई एक शब्द भी निकल जाए । साधारण से साधारण भूलों को भी तूल देकर दूसरों की निन्दा करने में वे घंटों गुजार देंगे, किन्तु किसी के अच्छे से अच्छे अभिनंदनीय गुणों की प्रशंसा के लिए दो चार मिनट भी उनके पास नहीं होते । इसका अर्थ है कि उनका क्षुद्र मन अहंकार से ग्रस्त है; वे हीनभावना से पीड़ित व्यक्ति हैं । किन्तु उन्हें पता होना चाहिए कि इस प्रकार सत्कर्म के अनुमोदन का प्रसंग मिलने पर अनुमोदन न करना भी एक पाप है । अस्तु, महान हैं वे व्यक्ति, जो उक्त पाप से बचते हैं और यथा प्रसंग सुकृतानुमोदन के द्वारा शुभ भावना को विस्तार देकर असीम पुण्य का अर्जन करते हैं ।

तत्काल लाभ उठाइए

अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा, सेवा, उपकार आदि के रूप में जब भी और जो भी कोई प्रसंग मिले, भले ही वह कितना ही अल्प एवं नगण्य क्यों न हो, उसका तत्काल लाभ उठाना चाहिए । समय बीत जाने पर बाद में केवल पछताना ही शेष रहता है, और कुछ नहीं । सत्कर्म को क्या छोटा, क्या बड़ा ? मूल में तो वह एक भाव है । बाहर में उसे मूर्तरूप जब भी मिल सके, दीजिए, चूकिए नहीं । यदि संयोगवश अभी समय साथ नहीं दे रहा है, तो उसके लिए

भावना तो अन्तर्मन में बराबर करते रहिए । आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, यहाँ तक कि इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में कभी न कभी समय मिल ही जाएगा । आस्तिक दर्शनों की यही एक सबसे बड़ी विशेषता है कि वे एक दो जन्मों पर ही नहीं, अनन्त अनन्त जन्मों पर विश्वास करते हैं । एक क्षण के लिए प्रकट हुआ सम्यक् दर्शन भी भव्य आत्मा को एक दिन निश्चित ही परमात्मभाव में पहुँचा देता है, भले ही तब तक भव भ्रमण में अनन्त जन्म ही क्यों न लेने पड़ें ।

भावना निष्फल नहीं जाती

भावना अन्तर की सचेतन क्रिया है, वह कभी निष्फल नहीं होती । वैशाख और ज्येष्ठ की आग उगलती गरमी और जलती धूप में घरती के खुले मैदानों पर दूर दूर तक हरियाली नजर नहीं आती । जब देखो तब धूल ही उड़ती दिखाई देती है । किन्तु आषाढ़ श्रावण में वर्षा होते ही सब मैदान हरे भरे हो जाते हैं, घरती पर घास की हरी चादर बिछ जाती है । प्रश्न है यह हरियाली कहाँ से आती है? क्या आकाश के मेघों से ? मेघों से तो पानी बरसता है, हरियाली नहीं । घरती के गर्भ में पहले से पड़े हुए बीज ही वर्षा का योग पाकर अंकुरित होते हैं, हरियाली उन्हीं की है । अतः अपने अन्तर्मन में शुभ भावों के बीज डालते रहिए । कभी-न-कभी सुयोग पाकर वे सत्कर्म के रूप में अंकुरित होंगे ही, इसमें सन्देह और शंका के लिए अणुपरमाणु मात्र भी स्थान नहीं है ।

सितम्बर १९७५

तरुण तरुण है : साहस की अखंड ज्योति

तरुण समाज का नवजीवन है, राष्ट्र का महाप्राण । तरुण साहस की दहकती ज्वाला है, उत्साह का उद्दाम निर्झर । तरुण धर्म की धुरा का धारक है, संस्कृति का सन्देश वाहक । तरुण मानव-प्रकृति के उपवन का बसन्त है, निर्माण का घण्टानाद । तरुण का तन मिट्टी का नहीं वज्र का है । सदी, गर्मी, वर्षा, धूप-छाँह की उसे क्या चिन्ता ? प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति भी उसके लिए मंगल है, वरदान है । कौन है उसे जो चुनौती दे ? वह स्वयं चुनौती का पांचजन्य बजाने निकल पड़ा है, धरती के एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज तक ।

तरुण का अन्तर्मन रंगारंग इन्द्र धनुष । सघन मेघ में चमकने वाले जड़ प्रकृति के इन्द्र धनुष के रंगों की तो गणना है । परन्तु तरुण के सचेतन इन्द्र धनुषी मन के रंगों को कोई गिने तो कहाँ तक गिनेगा ? हर रंग अद्भुत ! हर रंग मोहक । अन्दर में कोई झाँक ले तो सहसा चकित हो जाए, चित्र लिखित हो जाए कि अहो हो, क्या गजब की छटा है !

तरुण का हृदयाकाश इतना विशाल एवं विराट कि प्रकृति का एक आकाश क्या, असंख्य आकाश उसके एक कोने में समा जाएँ । तरुण का तन ऊँचा है, तो उसका मन भी ऊँचा है । तरुण; सच्चा तरुण कभी बौना नहीं होता । वह किसी की किसी भी घेराबंदी में नहीं आता । वह तरुण ही क्या, जो यों ही किसी का कभी कैदी हो जाए ।

तरुण का कर्म-रथ दिग्-दिगन्त तक दौड़ता है ! कौन हैं वह बाधा, कौन है वह विघ्न, जो तरुण के कर्म-रथ की गति को रोक दे या लक्ष्य से इधर उधर कहीं मोड़ दे । शक्ति और साहस का दूसरा नाम ही तो तरुण है । बस्ती-बस्ती जंगल-जंगल गाता जाए बनजारा । कठिन से कठिन परिस्थिति में भी दृढ़ उत्साह एवं विश्वास के साथ हँसते खिलखिलाते-मुस्कराते काम करते रहना ही तो तरुणाई है ।

तरुण हर क्षण हँसता है, मुस्कराता है । साक्षात् मीत के दानव यमराज को देखकर भी उसके मुख पर हँसी फूट पड़ती है । कौन है इस घरती पर, आकाश पर जो उसे रुला दे, आँखों से दो बूँद आँसू बहाने को मजबूर कर दे । तरुण न कभी रोता है, न कभी किसी को रुलाता है । उस का काम है एक मात्र हँसना-हँसाना, सुख में भी, दुख में भी, जीवन में भी- मरण में भी ।

तरुण वह जिसकी दृष्टि विशाल हो, व्यापक हो । जो अपने व्यक्तिगत वर्तमान और भविष्य को ही नहीं, अपितु अपने समाज, अपने राष्ट्र, अपने धर्म एवं अपनी संस्कृति के वर्तमान और भविष्य को भी ठीक तरह देख सकता हो । जो अपने सुख-दुःख की आवाज नहीं, दूसरों के सुख-दुःख की आवाज सुनता है, और उसके लिए जूझने को, मर मिटने को तैयार रहता है हर क्षण, वही वस्तुतः तरुण है, युवक है । यौवन इसी का नाम है । जवानी इसी को कहते हैं । शक्ति ही नहीं, समय पर शक्ति की स्फूर्ति भी अपेक्षित है, तरंगित यौवन को ।

मन में करुणा की गंगा बहे, वाणी में सुरभित वचनों के फूल झरें, और हाथ पैरों में कर्म का वज्र निर्घोष हो, तो कहना चाहिए, वह युवा है । युवा शक्ति ही नरक को स्वर्ग में बदल सकती है, कांटों को फूलों का रूप दे सकती है । युवक की हर बात निराली, हर काम अनोखा । जो भी है, सब लाजवाब ।

तरुण का ज्योतिर्मय चिन्तन सत्य को अन्ध विश्वासों की कारा से मुक्त करता है । तरुण-चेतना अतीत के खूँटे से नहीं बँध सकती । वह अतीत को खूब दबाकर छूती है, मलती है, मसलती है, और जो उसका प्राणवान रस है, उसे पी लेती है, रसहीन निरुपयोगी खलभाग को जोर से थूक देती है । तरुण-चेतना जड़ स्थितिशील नहीं, अपितु सजीव गतिशील होती है । निरन्तर उज्ज्वल भविष्य की ओर उन्मुख गतिशीलता ही वस्तुतः तरुणाई है ।

खतरों से बचकर चलने वाला नहीं, खतरों से आगे बढ़ कर खेलने वाला ही तरुण होता है, तरुण की मनोवृत्ति खिलेंडी मनोवृत्ति । हर काम हँसते-खेलते । कैसा ही दुःसम्भव या असम्भव काम हो, तरुण का जोशोखरोश कभी ठंडा नहीं पड़ता । जितनी अधिक कठिनाई, उतनी ही अधिक तरुण की स्फूर्ति, दीप्ति । वह खरे सोने के समान हर चोट पर अधिकाधिक चमकता जाता है । असंभवता, निराशा, खिन्नता, उदासीनता जैसे निर्माल्य शब्द तरुण के

शब्दकोष में कहीं होते ही नहीं । सम्भव है, चोट या ठोकर खाकर वह कभी कहीं गिर भी जाए, परन्तु तत्काल धूल झाड़कर फिर खड़ा हो जाता है वह, निर्धारित कर्म-समर में जूझने के लिए । कितना ही काम हो, वह दिन भर के तन तोड़ श्रम के बाद ताजादम हँसता हुआ जाता है बिस्तर पर सोने के लिए । हारा थका मुर्दे की तरह निर्जीव खाट पर नहीं जा पड़ता है तरुण । प्रातः काल क्षितिज पर सूरज की सुनहली किरणों के चमकने से पूर्व ही उठ खड़ा होता है एक मदभरी मस्ती की अंगड़ाई लेते हुए । बिल्कुल ताजादम । मन-मस्तिष्क स्वच्छ और स्वस्थ । और फिर जुट पड़ता है आज का काम आज ही पूरा करने के लिए । आज का काम कल पर छोड़े, वह कैसा तरुण । हर सुबह सफर, हर शाम सफर । तरुण का जीवन कर्म है और कर्म ही जीवन है । और कर्म भी ऐसा, जो देखे दाँतों अंगुली दबा ले, तदनुरूप स्वयं भी कुछ करने की प्रेरणा ले । तरुण वह जो 'ज्योति से ज्योति जलाता चले।'

तरुण समय की गति से, धारा से कट कर दूर अलग थलग पड़ा नहीं रह सकता। वह परम्परा और अपरम्परागत सभी जीवन-मूल्यों का विचार-पद्धतियों का सांगोपांग विश्लेषण करता है, चिंतन की कसौटी पर निःसंकोच भाव से परीक्षण करता है, और जो उनमें सजीव एवं सृजनशील हों, उनको आदर के साथ जीवन में उतारता है, भविष्य की ओर आगे बढ़ाता है । और जो निर्जीव, निष्प्राण, अनुपयोगी, समय की गति से पिछड़ी हुई पद्धतियाँ हैं, प्रथाएँ हैं उन्हें निर्द्वन्द्वभाव से ध्वस्त कर दूर फेंक देता है ।

तरुण न पुराने से बँधता है, न नए से । न अपनेपन से बँधता है, न परायेपन से । उसका जीवनदर्शन नये-पुराने के, अपने-पराये के बन्धनों से परे एक मात्र लोक-मंगलकारी सत्य से सम्बन्धित होता है । तरुण को देह की उफनती गर्मी के साथ मन की दहकती गर्मी भी अपेक्षित है । मन की गर्मी, अर्थात् मनन की गर्मी । जीवन के लिए, जीवन के नवनिर्माण के लिए जैसे ठंडा रक्त घातक है, वैसे ही ठंडा चिन्तन भी घातक है । हाँ, यह शत-प्रतिशत अपेक्षित है कि तरुणाई की गर्मी को सही दिशा एवं सही मर्यादा मिले । शरीर और मन की कोई भी गर्मी हो, यदि उसे सही दिशा एवं मर्यादा मिले तो वह धरती पर स्वर्ग की अवतारणा कर सकती है । अन्यथा ... अन्यथा वह अकेले व्यक्ति को ही नहीं, पूरे समाज एवं राष्ट्र को भी नरक की ओर ढकेल सकती है।

अब तक के इतिहास के जिन क्षणजीवी क्षणों को अमरता मिली है, उसके निर्माता कालजयी तरुण ही हैं । मर्यादा पुरुषोत्तम राम भर तरुणाई में प्राप्त राज्य को ठुकरा कर निर्जन वनों की ओर चल पड़ते हैं । फूलों से भी अधिक कोमलांगी सीता महकते यौवन में, नंगे पैरों काँटों भरे पथ पर पति का अनुगमन करती है । कर्मयोगी कृष्ण तरुण ही हैं, जो कंस के साथ कंस के अत्याचारों को भी ध्वस्त कर ब्रज भूमि से सुदूर अज्ञात क्षेत्र में सोने की द्वारिका का निर्माण करते हैं, जंगल में मंगल रचाते हैं । महाश्रमण तीर्थंकर महावीर तीस वर्ष की तरुणाई के मादक क्षणों में ही स्वर्ण प्रासादों को त्याग कर, राज्यवैभव का मोह छोड़कर खूंखार शेरों की दहाड़ों से गूंजते वनों में वज्रासन लगा ध्यानस्थ हो जाते हैं । तथागत बुद्ध कौन हैं ? वह सर्वविध सुख की छाया में पला तरुण राजकुमार ही तो है, जो अपने नवजात पुत्र राहुल को एवं उस युग की अनिन्द्य सुन्दरी पत्नी यशोधरा को त्याग कर रात के गहरे अंधेरे में सत्य की खोज के लिए जंगलों की राह पकड़ता है । तरुण भोग का नहीं, त्याग का प्रतीक है । समय पर सर्वस्व ठुकरा देने की अपूर्व क्षमता के उदाहरण तरुणाई में ही मिले हैं । इतिहास साक्षी है, तरुण क्या था ? और अब भविष्य बताएगा, आज का तरुण क्या है ? जो अपने मन-मस्तिष्क पर, अपने हाथ पैरों पर, अपने स्वयं करणीय कर्म पर विश्वास न कर, पूर्वजों के समागत ऐश्वर्य पर मरता है, उसे पाने के लिए हायतौबा मचाता है, वह तरुण नहीं, कोई और होगा । तरुण बासी नहीं ताजा खाना खाता है । वह खाना ही नहीं, खिलाना भी जानता है । वह लेना नहीं, देना भी जानता है, यदि यह कहूँ तो अधिक सत्य होगा कि वह देना ही जानता है । त्याग ही उसका आदर्श जो ठहरा ।

बालक कर्मक्षेत्र का सिपाही अभी इसलिए नहीं, कि वह अभी तन-मन दोनों से अक्षम है, अबोध है । वृद्ध इसलिए नहीं कि जर्जर शरीर मन का साथ नहीं देता । अतः वह चाह कर भी चाह को ठीक तरह राह नहीं दे पाता । अस्तु, नव निर्माण से संबंधित समग्र कर्म का दायित्व बीच में खड़े तरुण पर है । अतः तरुण के जपयोग का बीजमंत्र है चरैवेति....चरैवेति....चरैवेति । चले चलो.....चले चलो..... चले चलो । जो चलता है, वह पाता है । आज तक मुंह लटकाये मुहरमी सूरत में बैठे रहने वालों को कभी कोई मंजिल मिली नहीं है । पिपीलिका, नन्हीं सी चींटी चलते चलते सौ योजन तक पहुँच सकती है । परन्तु बिना चले, बिना उड़े, पक्षिराज गरुड एक कदम का पथ भी पार नहीं कर सकता है । 'अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ।'

मैं चाहूँगा, आज का तरुण अपने धर्म, दर्शन, राष्ट्र एवं समाज की सांस्कृतिक गरिमा के अनुरूप अपने को प्रमाणित करे । उसके मन, वचन तथा तन के द्वारा निष्पादित निर्माण कार्यों में वह अनूठा विशिष्टीकरण होना चाहिए, जिसे देखते ही हर किसी सहृदय के मुख से सहसा शत-शत साधुवाद मुखरित होने लगे । हर जिन्दगी को जीने योग्य बनाने की दिशा में वज्र चरण अबाध गति से निरन्तर आगे बढ़ते रहें। विघ्न बाधाओं को कुचलते-मसलते- यही धरती के प्रत्येक तरुण रक्त को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है ।

यह भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्माण पर्व है । सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उस महान् दैदीप्यमान चिन्मय ज्योतिपुंज के द्वारा प्रस्तावित 'धर्म-क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' के सत्कर्म समर के अतिरथी, महारथी, अर्धरथी, जैसी भी अपनी योग्यता हो, तदनुरूप विजेता रथी बनिए, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ कहना नहीं है । महावीर के वीर योद्धा तरुण ! 'शुभास्ते पन्थानः' 'भद्रं ते भूयात् । '

लाभस्तेषां जयस्तेषां, कुतस्तेषां पराजयः ।

येषां हृदि, महावीरो, राजते भगवान् स्वयम् ॥

नवम्बर १९७५

महावीर की दृष्टि में नारी की गरिमा

भारत की नारी एक दिन अपने विकासक्रम में इतनी ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी कि वह सामान्य मानुषी नहीं, देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी । वह वैदिक युग में वेद मंत्रों की स्रष्टा थी और उपनिषद् काल में याज्ञवल्क्य जैसे महान तत्त्वज्ञानी महर्षि से विद्वत्परिषद् में गार्गी के रूप में शास्त्रार्थ करती थी । नारी की पूजा के कर्मक्षेत्र में ही स्वर्ग के देवता रमण करते थे, प्रसन्न होते थे । उस युग में वह पुरुष का अर्धभाग थी, उसके बिना पुरुष का पुरुषत्व अधूरा रहता था । महादेव शिव की अर्धनारीश्वर के रूप में अंकित मूर्तियाँ आज भी उस भाव की मूक साक्षी हैं । धारेश्वर भोज देव ने पातंजल योग सूत्र की अपनी 'राज मार्तण्ड वृत्ति' के मंगलाचरण में सर्वप्रथम इसी दिव्यभाव को स्मरण किया है " देहार्द्ध योगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु वः ।"

आदि शिक्षिका

मानव सभ्यता के आदि युग में, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी, मानव जाति की पहली शिक्षिकाएँ हैं । ब्राह्मी अक्षर ज्ञान की प्रतिष्ठापिका है, तो सुन्दरी गणित ज्ञान की । एक सारस्वत साहित्य के वैभव की देवी हैं, तो दूसरी राष्ट्र की भौतिक संपत्ति के हानि-लाभ का ब्योरा उपस्थित करती है । अविवाहित रह कर उक्त दोनों आजन्म कुमारियों ने मानव जगत् के बौद्धिक विकास-हेतु, जो बौद्धिक सेवा की है, वह पौराणिक काल से लेकर आज तक के इतिहास में अप्रतिम है, अद्वितीय है ।

रामायण और महाभारत काल में

रामायण में देखिए, सीता क्या है ? वह राक्षसराज रावण के न आतंक से प्रकंपित है, और न स्वर्ण लंका के स्वर्गोपम वैभव से ही आकृष्ट है । वह भय

और प्रलोभन के सघन अन्धकार में दीपशिखा की भाँति प्रज्वलित है, निर्भय भाव से दैत्यराज रावण की अदम्य शक्ति से युद्धरत है । और महाभारत में द्रौपदी को देखा है कभी ? यह महाप्रचण्ड शक्ति की अधिष्ठात्री राजकुमारी भारतीय इतिहास की कभी न लुप्त होने वाली अक्षुण्ण गरिमा है । वह अन्याय एवं अत्याचार के प्रति इतनी रौद्ररूपा चण्डिका है कि दावाग्नि है मानो प्रलय काल की । केशपाश पकड़ कर सभा में खींच कर लाने वाले और साड़ी उतार कर भरी सभा में उसे नग्न करने की कुचेष्टा में लगे दुःशासन को ललकारती है कि जब तक तेरे हाथों से खुले इस केशपाश (चोटी) को तेरे उष्ण रक्त से न धो लूँगी तब तक यह खुला ही रहेगा, बँधेगा नहीं । और यह केवल गुस्से में की गई अर्थहीन वाणी नहीं थी । द्रौपदी ने जो कहा था, महाभारत युद्ध में वह प्रतिज्ञा वचन शत-प्रतिशत पूरा किया गया । और साथ ही वह कोमल भी इतनी है कि आश्चर्य मुग्ध हो जाना पड़ता है । अपने देवकुमार जैसे अनुपम सुन्दर पाँच पाँच पुत्रों के एक साथ हत्यारे अश्वत्थामा को वह दया की देवी सहसा क्षमा कर देती है, उसे मृत्यु दण्ड से बचा लेती है, इसलिए कि इसकी वृद्धा माँ का फिर कौन सहारा रहेगा ? दो-चार उदाहरण क्या, एक से एक दिव्य नारियाँ थी भारत की, जिन पर भारत ने गौरवानुभूति की है, और करेगा ।

बाद की नारी का पतन

परन्तु महाभारत के बाद भारत की नारी का गौरव-शिखर से पतन होना शुरु हो जाता है । उसकी गरिमा की उज्ज्वल ज्योति धूमिल होने लगती है । और अपना वर्चस्व खोती-खोती एक दिन वह पुरुष की एक दीन-हीन दासी बनकर रह जाती है । मनुस्मृति कहने लगती है “बाल्यकाल में नारी को पिता के शासन में, संरक्षण में रहना होता है, यौवन में पति के और वृद्धावस्था में पुत्र की आँखों के नीचे । स्त्री को स्वतंत्रता का कोई अधिकार नहीं है ।” धर्म सूत्र बन गया ‘न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।’ वेदान्त के महान् आचार्य कहने लगे — नरक का एक ही द्वार है, और वह है नारी — “द्वारं किमेकं नरकस्य, नारी ।” कहा जाने लगा— नारी देखते ही मन को हर लेती है, और स्पर्श होते ही बल को । अतः वह प्रत्यक्ष राक्षसी है — “नारी प्रत्यक्ष राक्षसी।” और अभी-अभी बाबा तुलसीदास नारी के हीनत्व को इतने नीचे स्तर पर दुहरा गए हैं कि नारी को पशु के समान ताड़न करते रहना चाहिए — “ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी ।”

नारी के प्रबल पक्षधर: महावीर

महाभारत के बाद अब तक के काल में एक महान् ज्योतिर्मय पुरुष तीर्थंकर महावीर है, जो नारी की गुरुगरिमा के प्रबल पक्षधर हैं। वह माता की गरिमा से प्रभावित होकर गर्भ काल में ही प्रतिज्ञा लेते हैं कि “जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, दीक्षित नहीं होऊँगा, गृहत्याग कर अनगार न बनूँगा।” जो अनगार होने के लिए ही घरती पर आया है, वह यह प्रतिज्ञा करता है कि माता के मन को पीड़ा होगी, अतः मैं दीक्षा न लूँगा। कितनी विचित्र बात है। इसमें विचित्रता माता के मातृ-ऋण की है, जिसे वैराग्यमूर्ति महावीर ने वैराग्य की श्लोक में भी विस्मृत नहीं किया।

बुद्ध और महावीर : एक अन्तर

बुद्ध अर्धरात्रि में पत्नी को योंही बिना कुछ कहे-सुने उससे कन्नी काट कर वन को चले जाते हैं, वैरागी बनकर। किन्तु महावीर यशोदा को समझाते हैं, कर्तव्य का बोध देते हैं, दो वर्ष तक तत्त्वचर्चा के द्वारा परिवार का समाधान करते हैं, तब कहीं उनका महाभिनिष्क्रमण होता है। गलत वैराग्य के नशे में झूमने वाले वैरागी लेखक यद्यपि इस प्रसंग पर मौन हैं, परन्तु मानव हृदय का भावनात्मक इतिहास साक्षी है, महावीर पत्नी को समाधान देकर ही प्रव्रज्या के पथ पर अग्रसर हुए।

भगवान् महावीर और नारी

उस युग में दासियों का क्या जीवन था ? एक तरह का नारकीय जीवन ही था वह। उनके तन और मन के साथ पशुओं से भी गया गुजरा व्यवहार होता था। समाज के साधारण मानवीय अधिकारों से भी बहिष्कृत थीं वे। महावीर ने दासी का रूप लिए दीन-हीन नारी को भी गौरव प्रदान किया है। अनेक बार दासियों के हाथ से ही भिक्षा ग्रहण की है उन्होंने। चन्दना जैसी अनेक नारियों को दास्य बन्धन से मुक्त करने का श्रेय भगवान् महावीर को प्राप्त है, जो उस युग में दुःसम्भव ही नहीं, एक असम्भव कार्य था। अपने श्रावकों को दासों के क्रय-विक्रय के व्यापार से रोक कर उन्होंने दास प्रथा के मूल को समग्रता से उखाड़ा नहीं, तो उसे हिलाकर ढीला और जर्जर अवश्य कर दिया।

दास-दासियों से उनकी योग्य शक्ति से अधिक काम लेना, उन्हें समय पर भक्तपान अर्थात् भोजन न देना, मारना-पीटना एवं कैद में डाल देना, अंग-भंग कर देना आदि को महावीर ने अहिंसाव्रती गृहस्थ के लिए निषिद्ध करार दिया था। इतने भर से भी उस युग में कितनी राहत मिली होगी निरीह दासनारी को और उसके वैध अवैध पुत्र-पुत्रियों को ।

महावीर सन्नारियों की मुक्त कण्ठ से स्तवना करते हैं । राजीमती के कथा प्रसंग पर उत्तराध्ययन सूत्र में उन्होंने कहा है — राजीमती शीलवती थी, बहुश्रुत थी । जितेन्द्रिय थी, दृढ़ संकल्प की धनी थी । वह सुशील, सुदर्शना तथा सर्व लक्षण संपन्न थी । राजीमती ने कामोन्मत्त हुए तरुण राजर्षि रथनेमि को निर्भयता के साथ वह उपदेश दिया है, जिसकी तुलना केवल ज्ञानी वीतराग सर्वज्ञों के उपदेश के साथ की जा सकती है । महावीर ने कहा है — राजीमती के उपदेश वचनों से पथभ्रष्ट होता वह उन्मत्त रथनेमि वैसे ही धर्मपथ पर पुनः आरूढ़ हो गया, जैसे अंकुश के प्रहार से मदोन्मत्त गजराज ! 'अंकुशेण जहा ना गो धम्मे संपडिवाड्ओ !'

दानदात्री के रूप में महावीर ने आगम साहित्य में यत्रतत्र नारी को ही उपस्थित किया है । वस्तुतः महावीर की दृष्टि में नारी गृहदेवी है, राक्षसी नहीं। ठीक ही है— माँ भी एक नारी है । और नारी यदि राक्षसी है, तो माँ भी राक्षसी है । और राक्षसी के पुत्र भी फिर राक्षस ही होंगे, देव कहाँ से होंगे । तीर्थंकरों की माताएँ राक्षसी नहीं, देवी हैं, जिनकी कोख से वे देवाधिदेव अवतरित हुए, जिनके चरणों में पौराणिक कथानुसार स्वर्ग के देव एवं देवेन्द्र भी श्रद्धावनत हो गए । महावीर के आगम साहित्य में नन्दा, धारिणी, कुन्ती, प्रभावती एवं द्रौपदी आदि नारियों को देवी के रूप में स्मरण किया है । भगवान् महावीर के परम भक्त मगध सम्राट श्रेणिक जैसे अपनी पत्नियों को देवानुप्रिया जैसे समादर के सम्बोधन से सम्बोधित करते हैं । जहाँ कहीं भी महावीर की शिक्षा ने प्रवेश किया है वहाँ नारी ने योग्य आदर ही पाया है, निरादर नहीं ।

बुद्ध और महावीर : एक अन्य अन्तर

तथागत बुद्ध नारी को श्रमण धर्म की दीक्षा देने में काफी समय तक हिचकते रहे । प्रिय शिष्य आनन्द के अत्याग्रह पर गौतमी को भिक्षुणी होने के

लिए अनुमति तो बुद्ध ने दी, परन्तु बहुत आनाकानी और हिचक के साथ । परन्तु महावीर प्रारंभ से ही इस दिशा में उदार रहे हैं । कैवल्य प्राप्ति के बाद अगले दिन ही उन्होंने जहाँ गौतम जैसे ब्राह्मण मनीषियों को आर्हती दीक्षा दी, वहाँ चन्दना जैसी राजकुमारियों को तथा अन्य अनेक साधारण जाति की महिलाओं को भी दीक्षित कर अपने तीर्थ में श्रमणी परम्परा को मुक्त भाव से प्रचलन किया । महावीर को इसमें न कोई आनाकानी है, न कोई हिचक है । श्रमण के समान श्रमणी भी बराबर की महाव्रती है । आध्यात्मिक भूमिकाओं पर वह श्रमण के बराबर आरूढ़ होती जाती है और अन्त में मुक्ति लाभ प्राप्त कर आत्मभाव से परमात्म भाव की अन्तिम विकास भूमिका पर पहुँच जाती है ।

आर्य चन्दना की भूमिका

आध्यात्मिक भूमिका ही नहीं, आर्य चन्दना, सामाजिक भूमिका का दायित्व भी सफलता के साथ वहन करती है । महावीर के निर्देश पर वह ३६ हजार आर्याओं के विराट् श्रमणी संघ का नेतृत्व करती है । इस स्थिति में वह गणधर गौतम के समकक्ष है । आध्यात्मिक निर्देशन उसका गौतम से किसी प्रकार भी कम नहीं है । कल्पसूत्र इसके लिए स्पष्ट साक्षी है, जिसमें बताया गया है कि साधु संघ में सात सौ श्रमण केवल ज्ञान पाकर सिद्ध हुए हैं । जबकि साध्वी संघ में चौदह सौ श्रमणियाँ सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुई हैं । इसका यह अर्थ है कि आर्य चन्दना का शासन कितना अधिक स्वच्छ, निर्मल, सशक्त एवं सक्षम था और इसके मूल में स्वयं भगवान महावीर हैं और है उनका तत्त्व बोध एवं धर्म शिक्षण ।

महावीर के ये गलत उत्तराधिकारी

परन्तु खेद है, भगवान महावीर के पश्चात्कालीन उनके ही अनेक उत्तराधिकारी अपने महान गुरु की ज्योति को ठीक तरह प्रज्वलित नहीं रख सके । यदि ये भविष्य के शिष्य सजग रहते, गुरुदेव की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार में अपने को सर्वात्मना समर्पित करते रहते तो भारत की नारी अवश्य ही प्रताड़नाओं, यंत्रणाओं, यातनाओं तथा अपभ्राजनाओं से कभी की मुक्त हो गई होती । भारतीय नारी की यह स्थिति न होती, जो आज भी उसकी चिरागत दासता की सूचक है ।

पश्चात्कालीन श्रमण एवं श्रावक प्रभु महावीर की देशना-ज्योति को प्रज्ज्वलित नहीं रख सके, इतनी सी बात ही पर्याप्त नहीं है। खेद तब होता है, जब हम महावीर के श्रमणों को नारी गौरव के विपक्षी खेमे में खड़ा देखते हैं। ये दल बदलू परम्परागत विरोधियों की अपेक्षा अधिक खतरनाक साबित हुए हैं। तन पर महावीर के दल का चिह्न है, और मन बदलकर विरोधी प्रतिपक्ष में जा मिला है, उस प्रतिपक्ष में जो प्रारम्भ से ही नारी-गौरव को धराशायी करने में लगा हुआ था। महावीर के नारी मुक्ति एवं नारी-स्वातंत्र्य के महान आदर्शों को एक तरह मटियामेट करके रख दिया है, महावीर के ही भक्त कहे जाने वाले कुछ धर्मध्वजी लोगों ने।

नारी युग और हम सब का कर्तव्य :

आज का युग पुनः करवट बदल रहा है। नारी जागरण का शंख बज उठा है, शंख ध्वनि ही नहीं, घोर दुन्दुभिनाद हो रहा है। आज नारी फिर अपने अतीत के खोए गए गौरव को, अधिकार को पाने के लिए यत्नशील है। वह विकास की सब दिशाओं में जयकारों के साथ अग्रसर हो रही है। अतः महावीर के भक्त श्रमणों एवं श्रावकों से भी अपेक्षा है कि वे अपनी मध्यकाल की सामन्ती मनोवृत्ति को बदलें, छोड़ें, और महावीर के उच्च आदर्शों का अनुसरण करें। नारी मुक्ति के समाजोपयोगी आन्दोलन में हम सब को सहयोग देना चाहिए। दकियानूसी प्रतिगामी मनोवृत्ति से मुक्त हो कर नारी जागरण से प्रस्तुत आन्दोलन में हमें अग्रगामी बनना चाहिए। अशिक्षा, अन्धविश्वास, तथा दहेज आदि कुप्रथाओं के कुचक्रों के नीचे नारीजाति कब से पिसती आ रही है, कदम-कदम पर अपमान एवं तिरस्कार की ठोकरें खाती आ रही है। अब यह सब नहीं चल सकेगा। समय बदल रहा है। आज के समय के स्वर में महावीर का अढ़ाई हजार वर्ष पहले का महास्वर पुनः मुखरित हो रहा है। अपेक्षा है, महावीर के भक्त उक्त स्वर को पहिचानें, ताकि भारतीय पुरुष समाज नारीजाति की उत्पीड़क दहेज आदि कुप्रथाओं को ध्वस्त कर अपने पुराने पापों का समय पर सही प्रायश्चित्त कर सके।

दिसम्बर १९७५

तमस् है, तो दीप जलाओ

अँधेरा है न ? काला, काजल से भी काला अँधेरा । गहरा इतना कि हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा है । किधर चलें, किधर नहीं, कुछ पता ही नहीं चल रहा है । बैठे हैं कोने में हाथ पर हाथ धरे, और रो रहे हैं अपनी खोटी तकदीर को कि हमारे भाग्य में रोशनी है ही नहीं । न कल थी, न आज है, और न कल होगी ।

किन्तु मेरे बन्धु ! इस तरह रोने से क्या होगा ? रो-रो कर तो तू यदि सागर भी भर देगा अपनी आँखों के खारे पानी से, तब भी कुछ नहीं होगा । हजार बार, नहीं लाख बार नहीं, अनन्त बार कहूँगा; कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं होगा, कुछ भी नहीं होगा । करने से ही कुछ होगा । दुनिया ठाली बैठे रोने वालों की नहीं है । वह है हँसते हुए कर्म-पथ पर चलने वालों की, जीवन में कुछ कर गुजरने वालों की ।

यह ठीक है कि कर्म का चुनाव करना आसान नहीं है । कर्म का चुनाव करने में समय भी पर्याप्त लगता है । लगना भी चाहिए । यों ही आँख बन्द कर अन्धों की तरह तो नहीं चला जा सकता । परन्तु चुनाव करते-करते ही आखिर में तुम्हें मौत ने चुन लिया तो क्या होगा? अतः इधर-उधर सोचो, विचार करो, चिन्तन-मनन करो, और बस चल पड़ो, निर्धारित विचार-पथ पर। सुना है न कभी “शुभस्य शीघ्रम्। यदि संकल्पित कर्म शुभ है, मंगलमय है, स्व-पर-हितार्थ है, तो फिर देर क्यों होनी चाहिए? सोच-सोच में ही समय गँवा देना, महती अज्ञानता है। भगवान महावीर भी इस विलम्बकारी सोचने के विरुद्ध हैं। सत्कर्म के लिए वे भी कहते हैं। “देवानुप्पिया! मा पडिबंघं करेह। ‘हे देवानुप्रिय! प्रतिबन्ध अर्थात् देर मत करो।’

बाँसुरी है, किन्तु फूँक मारोगे, तभी बजेगी न? मृदंग है, किन्तु थाप
(७५)

मारोगे, तभी बजेगा न? वीणा है, किन्तु तारों को झनझनाओगे, तभी न शंकृत होगी वह? मुख है, मुख में जीभ है, और वह स्वस्थ भी है, किन्तु जब बोलोगे, तभी तो स्वर गुंजित होगा न? यह न सोचो कि तुम में शक्ति नहीं है। शक्ति तो है, महावीर की भाषा में हर चैतन्य अनन्त-शक्ति का स्रोत है। परन्तु शक्ति को अभिव्यक्ति देनी होगी। अभिव्यक्ति दिये बिना कुछ नहीं होना जाना। बीज में वृक्ष होने की शक्ति तो है, परन्तु जब वह सुप्त शक्ति अभिव्यक्ति लेगी, तभी तो बीज में से सोया वृक्ष जगेगा, फूलेगा, फलेगा।

समय निकला जा रहा है। निकला क्या जा रहा है, उड़ा जा रहा है प्रलय काल के शंशावात जैसा। देखना, यह लौट कर कभी भी न आएगा। समय का चक्र कभी घूम कर पीछे नहीं लौटता, वह निरन्तर आगे ही आगे घूमता जाता है। अतः कर्म में से कल को निकाल दीजिए। कल किसने देखा है? जो करना है, आज करना है। आज ही क्या, अभी करना है। मंगलमय सत्कर्म के लिए करने जैसी स्थिति हो, तो उसे कल पर छोड़ना, पाप है, महापाप है। समयोचित कर्तव्य की पूर्तिहेतु समय के सम्बन्ध में दिनकर सोनवलकर ने कहा है—

समय

सब को पीछे छोड़ता हुआ

बढ़ जाता है आगे

जिसमें हिम्मत हो

दमखम हो

वह समय के साथ भागे।

क्यों, कैसे चुप हो? किसी का इन्तजार है क्या? कोई सहारा देनेवाला साथी चाहिए क्या? भले आदमी! सहारा किसका? जब तू ही अपने संकल्प को, कर्म को सहारा नहीं देता, तो दूसरा कौन सहारा देगा? क्या तू लूला है, लंगड़ा है, टूटा है, अन्धा है, बहरा है, अपंग है, अपाहिज है, जो तुझे सहारा चाहिए? कौन किसको सहारा देता है? महावीर तो ईश्वर के सहारे की बात भी नहीं कहते। भक्ति-योग में हजार ईश्वरीय सहारे की बातें हों, किन्तु दार्शनिक चेतना-ज्योति से दीप्त कर्मयोग में ईश्वर का सहारा भी अनपेक्षित है। ईश्वर ही नहीं, तो फिर और कौन सा देवता है वह, जो तुझ चरणहीन अपंग को अपने सहारे खड़ा करेगा? महावीर कहते हैं “अप्पा कत्ता विकत्ता य” “हर आत्मा स्वयं ही कर्ता है, स्वयं ही विकर्ता है।” ईश्वर ही या

कोई अन्य देव, दानव हो, आज तक भूखों के लिए किसी ने आसमान से रोटियाँ नहीं बरसाई हैं। समझ लो, पराश्रित तो गुलाम होता है, मालिक नहीं। तुम अपने भाग्य के खुद मालिक हो। स्वयं के श्रम में ही श्री है। ये देवी देवताओं के अन्ध-विश्वास, ये पशुबलि, ये नरबलि, ये सट्टा, जुआ, तस्करव्यापार, काला बाजार, मिलावट, धोखा, ठगी, आदि सबके सब काले कर्म श्रमहीन मनोवृत्ति की उपज हैं। श्रमहीनता सर्वाधिक जघन्य अपराध और पाप है। जिसमें अन्दर का रक्त पसीना बन कर न बहे, वह श्रम ही क्या, कर्म ही क्या? दूसरा कोई कब तक खिलायेगा? कुछ-न-कुछ करो, ऐसे खटिया पर पड़े पड़े कब तक खाओगे? भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रतिष्ठापित यह कर्मभूमि युग है। “अपना हाथ जगन्नाथ”। अथर्व वेद का ऋषि कहता है “अयं मे हस्तो भगवान्” ‘यह मेरा हाथ भगवान् है।’ यह कर्मयोग का सबसे बड़ा उद्घोष है। अपने उद्धारक आप बनो, अपना पथ स्वयं निर्माण करो, किसी पर आश्रित मत रहो, व्यवहार में या परमार्थ में सर्वत्र अपनी गतिशीलता अक्षुण्ण रखो। कर्म ही, सत्कर्म ही मानव को सच्चा मानव बनाता है। जो व्यक्ति कर्म नहीं करता समय उसे नष्ट कर देता है। साधारण मानव तो क्या, महावीर और बुद्ध जैसे कैवल्य एवं महाबोधि प्राप्त महामानव भी लोकमंगल के लिए कर्म करते रहे हैं, गाँव-गाँव, नगर-नगर, पदयात्रा करते हुए जन-जन को जीवन-जागरण का सन्देश देते रहे हैं।

कर्म से पहले से ही कर्म की सफलता एवं विफलता के कुचक्र से बचकर चलो। यह चिन्ताचक्र व्यक्ति को प्रायः निराशा के गर्त में गिरा देता है। केवल अपने निर्धारित लक्ष्य पर ध्यान रखो और चलते चलो। विघ्न आ सकते हैं, बाधाएँ आ सकती हैं। उन्हें आना ही चाहिए। उनके बिना यात्रा का आनन्द ही क्या? बिना नमक मिर्च की साग-सब्जी खाने का क्या आनन्द? दावानल तूफानों में ही पनपते हैं। जीवन का अर्थ ही संघर्ष है। जिन्दगी से संघर्ष करना सीखो। अपनी भावनाओं के मंगलमय आवेशों को अपने हृदय में संजोये हुए एक महाबली युद्धवीर के समान कर्म-पथ की बड़ी से बड़ी चुनौतियों को साहस के साथ सगर्व स्वीकार करो। जिन्होंने सत्य एवं सत्कर्म के पथ पर कदम रखा है, उनका पथ कठिनाइयों से भरा होता ही है। कठिनाइयों से घबराना, फलतः कर्म शुरू ही न करना या अर्धबीच में ही कर्म छोड़ देना, कायरों का काम है।

विफलता के सपने देखना बन्द करो। जिन्दा लाश मत बनो। मुर्दा लाश से जिन्दा लाश अधिक खतरनाक होती है। जिन्दा लाश खुद भी क्षण-क्षण गलती

है, मरती है, और दूसरों को भी मारती है। यह जिन्दा लाश हँसते-खेलते घर को जल्दी ही मरघट बना देती है। तुम जिन्दा लाश नहीं, जिन्दा शहीद बनो। शहीद, शीश हथेली पर रखे कर्मयुद्ध के अग्रिम मोर्चे पर जूझने वाला वीर सेनानी। तुम क्या नहीं हो? सब कुछ हो। मानव शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं औद्योगिक शक्तियों का ज्योति-स्तम्भ है। अतः वह अपनी कर्म की मंजिल क्यों नहीं पाएगा? अवश्य पाएगा। देर सेवर की बात मैं नहीं कहता। हाँ, यह अवश्य कह सकता हूँ कि जल्दी या देर कर्म का फल अवश्य मिलेगा। क्रिया की प्रतिक्रिया होगी ही। महावीर ने कहा था “सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवन्ति” — “अच्छे कर्मों का अच्छा फल होता ही है।”

बात किनारे पर है। मेरे प्रिय आत्म बन्धुओं! भाइयों और बहनों! तुम सब कुछ न कुछ अच्छे से अच्छा आदर्श उपस्थित कर सकोगे। आगे बढ़ने योग्य, दौड़ने योग्य, संघर्ष करने योग्य शक्ति और धैर्य तुम में है। तुम अवश्य ही कुछ-न-कुछ अच्छा कर पाओगे, यदि सच्चे मन से, लगन से करना चाहोगे तो। परिस्थितियाँ बनती नहीं, बनाई जाती हैं। जमाना बदलता नहीं, बदला जाता है। तुम निर्माता हो, निर्मित नहीं हो। तुम कर्ता हो, कृति नहीं हो। राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध की सन्तानें दूसरों के लिए प्रेरणास्रोत बनने के लिए हैं, उदाहरण बनने के लिए हैं। वे पीछे नहीं, आगे चलने के लिए हैं। व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में तथा धर्म-परम्पराओं में, बड़ी तेजी से परिवर्तन आ रहा है। परिवर्तन के प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। वह प्रवाह है, अतः उसकी अग्रगति निश्चित है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परिवर्तन की प्रतीक्षा में बैठा रहा जाए। परिवर्तन एक क्रिया है। हर क्रिया को कर्ता की अपेक्षा है। फिर भले ही वह कर्ता अन्दर में हो या बाहर में हो। अतः परिवर्तन का केवल द्रष्टा ही नहीं, कर्ता बनना भी आवश्यक है। याद रखो, तुम्हें परिवर्तन का नेतृत्व करना है। बदलाव का अलमबरदार होना है।

मानव देहधारी कुछ ऐसे लोग भी हैं जो गन्दगी के कीड़े हैं। वे निन्दा की, दुरालोचना की गन्दगी पर ही जीवित रहते हैं। ये वे दुःशासन हैं, जो हर किसी सहृदय युधिष्ठिर की प्रतिष्ठा रूपी द्रौपदी को गंगा करने में ही अपनी शान समझते हैं। परन्तु आप इन लोगों को कुछ भी महत्त्व न दें। इनकी अनर्गल बातों पर भूल कर भी ध्यान न दें। गन्दगी के कीड़े क्षणजीवी होते हैं। उन्हें गन्दगी में मुँह गड़ाए ही मर जाना है, मिट्टी में मिल जाना है। हर दुःशासन

हारा है, द्रौपदी जीती है। कंस हारे हैं, कृष्ण जीते हैं। तुम साफ दिल से जो भी लोक-मंगल का अच्छा काम कर रहे हो, शान के साथ करते जाओ। मत लजाओ किसी से, मत भय खाओ किसी से। दूसरे क्या कहते हैं, यह नहीं सुनना है। आपका अपना मन क्या कहता है, बस, यही काफी है। कहा भी है कभी किसी ने—

दिल साफ तेरा है कि नहीं, पूछ ले जी से,
फिर जो भी कुछ करना हो कर तू खुशी से ।
घबरा न किसी से ॥

पुराना वर्ष जीर्ण हुआ, मर गया, भूत हो गया। अब उस भूत से न तुम चिपटो, न वह तुमसे चिपटे। उस अतीत हुए भूत के पास, या भूत के उपासक किन्हीं बुजुर्गों के पास जो कुछ भी हो, उसमें से उतना ही अंश लीजिए, जितना कि आप आज की या आने वाले कल की जिन्दगी के साथ जोड़ सकें। गये कल से जल्दी से जल्दी पिण्ड छुड़ाइए और झटपट आगे बढ़िए । नये वर्ष का सादर स्वागत कीजिए। अब जो भी करने जैसा है । इसी नये वर्ष में करना है। अच्छा है, अब चर्चा कम हो, काम ज्यादा हो। बहु भाषित की महाव्याधि खत्म होनी ही चाहिए। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिराजी के चार विकास सूत्र हैं — १ कड़ी मेहनत, २ दूर दृष्टि, ३ पक्का इरादा, ४ और स्वतः स्फूर्त आत्मानुशासन। नव वर्ष के लिए ये मंगल कर्म-सूत्र हैं। उक्त चतुःसूत्री के आधार पर कोई ऐसा विचित्र, अनूठा जन-मंगल का कार्य कीजिएगा कि सब ओर “वाह वाह! क्या कमाल है भाई” का नारा बुलंद हो उठे। सहसा चमत्कृत कर देना ही जीवन का और जीवन के कर्म का एक मात्र प्रतिफल है । आदमी की शान कर्म की शान में है। सचमुच लाजवाब आनवान। जो भी अच्छा करो, उसमें अपना सर्वोच्च कीर्तिमान स्थापित करो। “शिवास्ते पन्थानः।”

जनवरी १९७६

जीवन कैसा हो?

आजकल शिक्षित युवकजनों की ओर से एक प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि जीवन क्या है, जीवन की परिभाषा क्या है? मुझसे भी जब तब ऐसा ही प्रश्न पूछा गया है। लगता है, युवकसमाज में जीवन को नए सिरे से जानने की एक जिज्ञासा अँगड़ाई ले रही है।

प्रश्न क्या का नहीं, कैसे का है

मेरे विचार में प्रश्न में 'क्या' नहीं, 'कैसा' होना चाहिए। जीवन क्या है? दर्शन-शास्त्र के अनुसार विश्व का हर प्राणी कीट से लेकर किरीटधारी नरेन्द्र एवं देवेन्द्र तक सभी जीव हैं, और जो जीव हैं, उन सबके पास जीवन है। जीव की व्याख्या भी यही है कि जीवति-इति जीवः— जो जीता है, वह जीव है। इस दृष्टि से जीवन के अस्तित्व का प्रश्न सामान्य बन जाता है। अतः वह अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी विशेष प्रश्न के लिए जगह नहीं रखता है। किसी भी शरीरविशेष में पूर्वकृत अमुक कर्मानुसार अमुक काल तक बंदी के रूप में आबद्ध रहना ही जीवन है, दर्शन की दृष्टि में। अतः प्रश्न 'जीवन क्या है' इसके बदले में यह होना चाहिए कि 'जीवन कैसा होना चाहिए'? जीवन का अस्तित्व तो है, पर उसका उपयोग कैसा हो किस दिशा में हो, यह समझना हमारे लिए अतीव आवश्यक है। और यह प्रश्न दर्शन के क्षेत्र से उतर कर सीधा धर्म के क्षेत्र में आ खड़ा होता है। यहाँ धर्म का अर्थ पंथ नहीं; अपितु जीने की एक विशेष पद्धति है।

जीवन को अच्छा बनाइए

कैसा भी क्षण हो, एक दिन मानव जन्म ले लेता है, धरती पर आ जाता है। ज्यों ही शरीर कुछ विकसित होता है, जीवन की भाग-दौड़ शुरु हो जाती है, हलचल चालू हो जाती है। जीवन की कुछ अपेक्षाएँ हैं, खाना है, पीना है, पहनना है, रहना है और भी कुछ चीजें हैं। उन सबके लिए साधन जुटाने पड़

ते हैं। प्रश्न साधन नहीं जुटाने का नहीं है। यह तो तब होता, जब आदमी जड़ होता, पत्थर या सूखे लकड़ जैसा कुछ होता। न चेतना होती, और न कोई अभीप्साएँ, अपेक्षाएँ होतीं। जड़ पत्थर को क्या विकल्प है? क्या चिन्ता है? परन्तु आदमी तो आदमी है, सचेतन है। और सचेतन भी विशिष्ट श्रेणी का। अतः उसे अपेक्षाएँ भी सर्वाधिक हैं और विशिष्ट हैं। अपेक्षाएँ और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए श्रम, संघर्ष एवं प्रयत्न भी यथास्थिति उपस्थित होते ही रहे हैं, होते ही रहेंगे। इसलिए प्रश्न जीवन के अस्तित्व को क्या दिशा देनी चाहिए, यह है, और यह दिशा अच्छाई की होनी चाहिए।

कैसी अच्छाई?

मानव सामाजिक प्राणी है। वह जंगल का कोई भूत-प्रेत नहीं है, जो अकेला भटकता फिरता है। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में वह 'परस्परोपग्रह' है, वह आसपास से, समाज से समय पर कुछ लेता भी है, और देता भी है, यह लेना-देना कभी गलत हो जाता है। बस, यह नहीं होना चाहिए। जो भी लेना-देना हो, अच्छा हो। अच्छा का अर्थ है, वह शुभ हो, मंगलमय हो। कर्म का प्राणतत्त्व भाव में है। शुभ भावना से जनहित में जो भी कुछ किया जाता है, वह सब अच्छाई है। इस अच्छाई में 'स्वहित' भी आ जाता है। अच्छा हास्य वही है, जिस पर आमने-सामने के दोनों मुख-कमल खिल उठें। दोनों ओर ही नहीं, आसपास में दूर दूर तक वाहवाह के कहकहे भी गूँज उठें। यह कहकहे देश और काल की सीमाओं को लौंघते हुए हजारों हजार मीलें और हजारों हजार वर्षों को पार करते जाएँ। तीर्थंकर ऋषभदेव, चक्रवर्ती भरत, मर्यादापुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी कृष्ण, वीतराग महावीर और करुणावतार बुद्ध आदि की अच्छाइयों की सुगन्ध आज भी हजारों वर्षों बाद जनमन में महक रही है। अतः जो भी करो, पहले सोच लो, वह केवल व्यक्तिगत भोग की बंद तलैया का गंदा पानी तो नहीं है। वह 'बहुजन-हिताय, बहुजन सुखाय' की पवित्र गंगा बनते ही अनन्त कल्याणरूप क्षीरसागर की ओर प्रवाहित हो जाता है, जहाँ भगवत्तत्त्व का शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अनन्त एवं अव्याबाधरूप से निवास है। प्रकाश है।

कर्म विष ही नहीं, अमृत भी है

भारतीय दर्शन में वह युग दुर्भाग्य का युग था, जब दर्शन की यह चिन्तनधारा चली कि कर्म पाप है। जीवन की श्रेष्ठता कर्म में नहीं, अकर्म में है।

पवित्रता यही है कि स्वयं कुछ न किया जाय, अपितु दूसरों के कृत कर्म का, उसके फल का मुफ्त में उपभोग किया जाए । भारतीय दर्शन के अन्धकार युग का यही स्वर्ग है । करो कुछ नहीं, पर भोगो सब कुछ । उक्त चिन्तन ने मनुष्य को स्वार्थी और खुदगर्ज बनाया है । आलसी और निकम्मा बनाया है । भारत मुफ्तखोरों का, निठल्लों का देश हो गया है । यह चिन्तन समाप्त होना चाहिए । हमें सिर के ऊपर का स्वर्ग नहीं; पेरों के नीचे की धरती चाहिए, जिस पर यथाप्राप्त कर्म को जनहित का रूप दिया जा सके । भारत का दर्शन तो विषवैद्य है जो विष को अमृत का रूप देता है । बाहर में कहीं विष-अमृत नहीं है, पाप-पुण्य नहीं है । जो कुछ भी है, अन्दर में है । मानव के हर कर्म में से हित, सुख व मंगल का सौरभ फूट पड़ना चाहिए । ज्यों ही यह सुगन्ध फूटेगी, हर कर्म अमृत बनेगा, पुण्य बनेगा, स्वर्ग बनेगा ।

एकलखोरा पापी है

सामाजिकता की व्यापक दृष्टि ही पवित्र है । एकान्त साधना का अर्थ निर्जन में अकेले पड़े रहना नहीं है । मानव अन्दर में शान्त हो, यही एकान्तता है । सागर सतह पर जिधर देखो उधर ही लाखों करोड़ों तरंगों के हाथ उठायें हर क्षण नाचता रहता है, दिन और रात, रात और दिन, सदा अशान्त, अविश्रान्त । परन्तु अपनी नीचे जाती गहराई में पूर्ण विश्रान्त तथा शान्त । मानव को भी ऐसा ही होना चाहिए , उसे सुमेरु नहीं, किन्तु सागर होना चाहिए । बाहर में संघर्ष, युद्ध और अन्दर में इसके ठीक विपरीत। यही कर्म की कला है, जो व्यक्ति को समाज के साथ सामूहिक हित में संघर्षरत रहते हुए भी अबद्ध रखती है, बाहर में पाप जैसा होते हुए भी अन्दर में पुण्य पवित्र बनाये रहती है, सार्वजनिक हित-साधना ही पुण्य की पवित्र धारा है, जिसमें सब पापों का प्रक्षालन हो जाता है।

और कुछ भी हो, व्यक्ति को एकलखोरेपन की दुर्वृत्ति से बचना चाहिए । 'मैं' नहीं, 'हमपना' पुण्य है । मेरा नहीं; हमारापन पुण्य है । क्षुद्र 'मैं' और 'मेरेपन' से बाहर होते ही अमंगल भी मंगल हो जाता है; अशिव भी शिव हो जाता है । इसके विपरीत मैं और मेरेपन के क्षुद्र घेरे में आते ही मंगल भी अमंगल और शिव भी अशिव हो जाता है । देवाधिदेव ऋषभदेव की असि (तलवार), मसि (लेखन, गणित, चित्रकला आदि) व कृषि सब शिव हो गए ।

चूँकि महावीर ने तथा महावीर के उत्तराधिकारियों ने उन सबके मूल में प्रजाहित देखा था । यह सब प्रजा के अर्थात् पीड़ित जनता के हित के लिए था । भगवान् महावीर जनहित के लिए अनेक बार सागर जैसी विशाल गंगा को उत्तर से दक्षिण में और दक्षिण से फिर उत्तर में हजारों साधुसाध्वियों के साथ पार करते रहे; फिर भी पाप से अबद्ध रहे । भ. महावीर के प्रथम गणधर गौतम गुरु ने रहे; फिर भी पाप से अबद्ध रहे । भ. महावीर के प्रथम गणधर गौतम गुरु ने अपने लब्धबल से, जिसका प्रयोग निषिद्ध है, पंदरह सौ तीन भूखे तापसों को खीर भोजन से तृप्त कर दिया था । स्पष्ट है, और कुछ भी मंगल या अमंगल नहीं है; जिसमें जितनी-जितनी क्षुद्रता, वैयक्तिक अहंता है उतनी-उतनी पाप की कालिमा है और जितनी जितनी व्यापकता है, सार्वजनिक हितबुद्धि एवं हितसृष्टि है, उतनी उतनी पुण्य की पवित्रता है । इसीलिए महावीर ने कहा था: “असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।” जो प्राप्त साधनों का जनहित में सबके लिए सम्यक् विभाग एवं वितरण नहीं करता है, वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता । इसका अर्थ है-व्यक्तिनिष्ठता ही बन्धन है । एकलखोरापन ही पाप है । गीतादर्शन के महान् गायक श्रीकृष्ण भी कहते हैं—जो व्यक्ति केवल अपने लिए ही सुख-साधन जुटाता है, वह पाप का भोग करता है । ‘अधं स केवलं भुङ्क्ते, यः पचत्यात्मकारणात् ।’

फरवरी १९७६

क्रान्ति के देवता श्रमण भगवान महावीर

भारत की मनोभूमि के कण-कण में प्राचीनतम ऋषि-मुनियों के अगाध ज्ञान के ज्योतिर्मय कण बिखरे पड़े हैं । उपनिषदों के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर दिव्य अध्यात्म ज्योति के दर्शन होते हैं । जैनागमों की प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक वाक्य में आत्म-बोध की समुज्ज्वल ज्योत्स्ना अभिभासित हो रही है । पिटकों में जहाँ कहीं आपकी नजर पड़े, आप पायेंगे कि बोधि-ज्ञान की अन्तःसलिला सरस्वती फूट रही है । यही है भारतीय संस्कृति का अमृत-तत्त्व ।

विशाल बुद्धि व्यास के महाभारत में जिन जीवन-गाथाओं का उपनिबन्धन हुआ है, वह एक भारतीय जन-जीवन का जीवित काव्य है । राम की रामायणीय गाथाओं में, जीवन के जो ज्योतिर्मय-चित्र अंकित हुए हैं, वह भारतीय समाज का और विशेषतः पारिवारिक जीवन का भव्य प्रतिबिम्ब है । जैनपरम्परा के पुराणों में काव्यमय भाषा के द्वारा भारतीय जन-जीवन का जो सुन्दर रूप रेखांकित किया गया है, वह अपने आप में असाधारण है । बौद्ध-जातकों में मानवजीवन के बहुविध रंगीन चित्र प्रस्तुत किए गये हैं । ये सब ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के प्राण कोष हैं; जिनका साहित्यकोष में युग-युग से संचय होता चला आया है ।

महर्षि मनु ने अपनी मनुस्मृति में ब्राह्मण समाज का तदयुगीन एक सुन्दर संविधान तैयार किया था । भगवान महावीर के प्रमुख गणधरों ने अपने आचारसूत्रों में साधकों के लिए एक सुन्दर आचार-संहिता तैयार की थी । वह अपने आप में बहुत सुन्दर थी ।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महावीर और बुद्ध का समय निश्चय ही एक स्वर्णयुग कहा जा सकता है । ईसा पूर्व षष्ठी शताब्दी में समग्र विश्व में

ही नवजागरण की एक नूतन स्फूर्णा आ गई थी । यही कारण है कि ठीक उसी काल में चीन देश में लाओ त्से एवं कन्फ्युशियस तथा ईरान की धरती पर जरथुस्त जैसे महान चिन्तकों का आविर्भाव हुआ था । महावीर और बुद्ध समाज के नवनिर्माण की दिशा में जो कुछ यहां सोच रहे थे, और कह रहे थे, कुछ हेर-फेर के साथ वही चिन्तन और वही कथन चीन और ईरान की धरती के महान चिन्तक भी कह-सुन रहे थे । अतः ईसा पूर्व छठी शताब्दी केवल भारत के लिए ही नहीं, समग्र विश्व के लिए एक सुन्दर वरदान थी । इस युग में भारतीय विचार-जगत में क्रान्ति की एक अभिनव उथल-पुथल देखने को मिलती है । सामाजिक एवं धार्मिक नवचेतना के इसी युग में महावीर जैसे विराट् व्यक्तित्व का इस देश में जन्म हुआ, जिसने संसार को अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का संदेश दिया जो भव-व्याधि से पीड़ित दिशाहीन मानव के लिए वरदान हो गया ।

भगवान महावीर की संधीय जीवन-पद्धति इतनी सुव्यवस्थित एवं सुन्दर थी कि जिसका तत्कालीन आसपास के अन्य समाजों पर भी सीधा प्रभाव पड़ा था । वस्तुतः भगवान् महावीर ने किसी नई धर्मपरंपरा का आविष्कार नहीं किया था, बल्कि तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त रुढ़ि, कुरीति और अन्धविश्वासों के प्रतिकार का मार्ग ही प्रशस्त किया था । जन्मगत श्रेष्ठता एवं कनिष्ठता के आधार पर प्रचलित जातिवाद का सर्वप्रथम विरोध महावीर ने किया । महावीर का कहना था — जन्म से नहीं, अच्छे-बुरे कर्मों से ही मनुष्य अच्छा-बुरा बनता है । धरती पर के समग्र मानवों की जाति एक ही है । वर्ण से रंगरूप से अच्छी-बुरी आकृति का तत्त्वतः कुछ अर्थ नहीं है । उनका महान् घोष था — ‘ न दीसई जाइं विसेसे कोई । ’ भगवान केवल उपदेश देकर ही न रह गए । अनेक शूद्र जाति के नर ओर नारी उनके संघ में दीक्षित हुए थे । यहाँ तक कि हरिकेश जैसे चाण्डालों को भी उनके संघ में वही आदर का स्थान प्राप्त था, जैसा कि श्री इन्द्रभूति गौतम जैसे कुलीन ब्राह्मणों को ।

महावीर के युग में मातृजाति की स्थिति भी बड़ी दयनीय थी । वह केवल एक भोग्य वस्तु थी, पति की पशुधन की तरह ही एक मूक संपत्ति । क्रीतदासी जैसा जीवन था नारी का अपने ही परिवार में । न वह पवित्र माने जाने वाले धर्मशास्त्र पढ़ सकती थी और न वह धर्मारोधना के लिए उच्चतम व्रत आदि की ही अभीष्ट उपासना कर पाती थी । महावीर ने कहा — ‘ स्त्री पुरुष में देहाकृति के अतिरिक्त मूलतः कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है । स्त्री भी पुरुष

के समान ही परिवार की जीवन-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । वह धर्मशास्त्रों का मुक्तभाव से अध्ययन और तदनुसार आचरण कर सकती है ।’

उस युग की दासप्रथा तो नारकीय जीवन का एक सजीव चित्र उपस्थित करती है । दास और दासी के रूप में स्त्री, पुरुष, बालक, युवा एवं युवतियों को पशुओं की तरह बाजार में बेचा जाता था । दासों का समाज में कुछ भी मानवीय मूल्य नहीं था । भगवान महावीर ने कहा - दासों पर अत्याचार अधर्म है, पाप है । कर्मदान रूप १५ महापापों को दासों के क्रय-विक्रय को भी एक महापाप माना है, महावीर ने । और अपने श्रावकों (सद्घर्म के उपासक गृहस्थों) के लिए उसका सर्वथा निषेध किया है।’ जनकल्याण की दिशा में भगवान महावीर की विचारक्रान्ति एक समग्र विचारक्रान्ति है, चतुर्मुखी क्रान्ति है।

आज अपेक्षा है उक्त चतुर्मुखी क्रान्ति के स्वर को पुनः नया स्वर देने की । उक्त स्वर में विश्व के समग्र शुभचिन्तकों के, जननायकों के, धर्मोपदेशक गुरुजनों के जनमंगल स्वर समाहित है । जन-कल्याण की दिशा में महावीर का स्वर किसी अन्य स्वर से टकराता नहीं है, अपितु सहायात्रा के लिए कर्म का हाथ मिलाता है । आइए, हम सब मिलकर उक्त समग्र क्रान्ति के स्वर को पुनः मुखरित करें ।

मार्च-अप्रैल १९७६

जीवन स्वयं ही एक दर्शन है

प्रत्येक मनुष्य का अपना एक दर्शन होता है । मनुष्य का अपना विचार ही उसका दर्शन होता है । उसके जीवन की सफलता का मुख्य आधार उसका विचार ही होता है । सफलता और विफलता जीवन में मुख्य नहीं है, मुख्य बात यह है कि उसका अपना दृष्टिकोण क्या है? जब एक बार मनुष्य अपना दृष्टिकोण स्थिर कर लेता है, तब उसी के आधार पर वह अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर पाता है । मनुष्य को क्या होना है? यह निर्णय ही उसके जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । ठीक समय पर ठीक प्रकार का निर्णय करना आसान कार्य नहीं है । अपने जीवन को और उसकी समग्र शक्ति को किसी एक लक्ष्य में नियोजित करना ही जीवन की सफलता का आधार है । अतः सर्वप्रथम मनुष्य को अपना एक स्पष्ट लक्ष्य निश्चित करना होगा । फिर लक्ष्य की सफलता के लिए प्रयास करना होगा ।

जीवन और दर्शन

मनुष्य के जीवन में गंभीरता दर्शन से ही आती है । जब तक चिन्तन गंभीर न हो, तब तक उसके जीवन में उज्ज्वलता नहीं आ सकती । जो व्यक्ति जिस प्रकार के व्यवसाय में अपने मन को लगाता है, वह उस व्यवसाय में उतनी ही योग्यता प्राप्त कर लेता है । कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि पुराने चिन्तन के संस्कार मनुष्य को किसी विशेष लक्ष्य की ओर ले जाते हैं । मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है, उसी के अनुसार उसकी अभिरुचि बनती है, और उसी के अनुसार काम करने की क्षमता भी बढ़ती है । व्यापार का चिन्तन करने से मनुष्य व्यापारी होता है, अध्यात्म का चिन्तन करने से मनुष्य अध्यात्मवादी होता है और अन्य किसी विषय का चिन्तन करने वाला उसी में निपुणता प्राप्त कर लेता है, मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि जिस प्रकार का उसमें चिन्तन होता है, उसका जीवन फिर उसी साँचे में ढल जाता है । यह कहना कठिन होगा कि

मनुष्य का जीवन किस दिशा की ओर गतिशील होगा । किसी भी दिशा की ओर आगे बढ़ने से पूर्व उसके विषय में गंभीर चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है । यही कारण है कि जीवन और दर्शन का परस्पर निकट का सम्बन्ध रहा है । विद्वान व्यक्ति का ही नहीं, अनपढ़ व्यक्ति का भी अपना एक विशेष दृष्टिकोण होता है, और वस्तुतः यही उसका दर्शन होता है । भारत में वैदिक एवं अवैदिक तथा 'षड्दर्शन' नामसे सुप्रख्यात जो षड्दर्शन है उसकी यहाँ चर्चा नहीं है । यहाँ विचारणा उसी दर्शन की है, जो मनुष्य का अपना एक स्वतंत्र चिन्तन और विचार होता है । यह बात अलग है कि कभी-कभी मनुष्य का चिन्तन उसके पूर्व संस्कारों से अनुरंजित हो जाता है । फिर भी उसके विचारों की स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का आघात सफल नहीं हो सकता । यह भी देखा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन में समाज के विरोध के कारण अपने विचारों को प्रकाशित नहीं कर पाता । उस स्थिति में भी उसका अपना स्वतंत्र चिन्तन अन्तर्मुखी हो कर विकसित होता रहता है ।

जीवन और मनोविज्ञान

जीवन का सम्बन्ध मनोविज्ञान से अधिक निकट का है । मनोविज्ञान भी नये युग का नया दर्शन है । जीवन का एक भी क्षेत्र इस प्रकार का नहीं है, जो मनोविज्ञान से प्रभावित न हो । मनोविज्ञान में मानव-जीवन के अनेक दृष्टिकोणों का समावेश हो जाता है । जीवन के अन्तरंग और बहिरंग सभी रूपों पर विचार करना, मनोविज्ञान का मुख्य विषय है । मनोविज्ञान के अध्ययन से मनुष्य अपने अन्तर्जगत को भलीभाँति समझ सकता है । जब मनुष्य का दार्शनिक दृष्टिकोण बदल जाता है, तो उसकी सम्पूर्ण कार्यप्रणाली में परिवर्तन हो जाते हैं । मनुष्य का दार्शनिक दृष्टिकोण देश की सर्वोच्च सत्ता के समान है । इस सत्ता के नीचे विभिन्न ... चारी कार्य करते हैं । यदि सर्वोच्च राज्यसत्ता बुद्धिमान और सतर्क हुई, तो कर्मचारी ठीक से काम करते हैं, अन्यथा वे अपनी मनमानी करने लगते हैं । फिर जिस ओर प्रमुख राजसत्ता का अनुकूल रुख होता है, उसी ओर अन्य कर्मचारियों का भी वैसा ही रुख हो जाता है । प्रत्येक कर्मचारी की कार्यक्षमता केन्द्रीय सत्ता की दृढ़ता पर निर्भर करती है । जब अपने कर्मचारियों के प्रति उसके आदेश निश्चयात्मक होते हैं, तो सरकार का कार्य सुचारुरूप से चलता है । मनोविज्ञान के पंडितों का कहना है कि मनुष्य के मन में उठने वाली विचार-तरंगें जितनी उत्तुंग और जितनी गहरी होंगी, वे मन को उतनी ही अधिक

प्रभावित कर सकेंगी । किसी भी कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व उसके सम्बन्ध में समग्र दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो जाता है । मनुष्य के मन में जब कोई विचार अथवा चिन्तन प्रारंभ होता है, तब वह बहुत छोटे रूप में होता है, और धीरे-धीरे वही एक विचार विकास पाते-पाते समग्र विश्व को प्रभावित करने वाला बन जाता है । समय पाकर वह विचार सिद्धान्तरूप में स्थिर हो जाता है, और जब उसमें पूज्यत्वबुद्धि का प्रारंभ हो जाता है, तब वही विचार एक शास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है ।

वेदान्त का नव अद्वैतवाद एक दिन आचार्य शंकर के मन की एक छोटी-सी तरंग थी, किन्तु आगे चल कर धीरे-धीरे वह एक स्वतंत्र सिद्धान्त हो गया, और अद्वैतवाद पर अनेक ग्रन्थों की रचना होने लगी । अनेक शताब्दियों की यात्रा करते-करते आज वह एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में जन-चेतना के समक्ष व्यापक स्तर पर प्रगट हो चुका है । बौद्ध-परम्परा के विज्ञानवाद और शून्यवाद की स्थिति भी इसी प्रकार की रही है । जैन-परम्परा का अनेकान्तवाद एक दिन महावीर के मन में उठने वाली एक छोटी-सी विचार-तरंग रही होगी । समय और परिस्थितिवश जैसे-जैसे युगप्रधान आचार्यों ने उस पर गंभीर चिन्तन प्रारंभ किया, वैसे-वैसे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त इतना विशाल और विराट हो गया कि आज समस्त जैनदर्शन का सार उसे कहा जा सकता है ।

जीवन और सिद्धान्त

जीवन और सिद्धान्त, इन दोनों में से यदि किसी एक को मुख्यता देनी हो, तब वह निश्चित ही जीवन को मिलेगी । आज तक जगत् में जितने भी सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है, उनका मुख्य आधार मानवीय जीवन ही रहा है । जितने भी सिद्धान्त हैं, वे सब जीवन के लिए हैं, किन्तु जीवन सिद्धान्तों के लिए नहीं हो सकता । जीवन को सरस, सुन्दर एवं मधुर बनाने के जितने भी प्रकार हो सकते हैं, उन सभी प्रकारों को अथवा उनकी प्रयोगात्मक पद्धतियों को हम सिद्धान्त कह देते हैं । यदि कोई सिद्धान्त जीवन-विकास में बाधा बन कर खड़ा हो जाए, तो उसमें समय-समय पर संशोधन किए जाते रहे हैं, और यह होना आवश्यक भी है । अन्यथा जीवन की गति अवरुद्ध हो जाएगी । परिणामतः जीवन निष्क्रिय होगा, और निष्क्रिय जीवन से किसी भी लक्ष्य की पूर्ति की आशा करना व्यर्थ होगा । यही कारण है जीवन को समझने के लिए और मनोविज्ञान नितान्त

आवश्यक है । जीवन की सफलता अधिक से अधिक ग्रन्थों का अध्ययन करना ही नहीं है, उसकी सफलता का मूल आधार यह होना चाहिए कि जो कुछ अध्ययन किया है, उसे जीवन के घरातल पर किस पद्धति से उतारा जाए ?

जीवन और सफलता

मनुष्य का सबसे उत्कृष्ट पदार्थ यदि कोई हो सकता है तो वह यही होगा कि विचारों का संस्कार कैसे किया जाए? मनुष्य का दार्शनिक विचार जैसा होता है, उसे संसार वैसा ही नजर आता है । मनुष्य के सुख और दुख, उसके जीवन की सफलता तथा विफलता, इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसने क्या काम किया और क्या नहीं किया? अपितु, वह इस बात पर निर्भर करते हैं कि उसके दार्शनिक विचार और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? यह दृष्टिकोण मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है । बाह्य संसार की क्रियाओं का ज्ञान और अपने मन की क्रियों का ज्ञान इस दृष्टिकोण को बदलते रहते हैं । जिस बात को हम अपनी किशोर-अवस्था में बड़ा ही महत्त्व देते थे, वे ही बातें अपनी युवावस्था में अर्थ-हीन एवं महत्त्वहीन प्रतीत होने लगती हैं । इसका कारण मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि और इस बढ़े हुए ज्ञान के कारण, उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन होना होता है । मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य जिस विचार के विषय में बार-बार चिन्तन करता है, वह उसके प्रति अपनी रागात्मक वृत्ति से अनुरंजित हो जाता है । फिर यह विचार उसके कार्यों का प्रेरक बन जाता है । मनुष्य क्या है? वह अपने विचारों का प्रतिफल अथवा प्रतिबिम्ब ही है । मनुष्य अपने जीवन में जिस-किसी भी प्रकार की क्रिया करता है, वह क्रिया उसके विचार का ही प्रतिफल है । मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी जब किसी भी क्रिया को प्रारंभ करता है, तब वह उसके संबंध में अवश्य ही विचार करता है । निश्चय ही, विचार-शून्य हो कर मनुष्य किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं कर सकता । विचार जब क्रिया बनता है, तब उसे ही जीवन की सफलता कहा जाता है ।

विचारों का विश्लेषण कीजिए

मनुष्य के पास मस्तिष्क है, विचार है, बुद्धि है और है अपना स्वतन्त्र चिन्तन । पीछे से चली आ रही हर परम्परा को वह आँखें बन्द करके स्वीकारता

ही चले, यह उसके स्वतन्त्र चिन्तन एवं बुद्धि का अपमान है । हमारे लिए आवश्यक नहीं कि हम पुरानी पीढ़ी का चश्मा लगाएँ ही लगाएँ । हम अपनी दृष्टि से देखें कि क्या सही है और क्या गलत है ?

साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि बिना किसी नयी सिद्धान्त-स्थापना की दृष्टि के कोरा अस्वीकार पलायन है । पलायनवादी के पास कुछ करने या करवाने तथा कुछ नया देने या लेने की क्षमता कतई नहीं होती । इसलिए मनुष्य अपनी बुद्धि एवं अपने स्वतन्त्र चिन्तन का विकास करे, नए सिद्धान्त की स्थापना की दृष्टि को ध्यान में रखकर नए के मोह में सब नकारता ही न चला जाए।

मई १९७६

सही सुख क्या है ?

संसार में अनन्त अनन्त प्राणी हैं । भले ही वे किसी भी गति में हों, किसी भी योनि में जन्मे हों और किसी भी जाति में हों । सब प्राणियों की, जीवों की सुख के सम्बन्ध में एक ही तरह की इच्छा, भावना ओर अभिलाषा रहती है। अन्य अनेक प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी इस बात में सबके विचारों में, सबकी भावनाओं में एकरूपता है कि सबको सुख प्रिय है । संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख, पीड़ा एवं कष्ट कोई नहीं चाहता । नरक के जीव बहुत दुःखी हैं । रात-दिन विभिन्न प्रकार के कष्टों का वेदन करते ही हैं । इसलिए उनके मन में हर क्षण सुख पाने की अभिलाषा बनी ही रहती है। तिर्यचं-पशु-पक्षी एवं कीट-पतंग भी दुःखों से बचने के लिए और सुख प्राप्ति की आशा में इधर-उधर भटकते रहते हैं । स्वर्ग में तो अपार वैभव है । भौतिक दृष्टि से सामान्य से सामान्य देव का जीवन भी सम्पन्न है । उसके सामने मानव की सम्पत्ति की कोई तुलना नहीं की जा सकती । फिर भी ईर्ष्या, मान-अपमान एवं प्रतिष्ठा के रोग से वह पीडित है, और उससे छुटकारा पाने के लिए वे अधिक से अधिक सुख चाहते हैं । मनुष्य-जीवन में कुछ भौतिक साधनों से सम्पन्न हैं, तो कुछ अभावग्रस्त हैं । जिनके पास सुख साधन नहीं है, वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं, और जिनके पास है, वे और अधिक सुख पाने की अभिलाषा रखते हैं । इस प्रकार संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो सुख नहीं चाहता हो। परन्तु वास्तविक सुख क्या है, इस पर कम ही ध्यान दिया गया है।

सुख के दो रूप हैं-एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक; एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर; एक बाह्य दूसरा आन्तरिक । लौकिक सुख कर्म-जन्य है, पुण्य के उदय से मिलने वाला है, और दूसरा क्षायोपशमिक है या क्षायिक है, जो मोहकर्म के उपशान्त तथा क्षय होने पर स्व-स्वरूप की अनुभूतिरूप है । बाह्य सुख कर्म-जन्य एवं पर नैमित्तिक होने के कारण क्षणिक है, परन्तु आध्यात्मिक सुख स्वाभाविक होने के कारण अनन्त है । उसका कभी भी नाश नहीं

(९२)

होता । वस्तुतः स्वभाव में परिणत होने पर मिलनेवाला सुख, शान्ति और आनन्द ही वास्तविक है । वह अव्याबाध सुख है, उसमें किसी भी तरह की रुकावट, विघ्न और बाधा उपस्थित नहीं होती है और न किसी प्रकार के बाह्य साधनों की ही अपेक्षा रहती है ।

भौतिक सुख क्या है? इसे समझ लेना भी आवश्यक है । व्यक्ति सुखमय जीवन बिताने के लिए भौतिक पदार्थों का संग्रह करता है । किन्तु सत्य यह है कि पदार्थों में सुख नहीं है । वे सुख के साधन तो हैं, परन्तु स्वयं सुखरूप या दुःखरूप नहीं हैं । अत्यधिक पदार्थ रहने पर भी व्यक्ति का जीवन अशान्त और दुःखी दिखाई देता है, वह रात-दिन परेशान सा रहता है । और कुछ व्यक्ति ऐसे भी परिलक्षित होते हैं कि स्वल्प साधनों के रहते हुए भी सन्तुष्ट, शान्त और सुखी हैं और मस्ती से जीवन-यात्रा कर रहे हैं । अतः सुख अनुकूल संवेदन में है । पुण्य का उदय होने पर दुःखरूप प्रतीत होनेवाला पदार्थ भी अनुकूल होने के कारण सुखरूप हो जाता है, और पाप का उदय होने पर अनुकूल साधन भी प्रतिकूल हो जाते हैं और कष्टप्रद लगते हैं । लडका सुखरूप और आनन्ददायक लगता है । उसका वियोग होने पर व्यक्ति बहुत दुःखी होता है । परन्तु यदि वह अपनी इच्छा के अनुकूल बर्ताव नहीं करता है, नालायक और दुष्ट स्वभाव का है, तो उसके रहने पर भी सुख की अनुभूति नहीं होती । उसके घर में रहने से मन और अधिक परेशान रहता है । व्यक्ति यहाँ तक चाहने लगता है कि यह मर जाए या घर से चला जाए तो अच्छा रहे । बादाम का हलवा और बादाम की बर्फी बहुत अच्छी लगती है, उसका आस्वादन रुचिकर और सुखरूप लगता है । परन्तु ज्वर हो जाने पर या पेट भर जाने पर यदि बादाम का हलवा तथा बादाम और पिस्ते की बर्फी यदि कोई आपके सामने रखे तो कैसी लगेगी? उस समय वह अच्छी नहीं लगती । पेट भर जाने के बाद कभी स्नेही व्यक्ति एक-दो बर्फी या एक-दो चम्मच हलवा खाने का आग्रह करता है, तो उस समय यही शब्द निकलते हैं कि अब कष्ट मत दो, अधिक परेशान मत करो । क्योंकि स्वस्थ अवस्था और भूख के समय बादाम का हलवा और बर्फी अनुकूल लगने से खाने पर सुख का संवेदन होता था, परन्तु अस्वस्थ होने पर या पेट भर जाने पर वे ही पदार्थ दुःखरूप हो गए । पदार्थ वे ही हैं । उनमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं आया । परन्तु स्वास्थ्य के प्रतिकूल होने के कारण कष्टप्रद हो गए । इसलिए सुख और दुःख का संवेदन अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप होता है, अतः वह तत्त्वतः एकरूप नहीं है, स्थायी नहीं है ।

आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति राग-द्वेष के कुछ क्षीण तथा सर्वथा नष्ट होने पर होती है । उच्चतम साधक के मन में अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी पदार्थ पर राग-द्वेष नहीं रहता । हर परिस्थिति में वह अपने स्वभाव में स्थित रहता है, इसलिए उसे कभी भी दुःख की अनुभूति नहीं होती । पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर वह साधक को अपना फल तो देता है, परन्तु आध्यात्मिकता एवं वीतरागता का साधक अनुकूल के संवेदन में आसक्त नहीं बनता, और प्रतिकूल के वेदन में उसके प्रति घृणा और नफरत के भाव नहीं रखता । अपने स्वरूप, कर्म और पदार्थों के स्वभाव को जानकर हर परिस्थिति में सम बना रहता है, अपने स्वभाव में रमण करता है, इसलिए उसे परम आनन्द की ही अनुभूति होती है । दर्पण को यदि गंगा के प्रवाह के सामने रख दिया जाए, तो वेग से बहता हुआ प्रवाह उसमें दिखाई देगा । सागर के सामने रख दिया जाए, तो हजारों लाखों लहरें ऊपर को उछलती और नीचे गिरकर सागर के किनारे से टकरा कर विलीन होती हुई दिखाई देंगी । जलते हुए दावानल के सामने दर्पण रख दिया जाए, तो उसमें निकलती हुई ज्वाला और चिनगारियाँ तो स्पष्ट दिखेंगी। परन्तु न तो गंगा का प्रवाह उसे बहा कर ले जाएगा, न समुद्र में उठने वाली लहरों से वह गीला होगा और न दावानल की ज्वाला उसे जला पाएगी । दर्पण के सामने जो कुछ आएगा वह प्रतिबिम्बित तो होगा, परन्तु दर्पण पर उसका कोई असर नहीं होगा । इसी प्रकार अपने स्वरूप में रमणशील साधक के सामने अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ आते हैं, सुख और दुःख भी आते हैं — जिन्हें आगम में अनुकूल और प्रतिकूल परीषह कहा है । परीषह वह है, जिन्हें समभावपूर्वक सहा जाए । सुख और दुःख या अनुकूल - दोनों स्थितियों में अध्यात्म-चिन्तन का सन्तुलन बना रहना चाहिए । अनुकूल संयोग हमारे लिए सुखरूप हैं, परन्तु ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिकूल ही नहीं, अनुकूल संयोग भी परीषह हैं । क्योंकि वे स्वभाव से नहीं, विभाव से उत्पन्न हुए हैं, कर्मजन्य हैं और आत्म-चिन्तन में स्वभाव-रमण में बाधक हैं । अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह उनके संवेदन में आसक्त न हो कर अपने आप में सम बना रहे । सुख-दुःख से ऊपर उठ कर स्वभाव में स्थित रहने वाला साधक ही परम आनन्द और अव्याबाध सुख की अनुभूति कर सकता है ।

भारतीय मनीषियों ने साधक के सामने एक बात रखी है कि वह अपने आप को प्रभु के चरणों में समर्पित कर दे । जैन आगम में कहा है कि साधक प्रतिदिन यह भावना करता है कि मुझे अरहन्त की शरण प्राप्त हो, सिद्धप्रभु का

शरण प्राप्त हो, साधु का शरण प्राप्त हो और वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म का शरण प्राप्त हो । बौद्ध धर्म में यही कहा गया है कि, मैं बुद्ध की, धर्म की और संघ की शरण में जाता हूँ। वैष्णव-परम्परा में भी प्रभु की शरण में जाने का उल्लेख मिलता है । गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सब कुछ छोड़ कर तू मेरी शरण स्वीकार कर । इसका अभिप्राय एक ही है कि साधक अपना कुछ नहीं समझता । उसका एक ही उद्देश्य रहता है - प्रभु के बताए हुए साधनापथ पर गीत करना । इसके अतिरिक्त उसके मन में न धन को पाने की इच्छा रहती है, न भोग-उपभोग के साधनों को पाने की लालसा रहती है, और न यश-प्रतिष्ठा की कामना रहती है । उसे अच्छा-बुरा जो कुछ भी मिलता है, उसे वह अपने पूर्व-कर्म का फल समझ कर समभावपूर्वक सहते हुए साधना-पथ पर बढ़ता रहता है, तो उसे किसी भी तरह की परेशानी नहीं होती और अनायास ही वह सब कुछ पा लेता है । जिसने प्रभु को अर्थात् स्व-स्वरूप को पा लिया, उसके लिए फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है ।

एक बार एक राजा ने अपने राज्य की सीमा को बढ़ाने के लिए आक्रमण किया । अनेक देशों पर उसने विजय प्राप्त की । राज्य से विजय-यात्रा के लिए निकले हुए बहुत समय हो गया, उसने वापिस लौटने का विचार किया । उस नए जीते हुए देश से उसने अपनी सभी रानियों को दूत के साथ पत्र भेजा और साथ में अपने यहाँ से मिलने वाली विशेष वस्तुओं की एक सूची भी भेज दी कि जिसे जो वस्तु पसन्द हो, वह मँगा ले! किसी ने आभूषण मँगवाए, किसी ने मूल्यवान वस्त्र लाने को लिखा, किसी ने कीमती जवाहरात की माँग की और किसी ने खाद्य पदार्थ - फल, मेवा आदि मँगवाए । परन्तु जब दूत छोटी रानी के पास पहुँचा तो उसने पत्र पढ़ा और उत्तर में केवल इतना ही लिख दिया - “मैं तो आपको और एक मात्र आपको चाहती हूँ । आप शीघ्र आ जाएँ।” संदेशवाहक ने कहा - “कोई वस्तु भी तो मँगा लें ।” उसने कहा— “मुझे और कुछ नहीं चाहिए ।” राजा जब लौटा तो उसने सब रानियों के पास उनके द्वारा मँगाई हुई वस्तुएँ भेज दी और स्वयं छोटी रानी के पास चला गया । उसने कुछ भी नहीं मँगाया पर राजा मिल गया तो उसे सब कुछ मिल गया । जो एक को पा लेता है, वह सब कुछ पा लेता है ।

मनीषियों ने कहा है, कि जो साधक अपनी इच्छा एवं आकांक्षाओं का परित्याग करके अपने आप में, परमात्मा-ज्योति में संलीन हो जाता है, वह मुक्ति

और भुक्ति दोनों को पा लेता है । अपने इष्ट के प्रति अपने को पूर्णतः समर्पण करने पर साधक के मन में विकल्पों की तरंगें तरंगित नहीं होती । इसलिए निष्काम और निरपेक्षा से की जाने वाली साधना कभी भी निष्फल नहीं जाती । आप जानते हैं कि बीज तो एक ही होता है, और वह छोटा-सा ही होता है, परन्तु जब वह पौधे एवं वृक्ष का रूप ले लेता है, तो कितना विशाल हो जाता है और एक बीज हजारों हजार फल देता है । यदि समर्पण के बीज को ठीक तरह से बोया गया तो भुक्ति और मुक्ति अथवा भौतिक और आध्यात्मिक-दोनों सुख उपलब्ध हो जाएँगे। निष्कामभाव से की गई साधना, तप, जप, दान, दया, करुणा, क्षमा, सेवा आदि सत्कर्म कभी भी निष्फल नहीं जाते । आगम की भाषा में इस लोक और परलोक — स्वर्ग आदि में सुख साधनों, धन-वैभव, यश-प्रतिष्ठा पाने की आकांक्षा, अभिलाषा एवं कामना से रहित की गई साधना से, आत्म-चिन्तन से ही मुक्ति के द्वार खुलेंगे, अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होगी ।

जून १९७६

सुख दुःखों के दास नहीं, स्वामी बनिए

‘सुख और दुःख दोनों क्या है, कौन है, दोनों में परस्पर क्या रिस्ता है? क्या यह आप अच्छी तरह जानते हैं? लगता है, अभी तक आपको इनका अच्छी तरह परिचय नहीं है। आश्चर्य है, ये दिन रात आपके साथ रहते हैं, अनन्त अतीत काल से आपके संपर्क में हैं, फिर भी आप इन्हें ठीक तरह पहचानते नहीं हैं?’

सुख और दुःख दोनों परस्पर बन्धु हैं, सगे सहोदर! बाहर की सूरत में रंग रूप में भले ही कुछ अन्तर है। किन्तु अन्दर में दोनों एक हैं। गुण-कर्म और स्वभाव दोनों का एक है। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा था - सुख और दुःख वेदनीय कर्म की संतान हैं। दोनों औदयिक हैं, कर्मजन्य है। दोनों में ही आकलता है, पीडा है। अनाकुलता की भूमिका, जो वस्तुतः शान्ति का परम केन्द्र है, दोनों से परे है। यह ज्ञानी की भूमिका है। ज्ञानी वह, जो सुख-दुःख को भोगता हुआ भी, दोनों की पकड़ से मुक्त है।

अज्ञानी आत्मा, आत्म-बोध से शून्य होता है। वह बाह्य वस्तुओं की अनुकूल प्राप्ति में सुखानुभूति करता है। उक्त सुखानुभूति में से राग फूट पड़ता है। अतः अबोध आत्मा सुख की कल्पना में खुश होता है, मचलता है, इठलाता है, अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति समझता है, और दूसरों की दीन, हीन, तुच्छ, भाग्यहीन, कायर, और भी न जाने क्या-क्या समझता है। इतना ही नहीं, दुःख से पीड़ित अभावग्रस्तों की हँसी उड़ाता है, मजाक करता है, समाज की दृष्टि में उन्हें जब तब गिराता है। भोजन में, वस्त्र में, भवन में, विवाह में, धर्म में, समाज में सर्वत्र अज्ञानी के अहंकार का सर्प फुंकार मारता रहता है, विष उगलता रहता है। आपने वैभव-विलासों का, सुख-साधनों का भौंडा प्रदर्शन करने से वह कभी चूकता नहीं है। परन्तु इस अज्ञानी को पता नहीं है, कि तेरे इस दंभ में तेरा कितना पतन हो रहा है? तू अंधकार के भयंकर गर्त में कितनी

दूर तक गहराई में गिर रहा है । यह सुख तेरे विनाश का षड्यंत्र है । संभल कर चल मूर्ख!

अनुकूल संयोगों की इच्छा ज्यों ही मन में जागृत होती है, साथ ही एक दर्द उभर आता है छुपा हुआ मन में । यह भगवान महावीर की भाषा में आर्तध्यान है । शरीर में छुपा हुआ काँटा जैसे हर क्षण चुभता है, पीड़ा देता है, ठीक वैसे ही सुख प्राप्ति की कल्पना भी निरन्तर पीड़ा देती है । जैसे भी बने, अच्छे-बुरे साधनों की कुछ भी चिन्ता किए बिना, सुखार्थी मानव सुख पाना चाहता है । हिंसा हो, हत्या हो, झूठ हो, धोखा हो, फरेब हो, चोरी हो, मक्कारी हो, क्रोध हो, घृणा हो, वैर हो, विद्वेष हो, कुछ भी हो, हर मूल्य पर सुख चाहिए सुख के लोभी मानव को । आज तक इन्सान ने जो अत्याचार, अनाचार किए हैं, शूद्र प्राणियों से लेकर अपनी ही मानव जाति तक का जो खून बहाया है, घृणित से घृणित जो क्रूर कर्म किए हैं, सब के मूल्य में यही सुख-लिप्सा का भाव है । जीते जी ही नहीं मरने के बाद स्वर्ग आदि के परिकल्पित सुखों की प्राप्ति के लिए भी कुछ कम अत्याचार नहीं हुए हैं । यज्ञों में जीवित पशु और मानव जलाये गये हैं । देवी-देवता और परमात्मा या खुदा आदि को खुश करने के लिए प्रति वर्ष कितने लाखों एवं करोड़ों पशुओं की गर्दनें कट रही हैं । मनुष्यों तक की बलि दी जाती है । और तो क्या बली के रूप में अपने प्रिय अबोध पुत्र-पुत्रियों तक के लोमहर्षक, भीषण हत्याकाण्ड भी आए दिन सुनने को मिलते हैं, अखबारों में पढ़े जाते हैं, यह सब क्यों होता है? यदि विवेक का नियंत्रण न रहे तो जल्दी ही आर्तध्यान में से रौद्रध्यान का विष प्रवाहित होने लगता है ।

अज्ञानी आत्मा ही सुख-दुःख में अन्तर करता है । सुख मिलने पर नाचने लगता है, और दुःख आने पर रोने लगता है । सुख में ही-ही करता है, और दुःख में हा-हा, हाय-हाय! एक से राग करता है, दूसरे से द्वेष । वह अन्धा यह नहीं समझता कि दोनों ही बन्धन हैं । जरा भी असावधान रहा तो, दुःख-सुख दोनों ही तुझे चकनाचूर कर देंगे । इतिहास साक्षी है, जहाँ लाखों ही स्त्री-पुरुष दुःख के क्षणों में बर्बाद हुए हैं, वहाँ सुख के क्षणों में भी कुछ कम बर्बाद नहीं हुए हैं। देखा जाए तो दुःख की अपेक्षा सुख ने ही मानव जाति को अधिक बिगाड़ा है, गिराया है, बर्बाद किया है ।

यह सब इसलिए हुआ है, कि अज्ञानी मानव ने सुख-दुःख को अंधा बनकर भोगा है, आँख बंद करके इनके पीछे दौड़ा है। सुख-दुःख के भोग में बुराई नहीं है। जो प्राप्त है, भोगा जा सकता है। भोगना ही होगा। अपेक्षा है आँख खोलकर भोगने की। विवेक की तीसरी अन्दर की आँख खुली है, तो सब ठीक है। कोई भय नहीं, कोई डर नहीं। यथावसर दोनों ही के स्वागत के लिए तैयार रहो। दोनों तुम्हारे लिए मंगल के द्वार खोलेंगे, कल्याण का पथ प्रशस्त करेंगे। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदल जाती है, दिशा बदली कि दशा बदल जाती है। सुख-दुःख दोनों अपने में कुछ नहीं हैं। भला-बुरा कुछ भी तो इनके हाथ में नहीं हैं। आने दो इन्हें। मुस्कराते स्वागत करो इनका! ज्ञानी आत्मा के लिए दोनों ही वरदान हैं। दोनों ही उत्थान के सोपान हैं। ज्ञानी के लिए सुख तो सुख है ही, दुःख भी सुख है। वह दुःख की पृष्ठभूमि में सुख को खड़ा देखता है, जीवन निर्माण के विराट आयाम देखता है। इतिहास पर नजर डालिए, दो चार नहीं, हजारों उदाहरण आपको ऐसे मिलेंगे, जो भीषण दुःखों की दहकती ज्वालाओं में ही तपकर निखरे हैं।

अज्ञानी का आदर्श मात्र सुख-दुःख है। किन्तु ज्ञानी का आदर्श सुख-दुःख नहीं, अपितु अनाकुलता है, शान्ति है। अतः वह सुख-दुःख की अच्छी-बुरी हर स्थिति में अनाकुल रहता है, शान्त रहता है, निर्द्वन्द्व रहता है। वह सुख में भी मस्त, और दुःख में भी मस्त वह ऐसा दीपक है, जो राजा के महल में जलता है, तब भी प्रकाश विकीर्ण करता है, अँधेरे को दूर करता है, और गरीब की टूटी-फूटी झोंपड़ी में जलता है, तो वहाँ भी उसी शान से अपना आलोक फैलाता है, झोंपड़ी को जगमगता है, उसे घरती का स्वर्ण बनाता है। दीपक की दृष्टि अपने कर्तव्य कर्म में हैं, महल और झोंपड़ी में नहीं। दीपक बनकर प्रज्वलित रहिए, सुख में भी, दुःख में भी। दोनों तुम्हारे दास हों, अधिकार में हों, आज्ञाकारी क्रीत अनुचर की तरह। तुम्हें दोनों का स्वामी होना चाहिए। मनचाहा काम लो दोनों से। सावधान! नीचे गिरकर नहीं, ऊपर सवार होकर काम लो, मनु की मान्य सन्तानो!

जुलाई १९७६

अशान्ति का मूल कहाँ है ?

आज संसार कितना अधिक अशान्त एवं उद्भ्रान्त है । जिघ्र नजर डालिए उधर ही अशान्ति का दावानल धधकता दिखाई देता है । हर तरफ उचाट है, उद्विग्नता है, खिन्नता है । लगता है, मानवजाति पागलपन की दुःस्थिति में से गुजर रही है । भाग्य से ही ऐसा कोई व्यक्ति, परिवार या समाज मिलेगा, जो अन्दर और बाहर दोनों ही जीवन-मंचों पर प्रसन्नता से मुस्करा रहा हो, तालियाँ बजा रहा हो । अन्यथा रोनेवाले तो रोते मिलते ही हैं, हँसने वाले भी अन्दर में हँसते नहीं, रोते ही हैं, बस जरा सहानुभूति के साथ अन्दर में मन की किसी दुखती रग को छूकर देखिए ।

एक बहन या भाई कुरूप है, रंग जरा साफ नहीं है, तो दुःखित है, अशान्त है, रोता है अन्दर ही अन्दर । यदि कोई सुरूप है, सुन्दर है, तो अस्वस्थता के कारण परेशान है । यदि स्वस्थ भी है कोई, तो कमाने-खाने की चिन्ता है, सुख-सुविधा की चिन्ता है, मान-सम्मान की चिन्ता है । एक, दो, तीन, चार चिन्ता हो तो । यहाँ तो चिन्ताओं का जाला मकड़ी का वह जाला है, जिसमें मानव हर क्षण उलझता जा रहा है । क्या परिणाम आएगा, एक दिन इस उलझन का, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

एक सज्जन कहते हैं, घर में कुछ भी खाने को नहीं है । भूख से मरा जा रहा हूँ । दूसरे सज्जन मिलते हैं, कहते हैं, बड़ी मुसीबत है । भूख ही नहीं लगती । आपकी कृपा से सब कुछ है । पर, क्या करूँ, कुछ खा नहीं सकता ।

एक सज्जन हैं, कह रहे हैं, जेब खाली है । बच्चों के लिए कुछ भी तो खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं कर सकता । दूसरे सज्जन की शिकायत है, बच्चे उडाऊ हैं । मौज-शौक में सारी संपत्ति बेरहमी के साथ स्वाहा कर रहे हैं ।

एक अविवाहित होने से दुःखी है, तो दूसरा विवाहित होकर पत्नी की विपरीत प्रकृति के कारण पीड़ित है ।

एक पुत्रहीन है, रोता है पुत्र के लिए, मनौती करता है देवी-देवताओं की । और दूसरा इसलिए दुःखी है, कि पुत्र नालायक हैं । पता नहीं, कब पूर्वजों की इज्जत को मिट्टी में मिला दे ।

विचित्र स्थिति है, मानव की । समाधान कहाँ है, इन उलझती जाती समस्याओं का । एक ही समाधान है, और वह बाहर में नहीं, अन्दर में है, मन में है और वह है सन्तोष, वह है इच्छानिरोध ।

अशान्ति का मूल इच्छा में है । हर दुःख के मूल में कोई न कोई अपूर्ण इच्छा होती है । इच्छा ही दुःख की माँ है । अतः जितना मन इच्छा से मुक्त होगा, उतना ही वह निर्विकल्प होगा, फलतः निस्तरंग सागर के समान प्रशान्त होगा ।

यह शत-प्रतिशत निर्णय प्राप्त सिद्धान्त है, कि मानव के मन में उठने वाली हर इच्छा न कभी पूरी हुई है, और न होगी । साधारण मानव तो क्या, बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट और धन-कुबेर श्रेष्ठी भी अपनी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाए हैं । पौराणिक लोग कहते हैं — दैत्यराज रावण चाहता था, कि खारे समुद्रों को मधुर बनाया जाए । अग्नि में से धुआँ समाप्त कर दिया जाए । स्वर्ण में सुगन्ध पैदा कर दी जाए । स्वर्ग में सदेह जाने के लिए एक सुदीर्घ सीढ़ी तैयार की जाए । ईश के मधुर फल लगाए जाएँ । बताइए, इन कल्पनाओं में से कितनी कल्पनाएँ पूर्ण हुई, अधूरी इच्छाओं में उलझा हुआ ही रावण एक दिन दुनिया से उठ कर चल दिया, कुछ नहीं कर पाया । इतिहास में ऐसे एक-दो नहीं हजारों उदाहरण हैं । अस्तु, इच्छाओं से मुक्ति ही दुःख से मुक्ति है, अशान्ति और आकुलता से मुक्ति है । जो प्राप्त है, उसी का ठीक उपयोग करो, उसी में सन्तुष्ट रहकर जीवन-यात्रा चलाओ ।

मैं यह मानता हूँ, कि एक साधारण मनुष्य सहसा सर्वतो भावेन इच्छा मुक्त नहीं हो सकता । कुछ न कुछ विकल्प भविष्य के लिए उसके मन में खड़े होंगे ही । अगर ये विकल्प खड़े न होते तो मनुष्य आज पशुओं की भूमिका में

रहता । मनुष्य के विकास का इतिहास इसी विकल्प धारा पर, इच्छा शक्ति पर निर्मित हुआ है । हजारों-लाखों वर्षों से चिड़ियाँ दाना चुगती हैं, पर किसी ने रोटी बनाना नहीं सीखा । बन्दर लाखों वर्षों से वृक्षों पर बैठता आ रहा है, पर किसी बन्दर ने गर्मी-सर्दी-वर्षा आदि से बचने के लिए घर नहीं बनाया । पक्षियों ने अपने घोंसलों में कोई सुधार नहीं किया, जमीन खोद कर घुरी या बिल बनाने वाले चूहों और अन्य जानवरों ने कोई नया सुधार या निर्माण नहीं किया । यह मनुष्य ही है, जिसके मन में कुछ नया पाने या नया करने जैसी कोई इच्छा जगी और उसकी पूर्ति के लिए उसने जी तोड़ प्रयत्न किए । फलतः वह एक दिन अपने यत्न में सफल हुआ और आगे बढ़ा । अस्तु, बिल्कुल इच्छा मुक्ति की बात रहने दी जाए । प्रश्न इच्छा के विरोध का नहीं, इच्छा के अनर्गल प्रवाह के विरोध का है । इच्छा बुरी नहीं है, इच्छा की अनर्गलता बुरी है । इच्छा की घोड़ी पर सवार होना है, उसे दौड़ाना भी है, पर दौड़ाने से पहले नियंत्रण के लिए संयम और सन्तोष की लगाम लेना जरूरी है ।

बाजार में हजारों चीजें बिकने के लिए हैं । एक से एक सुन्दर, नयनाभिराम और मूल्यवान वस्तु दुकानों पर विक्रयार्थ उपस्थित है । प्रश्न है, क्या खरीदा जाए, और क्या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है, कि अपनी स्थिति देखिए, अपनी जेब का जायजा लीजिए । सारा बाजार एक मात्र तुम्हारे लिए ही नहीं है। तुम तो अपने को और अपनी यथार्थ अपेक्षा को देखो, परखो और तोलो । बाजार में क्या है, यह नहीं, अपितु तुम्हें क्या चाहिए, वह भी वर्तमान में और निकट भविष्य में बहुत जरूरी क्या है, यह देखो । गंगा बह रही है । जल का सागर है गंगा । तुम अपनी प्यास के मुताबिक दो-चार घूँट पानी पीओ और अपने रास्ते लगे । गंगा के सारे पानी को पीने या समेटने की चिन्ता छोड़ो । सारा जल तुम्हें ही नहीं पीना है, और बहुत हैं पीने वाले । फिर भी जो बच रहेगा और बचेगा ही, उसके लिए सागर का द्वार खुला है । जीवन-यात्रा का सही पथ यही है ।

सर्व-प्रथम इच्छाओं का विश्लेषण करो, कि क्या संभव है और क्या असंभव ? असंभव कल्पनाओं की तूफानी हवाओं में तिनके की तरह उड़ते रहने में कोई लाभ नहीं है । असंभव कल्पनाएँ पूर्ण नहीं होती हैं, फलतः उनके चक्कर में अधिकतर आदमी पागलपन की भूमिका में पहुँच जाते हैं । एक सज्जन मेरे परिचित हैं । दो जून खाने का भी उनके पास प्रबन्ध नहीं है । पर, जब बात

करते हैं, तो करोड़ों की, अरबों की । परिवार का एक सदस्य भी उनके कहने में नहीं है, पर स्वर्ग के देवों और इन्द्रों को किसी विशिष्ट मंत्र द्वारा वश में करने के इरादे रखते हैं । यह रूप है असंभव का । आकाश में उड़ने का स्वप्न तो मानव का पूरा हुआ है, पर पक्षियों की तरह पंख आने और उड़ने का स्वप्न अधूरा ही है, और वह अधूरा ही रहेगा । इसके पूर्ण होने में कोई लाभ भी तो नहीं है । आखिर आदमी पशु या पक्षी बनकर पाएगा भी क्या ?

अब रहा प्रश्न संभव इच्छाओं का । संभव इच्छाओं का भी अपेक्षित एवं अनपेक्षित रूप में विभाग करना आवश्यक है । पानी पीने के लिए पात्र चाहिए, ठीक है, पर वह चाँदी या स्वर्ण का हो, यह अनपेक्षित है । वस्त्र पहनना है, ठीक है, पर वह रेशमी हो, टेरेलीन हो, या अन्य कोई विदेशी बहुमूल्य वस्त्र हो, यह गलत है । भूख है, भोजन चाहिए । वह शुद्ध, स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकारी हो, अभक्ष्य न हो, अन्याय से प्राप्त न हो, यह सब ठीक है, आवश्यक है । पर वह उँचे मूल्य का मिष्ठान्न हो, घृतआप्लावित ताजा माल हो । सीधा-सादा दाल-भात या रोटी आदि न हो, यह कैसा विचित्र विकल्प है? अस्तु, संभव इच्छाएँ भी देश, काल, परिस्थिति आदि का यथोचित विश्लेषण माँगती हैं ।

सबके साथ घुलमिल कर आडम्बरहीन जीवन जीना ही मानवजीवन का आदर्श है । इसी में शान्ति है, अनाकुलता है । अपने को अलग से प्रदर्शित करने की वृत्ति छोड़ो । पोजीशन का चक्र बड़ा भयंकर है । पोजीशन का पागलपन जीवन को बर्बाद ही करता है, आबाद नहीं । इच्छा के मूल में अपेक्षित यथार्थ आवश्यकता होनी चाहिए, भोग विलास, आडंबर, अहंकार या पोजीशन आदि नहीं। अतः मन में किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही सर्व-प्रथम देखो, कि क्या वह ठीक है, क्या वह संभव है, क्या वह अपने और अपने पड़ोसी के लिए हितकर है, उसकी पूर्ति से तेरा अपना, पड़ोसी का, परिवार का या समाज का अहित तो नहीं है। बस, कम से कम इतनासा विश्लेषण करो, और दृढ़ता के साथ इच्छा पूर्ति के प्रयत्न में जुट जाओ । इस तरह तुम अशान्ति से मुक्त रहोगे, हर क्षण मोर्चे पर एक दिव्य शान्ति का आनन्द लोगे । मैं यह नहीं कहता, कि प्राप्त स्थिति में आवश्यक परिवर्तन न करो, हाथ पर हाथ धरे पौराणिक जड़ भरत की तरह निष्क्रिय पड़े रहो, अजगर वृत्ति का आदर्श अपनाओ । मेरा कहना केवल इतना ही है, कि विवेक के प्रकाश में जीवन का युद्ध लड़ो । असंभव एवं अनपेक्षित विकल्पों के अर्थहीन चक्र से बचो । जीवन धरती है, आकाश नहीं ।

धरती पर उड़ा नहीं, चला जाता है । यह ठीक है, कभी-कभी दौड़ भी सकते हैं।
पर, यह दौड़ आँख बन्द करके नहीं, आँख खोल कर होनी चाहिए ।

अगस्त १९७६

प्रतिक्रमणं परमौषधम्

भूल या गलती, कुछ भी कहा जाए, जीवन की एक विकृति है। यह विकृति असंख्य स्वरूपों में, कुरूपों में अविर्भूत होती है। कितनी ही बार तो यह ऐसी मोहक छवि में आती है कि भूल भूल के रूप में पहचानी भी नहीं जाती। भद्दी, गन्दी करूप भूलें, कभी-कभी तो इतनी सुन्दर सुरूप वेषभूषा में मन के रंगमंच पर अवतरित होती हैं, कि साधारण व्यक्ति उनका तिरस्कार कर ही नहीं सकता। तिरस्कार के बदले उनका आदर-सत्कार करता है और अपने को इस स्थिति में धन्य समझता है। शूर्पणखा अप्सरा बन जाती है, राक्षसी से देवी का रूप धारण कर लेती है। कौन है, जो इस चमक-दमक में उसके सर्वनाशी माया-जाल में न फँस जाए? स्वयं राम ही, राम-स्वरूप ही, राम के अनुयायी लक्ष्मण ही शूर्पणखा को पहचान सकते हैं, फिर भले, वह कितनी ही सर्वांग-सुन्दरी देवी के रूप में आए, उत्तेजक हाव-भाव दिखाएँ।

संक्षेप में भूलों के तीन रूप :

भूलों के वैसे तो असंख्य रूप होते हैं। परन्तु हम यहाँ उन्हें तीन रूपों में वर्गीकृत कर लेते हैं। वर्गीकृत होने पर, भूलों के बिखरे हुए रूप जल्दी समझ लिए जाते हैं। उन्हें आसानी से पकड़ा जा सकता है, परिमार्जित भी किया जा सकता है।

प्रथम वर्ग अज्ञान जनित भूलों का होता है। समझ कम है, बुद्धि विकसित नहीं है, भोला-भाला भद्र व्यक्ति है। वह वस्तु स्थिति को कुछ-का-कुछ समझ लेता है, और हास्यास्पद भूलें कर बैठता है। ऐसे व्यक्ति के मन में संकल्पित बुराई जैसी, किसी का अहित करने या अपना स्वार्थ साधने जैसी कोई दुरुवृत्ति नहीं होती है। फिर भी नासमझी के कारण ऐसी भूलें हो जाती हैं, जिनसे किसी का थोड़ा बहुत अहित भी हो सकता है। ऐसी अज्ञानजन्य भूलें प्रायः समाज में क्षम्य होती हैं, धर्म के क्षेत्र में भी क्षम्य ही होती हैं। नादान बालक

अपने पिता की मूँछे खींच लेता है, माता के मुख पर तमाचा मार देता है, लात भी मार देता है । इत्यादि भूलें साधारण नहीं असाधारण हैं, यदि कोई समझदार वयस्क व्यक्ति करे, तो प्रतिकार स्वरूप उसे कठोर दण्ड भी मिल सकता है । परन्तु नादान शिशु के लिए ऐसा कुछ नहीं होता, क्योंकि वह अज्ञान है, उसे अपने कर्म के प्रति कुछ होश नहीं है । प्रारंभिक स्थिति में वह अपने को प्रेम से गोद में लेकर खेलने वाले व्यक्ति के बहुमूल्य स्वच्छ वस्त्रों को भी मल-मूत्र से गन्दा कर देता है । बताइए, क्या किया जाए उसका । क्षमा के ही योग्य है वह, दण्ड के नहीं । और क्षमा भी क्यों? ये भूलें तो अज्ञानजन्य होने से भूल मानी ही नहीं जाती । भूल मानें, तभी तो क्षमा करने का प्रश्न आता है । यही स्थिति पागल की है । पागल की गालियों, अभद्र व्यवहारों पर कैसा रोष, कैसा क्षोभ । कुछ समझदार बड़े, बूढ़े, वयस्क तरुण भी अज्ञान में ही भूलों के शिकार हो जाते हैं ।

दूसरा वर्ग क्षणिक उत्तेजनाओं का होता है । किसी विपरीत घटना एवं प्रसंग पर व्यक्ति को सहसा आवेश आ जाता है उत्तेजना के कारण भान भूल जाता है और जल्दी में कुछ का कुछ कर बैठता है । क्रोध आ जाता है, परिणाम स्वरूप गाली दे बैठता है, मारपीट भी कर सकता है । यह भूल नोट करने जैसी है । इसे अधिक मूल्य तो नहीं देना चाहिए, सामाजिक क्षेत्र में प्रायः दिया भी नहीं जाता है । फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में जागृति आने पर, विवेक स्फुटित होने पर, साधक अपने अतीत में झँकता है, और उत्तेजना जन्य क्षणिक भूलों का भी प्रायश्चित्त करता है । धूल का एक सूक्ष्म कण भी आँख में गिर जाए, तो उसे निकाला ही जाएगा । यही स्थिति समझदार वयस्क व्यक्तियों के अज्ञान जन्य भूलों के प्रति भी है । ज्यों ही साधक को यह पता लगे, कि वस्तुतः भूल हुई है, अज्ञानता के कारण भ्रमवश मैं उस समय कुछ समझा नहीं था, तो वह तत्काल अज्ञानजन्य भूलों का भी प्रायश्चित्त करता है । कितना करता है, यह प्रश्न नहीं है? प्रश्न है, भूल को भूल मान लेने का, हार्दिक पश्चात्ताप के जागृत होने का ।

तीसरा वर्ग है, योजनाबद्ध की जाने वाली संकल्पित भूलों का । ये भूलें सीधे ही दण्ड के क्षेत्र में आ जाती हैं । इन्हें भूल कहना भी एक तरह से भूल है । यह अपराध का क्षेत्र होता है, सामाजिक दृष्टि से भी । हत्या, हानिकर, झूठ, धोखा, घृणा, वैर, जालसाजी, व्यभिचार, चोरी, देशद्रोह, अप्रामाणिकता, कर्तव्य का अपालन, अधिकार एवं सत्ता का दुरुपयोग, मर्यादा-हीन लोभ-लालच, पैशुन्य,

लांछन-असत्य दोषारोपण, परपरिवाद आदि अनेक रूपों में प्रवाहित है, यह तीसरा वर्ग । यह साक्षात् अपराध भूमिका का वर्ग है। यह वर्ग किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं है । सामाजिक क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति कठोर दण्ड का भागी होता है, और साधना-क्षेत्र में उग्र प्रायश्चित्त का । यहाँ क्षमा का, भूल को भूल जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह जीवन की भयंकर विकृति है, विषाक्त फोड़ा है । इस ओर जरा भी असावधान हुए नहीं, कि समग्र जीवन दूषित । स्वयं व्यक्ति का और समाज का हित इसी में है, कि प्रथम तो इस तरह की पाप-मूलक भूलों के प्रति पहले से ही सजग रहा जाए, ताकि कोई भूल होने ही न पाए । यदि कभी कोई हो जाए, तो तत्काल विवेक के प्रकाश में उसका परिमार्जन कर दिया जाए । तन की अपेक्षा मन पर जमी धूल की परतें भयंकर होती हैं । यह जन्म-जन्मान्तर तक दुःसंस्कारों के रूप में चलती रहती हैं, अन्दर-अन्दर ही फैलती रहती हैं । तन का कैंसर कितना भयानक होता है? यह तो मन का कैंसर है । इसकी भयानकता की कोई सीमा ही नहीं है ।

आज के विश्व में यह पागलपन क्यों ?

आज का विश्व पागलों से भरता जा रहा है । मानसिक रोगों का इतना फैलाव है, कि कुछ पूछो नहीं । अकेले भारत में ही ६ करोड़ के लगभग व्यक्ति मानसिक दोषों के कारण पागल हैं, भयंकर रूप से पागल। और तीन करोड़ के लगभग छिटपुट पागलपन की स्थिति में हैं, जो कभी भी पागलपन की उग्र स्थिति में पहुँच सकते हैं । उक्त मानसिक रोगियों में अधिक संख्या उन लोगों की है, जो कभी कोई अपराध मूलक, अनैतिक भूल कर बैठें, और उसे अन्दर-ही-अन्दर छिपाते रहे, दबाते रहे । बाहर में हँसते रहे, अन्दर में घुटते रहे। भय की तलवार सिर पर लटकी रही । पाप कब तक दब सकता है । एक-न-एक दिन अपराध खुल कर बोलता है, पाप का घड़ा चौराहे पर फूटता है। फलतः मन की ये दुर्वृत्तियाँ उभर कर एक दिन तन पर भी छा जाती हैं, और पागलपन, सनक आदि के नाना रूपों में अपना जौहर दिखाती हैं । अतः तन और मन दोनों ही के स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक है, कि देर-सवेर उनका परिमार्जन कर दिया जाए । देर तो क्या, सवेर ही अर्थात् तत्कालही इसके लिए आवश्यक है । विष के फोड़े को समय देना ही नहीं चाहिए ।

प्रतिक्रमण परमौषधम्

मन की छोटी बड़ी सभी विकृतियों, जो किसी न किसी रूप में, पाप की श्रेणी में आती हैं, उनका प्रतिकार एवं निराकरण करने के लिए जैन-परम्परा में प्रतिक्रमण एक महौषधि है। तन की विकृति जैसे रोग है, वैसे ही क्रम, क्रोध, मद, लोभ आदि मन की विकृतियाँ भी मन के रोग हैं। इनकी चिकित्सा भी आवश्यक है। तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म-जीवन तक ही पीड़ा दे सकता है। किन्तु मन का रोग तो एक बार शुरू होने पर, यदि व्यक्ति असावधान रहा, तो हजारों-हजार, लाखों-लाख जन्मों तक परेशान करता है। भारतीय पौराणिक साहित्य की हजारों जैन-बौद्ध और वैदिक कथाएँ इसकी साक्षी हैं। अतः प्रतिक्रमण के द्वारा मानसिक विकृतियों का तत्काल परिमार्जन कर लेना आवश्यक है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है — अतीत के जीवन का ईमानदारी के साथ सूक्ष्म निरीक्षण। ज्ञान दृष्टि का बाह्य जगत के दृश्यों से हटाकर अपने अन्दर के जगत में ले जाइए, जीवन का कोना-कोना शान्त भाव से देखिए, कि कहाँ क्या गन्दगी पड़ी है। ज्यों ही कोई गन्दगी दिखाई दे, भगवान की साक्षी से, सद्गुरु की साक्षी से, अपनी अन्तरात्मा की साक्षी से तत्काल उसका पश्चात्ताप कीजिए, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान आदि के रूप में प्रायश्चित्त कीजिए। शल्य अर्थात् कांटा तो निकाल ही दीजिए। और जो व्रण अर्थात् घाव शेष रह जाए, उसको भी साफ कर दीजिए। इतना ही नहीं भविष्य में उस तथाकथित दुर्वृत्ति अर्थात् विकृति से बचे रहने का संकल्प भी लीजिए। पाप न तन में होता है, और न इन्द्रियों में होता है। मन के सिवाय पाप अन्यत्र कहीं नहीं जमा होता है। पाप की चर्बी मन पर जमती है, फैलती है। अतः इस चर्बी से जितना कोई हलका रहेगा, वह उतना ही स्वस्थ रहेगा। प्रतिक्रमण—वह प्राकृतिक चिकित्सा है, जो उक्त चर्बी के कारण स्थूल काय हुए तन को हलका-फुलका बनाती है। मैं मानता हूँ जब तक संसार की भूमिका है, मन पर राग-द्वेष आदि की कुछ चर्बी रहेगी, लोक जीवन के लिए अमुक अंश में वह अपेक्षित भी है। बस, सावधानी इसी बात की है, कि वह तीव्र एवं गाढ़ न होने पाए, उग्र न होने पाए। जैन-दर्शन की परिभाषा में राग-द्वेष रूप कषाय जब मन्द होते हैं, तो वे पुण्य होते हैं और जब वे तीव्र एवं उग्र होते हैं, तो पाप होते हैं। इसलिए इन वृत्तियों को पूर्णतया अभी समाप्त न किया जा सके, तो कम-से-कम इन्हें हलका

तो अवश्य कीजिए । और इन्हें हलका करने का साधन है, सच्चे भाव से किया गया प्रतिक्रमण । जैन परम्परा में तो यह प्रतिक्रमण प्रसिद्ध है ही । बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, ईशाई अन्य परम्पराओं में भी अमुक आलोचना, चिन्तना तथा पद्धतियों के रूप में वह परिलक्षित होता है । तन के कब्ज (मलावरोध) को दूर करने के लिए हर पैथी का चिकित्सक दस्तों की दवा देता है । और मन के कब्ज (विकृतिरूप मलावरोध) को दूर करने के लिए हर सद्गुरु किसी न किसी रूप में प्रतिक्रमण की आध्यात्मिक भाव रूप औषधि देता है । इसके सिवाय दूसरी कोई गति नहीं है ।

पर्युषण : अन्तर्दोषों की चिकित्सा

शब्दार्थ की एवं इतिहास की दृष्टि से पर्युषण का कुछ अर्थ हो, बाहर में। आध्यात्मिक दृष्टि से उसका चिरकाल से एक ही अर्थ है — आत्म-शुद्धि । पर-भाव से हटकर स्वभाव में, आत्मा का आत्म-स्थिति में लीन हो जाना ही पर्युषण है, एकत्र एकान्त वास है । यह पर्युषण जीवन के हर क्षण का पर्युषण है, जो अनादि काल से प्रचलित है । मूल में यह प्रतिक्रमण ही है । हमारी चेतना ने भ्रान्ति के क्षणों में आत्मभाव से बाहर रागद्वेषादि दुर्वृत्तियों के रूप में अपनी मर्यादा का जो अतिक्रमण किया है, उससे वापस लौटकर शुद्ध आत्मभाव में केन्द्रित हो जाना ही प्रतिक्रमण है, और यही पर्युषण है ।

भगवान् पार्श्वनाथ के युग में दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक (वार्षिक) उक्त पाँच प्रतिक्रमणों में से कोई भी प्रतिक्रमण नहीं होता था । आज की प्रथा के अनुसार सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के रूप में जो पर्युषण होता है, वह उस युग में नहीं था। क्योंकि वार्षिक प्रतिक्रमण होता ही नहीं था । उस युग का प्रतिक्रमण था, जब जिस क्षण दोष लगे, कोई विकृति हो, तत्काल उसका परिमार्जन । बात भी ठीक है । हाथ-पैर आदि कोई भी यदि कभी मलमूत्र आदि से गन्दा हो जाए, तो पता लगते ही तत्काल उसे धो लेना चाहिए न ? यह तो नहीं, कि उसकी धुलाई-सफाई को वर्षभर के लम्बे समय पर टाल दिया जाए । तन की धुलाई की अपेक्षा मन की धुलाई तो और अधिक आवश्यक है । वह तो तत्काल ही होनी चाहिए । मन की गन्दगी को वर्षों ढोते रहना, पागलपन नहीं तो और क्या है । अतः जागृत साधक के लिए तत्काल प्रतिक्रमण है, तत्काल पर्युषण है । सच्चे साधक के जीवन का हर क्षण

पर्युषण का क्षण होता है । क्योंकि उसके पर्युषण का सम्बन्ध किसी काल विशेष से नहीं, जीवन से होता है ।

गणधर गौतम के शब्दों में उनका युग वक्रता का, साथ ही जड़ता का युग है । जीवन में न सरलता है, न विवेक-बोध है । अतः उसे क्रिया-काण्ड रूप स्थूल बन्धनों में आबद्ध किया गया । लम्बे चौड़े फैले हुए बाल-क्रिया-काण्ड हमारी श्रेष्ठता के प्रतीक नहीं हैं, अपितु हमारी कनिष्ठता एवं अज्ञानता के प्रतीक हैं । जेल की चौड़ी और ऊँची मजबूत दीवारें जेल के बन्दियों की उद्वेगिता एवं उच्छृंखलता की प्रतीक हैं । साधक तत्काल जागृत न हुआ, उसके लिए दैवसिक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण है । अब भी ठीक तरह से न जगा हो, तो पाक्षिक, फिर चातुर्मासिक और अन्ततः पर्युषण का सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है । धन्य है वह, जो भूली-बिसरी सब भूलों का सच्चे मन से वर्ष के अन्त में पर्युषण के समय तो प्रतिक्रमण कर लेता है, अन्तर्मन की गन्दगी को धो लेता है । दुर्भाग्य से जो अब भी नहीं जगते हैं, उनका क्या होगा? ऐसे लोग साधु तो क्या, श्रावक भी नहीं हैं, सम्यक्-दृष्टि भी नहीं है। शास्त्र की भाषा के अनुसार इतना लम्बा चलने वाला उग्र कषाय भाव सम्यक्-दर्शन की ज्योति को भी बुझा देता है ।

मैं यहाँ शब्द और शब्दार्थ में रूढ़ प्रतिक्रमण की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा अभिप्राय भाव प्रतिक्रमण से है । प्रतिक्रमण केवल मुख से, मस्तिष्क से नहीं, हृदय से होना चाहिए । पवित्रता की भाव-गंगा हृदय में प्रवाहित होती है। मेरा यह आशय नहीं, कि पाठरूप शब्द प्रतिक्रमण न किया जाए । वह किया जाए, पर, उससे आगे बढ़कर अन्तर्-चेतना की गहराई में भी उतरा जाए ।

एक बात और । यह प्रतिक्रमण एवं पर्युषण सर्वांगीण होना चाहिए, एकांगी नहीं । आज का पर्युषण जीवन के विविध आयामों से हटकर एक मात्र क्षमापर्व के रूप में रूढ़ हो गया है । पर्युषण का ही नहीं, विनय का, नम्रता का, सरलता का, सन्तोष का, उदारता आदि का भी पर्व होना चाहिए । जीवन के आध्यात्मिक सौन्दर्य के लिए सभी सद्गुणों का सम्यक् विकास अपेक्षित है ।

सितम्बर १९७६

साहस की दहकती ज्वालाओं में से गुजरिए

आशा जीवन है और निराशा मरण ! आशा रात्रि के बाद स्वर्णिम प्रभात है, और निराशा मध्य अमा का सघन अन्धकार ! आशा विजय का स्वप्न है और निराशा घोर पराजय की प्रतिध्वनि !

जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं, जय-पराजय के एवं हानि-लाभ के अच्छे-बुरे प्रसंग उपस्थित होते हैं । जीवन-पथ सीधा-सपाट राजमार्ग नहीं है । यह तो पहाड़ों की उँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी दुर्गम पगडंडी है । संभल कर चलना है, एक-एक कदम । सांस फूल सकता है, छाती में दर्द हो सकता है, घुटने दर्द से पीड़ित हो सकते हैं । कण्ठ सूख सकता है, सिर चकरा सकता है । यह सब संभव है । आखिर पहाड़ की चढ़ाई है न? परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि यात्रा छोड़ कर बीच में ही कहीं लमलेट हो जाओ, मुर्दे की तरह पसर जाओ, हिम्मत हार जाओ और पुकारने लगे, कि बस अब नहीं चलना है, यहीं दम तोड़ देना है, मर जाना है । थक गये हो, तो कुछ देर के लिए विश्राम कर सकते हो। पर यह विश्राम और अधिक दृढ़ता से पुनः आगे बढ़ने के लिए होना चाहिए ।

सुख के साथ दुःख लगा हुआ है । दोनों सहोदर बन्धु हैं । एक का स्वागत करते हो, तो दूसरे का तिरस्कार क्यों? कभी-कभी सुख की अपेक्षा दुःख की चोट ही अधिक निर्माण करने वाली होती है । मिट्टी का कच्चा घड़ा आग में तपकर ही सुर्ख होता है, जल धारण करने की क्षमता प्राप्त करता है । अन्यथा कच्चा घड़ा तो पानी लगते ही गल कर पुनः वही पहलेसा मृत्पिण्ड हो जाता है । ताप पहले असह्य लगता है, पर बाद में वही जीवन को कार्यक्षम एवं यशस्वी बनाता है ।

वृक्ष पर लगा फल जब तक कच्चा रहता है, खट्टा और दुःस्वादु बना रहता है । परन्तु सूर्य की तप्त किरणों का स्पर्श पाकर फल जब पकता है, तो कठोर से कोमल हो जाता है, खट्टेसे मधुर तथा सुस्वादु बन जाता है ।

सुवर्ण अग्नि में तप कर, कसौटी पर कसा जाकर, हथौड़े की चोट सहन करके ही चमक पाता है, निखरता है । अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए हर स्वर्ण खण्ड को अग्नि परीक्षा में से गुजरना होता है - 'दग्धं-दग्धं पुनरपि पुनः कांचनं कान्त वर्णम्' ।

चन्दन शिलापट्ट पर घिसा जाता है, रगड़ा जाता है, तभी अपनी सुगन्ध का विस्तार पाता है, अनेक रोगियों की दुःसह पीड़ाओं को दूर कर पाता है - घृष्टं-घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम्' ।

इक्षु दण्ड पेरा न जाए, तो अपने में बन्द मधुर रस को कैसे बाहर में प्रवाहित करे ? यह पेरने की पीड़ा का ही प्रभाव है, कि ईख, गुड, चीनी, शक्कर, मिश्री, अनेक विध मिष्ठान और पेय आदि में रूपान्तरित होती हुई लाखों-करोड़ों लोगों को अपने माधुर्य का रसास्वादन कराती है, प्रीति भोजों की शान बढ़ाती है - छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादुचेवक्षुदण्डम्' ।

पत्थर पर हथौड़ा बजता है, छैनी चलती है, अंग-अंग तराशा जाता है, छीला जाता है, तो वह मूर्ति के रूप में देवता बनता है । लाखों के मूल्य से निर्मित विशाल मन्दिर में स्वर्ण सिंहासन पर बैठ कर हजारों भक्तों के द्वारा समर्पित श्रद्धा के बहुमूल्य उपहार पाता है । यदि समय पर यह चोट सहन न कर पाता, तो उस पत्थर का क्या होता ? कहीं किसी फर्श पर गड़ा होता या कहीं शौचगृह (पाखाना) में लगा होता ।

बहुमूल्य वस्त्र कैंची से काटा जा रहा है, खण्ड किया जा रहा है। बड़ी विचित्र दर्दनाक स्थिति है, यह वस्त्र के लिए । परन्तु वस्त्र जब तक इस दुःखद स्थिति में से न गुजरे, तब तक सम्राटों एवं सुन्दरियों के तन का वह दर्शनीय शृंगार कैसे हो सकता है ?

फूल सुई से बिंधकर, धागे में पिरोये जाकर ही माला का रूप लेते हैं और मन्दिर के किसी महनीय देव या उच्च पदस्थ मानव के कण्ठ में सुशोभित होते हैं ।

दुःख और कष्ट, पीडा और बाधा मानव की अन्तः शक्ति के परीक्षण की कसौटी है, जो इस कसौटी पर खरा उतर जाता है, संकटों से पराजित नहीं होता है, कष्टों की आग में काला नहीं पड़ता है, वही जीवन की सच्ची सार्थकता प्राप्त करता है ।

दुःखों के आने पर कभी गलत रास्ता न पकड़ो । अपने मन, वाणी और कर्म की निर्मलता को बरकरार रखो ! यही चरित्र है, जो मानव को कालजयी बनाता है, युग-युगान्तर तक भविष्य की प्रजा के लिए उसे आदर्श रूप में उपस्थित करता रहता है । अन्धकार के क्षणों में भटकते मानव को यह आदर्श चरित्र ही प्रकाश देते हैं ।

मालूम है, राम ने कितने कष्ट सहे हैं । चौदह वर्ष का वनवास, एक राजकुमार को । आज आप कल्पना भी नहीं कर सकते कि ऐसा कैसे हो गया ? पुष्प सी सुकोमल राजकुमारी सीता पति के चरणों का अनुसरण करती है, वन के भयंकर कष्टों को प्रसन्नता से सहन करती है । तभी तो वह भारतीय इतिहास की महानारी है भगवती सीता । रावण के यहाँ इतने भीषण कष्ट सहन किए, कि कथा के श्रवण मात्र से शरीर का रोम-रोम काँप उठता है । कितना भय, प्रलोभन ! पर, सीता है कि वह अपने पवित्रता के पथ से न भय से विचलित होती है, न सुख सुविधा एवं भोग-विलास के रंगीन प्रलोभनों से । तभी तो वह जगज्जननी है, जगदम्बा है ।

कृष्ण का जीवन भी प्रारंभ से ही दुःखों की, कष्टों की दहकती आग में तपता रहा है । राजकुमार होकर भी ग्वालों में पलता है, ग्वालों के साथ जंगल में गायें चराता है । एक दिन पूर्वजों की वंश परंपरागत व्रज-भूमि को छोड़ कर सुदूर अज्ञात प्रदेश सौराष्ट्र में समुद्र तट पर द्वारिका का निर्माण किया जाता है, पश्चात् अनेक युद्धों में संघर्षों में जूझना पड़ता है । एक के बाद एक द्वन्द्व ही द्वन्द्व, संघर्ष ही संघर्ष ! आज कोटि-कोटि भक्तों के हृदय का देवता विपत्तियों के कितने भयंकर वात्स्याचक्रों में से गुजरा है, तब कहीं विश्व-वन्दनीय हुआ है, वह !

महावीर और बुद्ध की जीवन गाथायें भी कण्टकाकीर्ण पथ पर से गुजरने की गाथाएँ हैं । ये विराट भगवदात्माएँ कठोर साधना की जलती आग में तपकर ही पवित्र हुए हैं । कितने घोर परिषह और उपसर्ग सहन किए हैं, अपनी साधना की यात्रा में !

जीवन संगम है । यहाँ हर क्षण जूझना पड़ता है, कष्टों एवं संघर्षों के दावानल में तपना पड़ता है । कल का मुख आज के दुःख के पीछे खड़ा है । अतः दुःख से प्रथम भेंट होना जरूरी है । अगर दुःख से डर कर भागे नहीं, तो समय पर दुःख के पीछे छिपे हुए सुख के दर्शन भी हो जाएँगे । मुझे एक बार गरीब घराने का एक शिक्षित युवक मिला था । इधर-उधर बहुत भटका, पर कहीं नौकरी नहीं मिली और न कोई धंदा । रोटियों का मुहताज । इतना निराश, कि रेल से कट कर मरने की सोच रहा था । मैंने उसे धैर्य दिया, साहस बँधाया। समझाया, कि मरने से क्या होगा ? क्या तुझे पता है, कि मरने के बाद का जीवन तेरे इस वर्तमान जीवन से अच्छा होगा । अगले जन्म में तू कहीं का सम्राट या धनकुबेर ही बनने वाला है, क्या यह निश्चित है? क्या इससे भी खराब जीवन नहीं मिल जाएगा ? पतझर ही क्यों देखता है ? पतझर के बाद वसन्त भी तो आता है । रात के बाद दिन भी तो आता है । अपने भविष्य के प्रति भरोसा रख । नर जन्म यों ही विष खाकर, जल में डूबकर या रेल के नीचे कट कर मरने के लिए नहीं है । एक वीर पुरुष की तरह गरीबी से, गरीबी के दुःख से संघर्ष करो । आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों जीवन की दुःस्थिति पर विजय प्राप्त किया जा सकता है । सुख, दुःख दोनों में से कोई स्थायी नहीं है । राजस्थानी कहावत है - बारह वर्ष में तो कुरडी (गाँव के बाहर पड़ा रहने वाला कूड़े कचरे का ढेर) का भाग्य भी जग जाता है । चक्र की तरह सुख दुःख बदलते रहते हैं । घूमते रहते हैं । 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ।'

युवक की प्राण शक्ति लौट आई । आँखों में आशा की ज्योति पुनः दीप्तिमती हो उठी । बोला - "भगवन ! आशीर्वाद चाहिए आपका । मैं जीवन की अन्तिम साँस तक अपने अभ्युत्थान के लिए संघर्ष करूँगा ।" मैंने कहा - "आशीर्वाद हर श्रद्धा को साथ है ।" भगवान महावीर ने कहा है - 'जीओ, शान के साथ जीओ । साथ ही दूसरों को भी जीवित रहने के लिए हर संभव सहयोग दो ।' एक बोल है, याद रखना :

“खुश रहना , खुश रखना,
जीना और जिलाना
नाथ, मेरे जीवन का
बस, एक यही हो गाना । ”

कुछ वर्षों बाद वही युवक मुझे फिर मिला । उसको एक अच्छी नौकरी मिल गई थी । जल्दी ही तरक्की पाकर ऊँचे पद पर पहुँच गया था । उसी के शब्दों में अब वह सब तरह सुखी था ।

समय पर सब ठीक हो जाता है । अपेक्षा है, डगमगाते क्षणों में कुछ देर कदम जमाये रखने की । दुनिया भर से पराजित हो सकते हो, ठोकरें खा सकते हो । कोई हर्ज नहीं है । पर, सावधान ! अपने को अपने से कभी पराजित न होने देना, स्वयं स्वयं को ठोकर न लगाना । निराशा खुद अपने हाथों अपनी हत्या करना है । तुम दुःख की, अपमान की अभाव की और पराजय की क्षणभंगुर घड़ियों को यदि मुस्करा कर पचा सको, विघ्न-बाधाओं को एक शूर-वीर विजेता की आवाज में ललकार सको, तो फिर दुनिया की कोई शक्ति नहीं है, जो तुम्हें पराजित कर सके, ठोकर मार कर गिरा सके । आदमी अपनी ही निराशा की, दुर्बलता की ठोकरों से गिरता है । संसार में जहाँ हजारों राजाओं को रंक होते देखा है, तो वहाँ लाखों ही रंकों, दरिद्रों, कंगालों को राजा होते भी देखा है । तुम रंक से राजा होने के इस उज्ज्वल पक्ष को क्यों आँखों से ओझल करते हो? तूफानी प्रवाह में नाव के डूब जाने पर भी नाविक तैरने का उपक्रम करता है, और वह उपक्रम में सफल भी होता है, सकुशल तट पर पहुँच जाता है ।

दुःख और वेदना के गर्भ से ही अनेक इतिहास प्रसिद्ध महान कार्यों का जन्म हुआ है । सुख में आदमी सोता है, और दुःख में जागता है, और जो जागता है, वह पाता है । जागरण में ही मन के सुनहरी स्वप्न रूपायित होते हैं । सुख के समान ही द्वार पर कभी दुःख आता है, तो उसका भी हँसते दिल-दिमाग से स्वागत करो । वह भी एक मित्र है । सुख से भी अच्छा मित्र ।

मैंने जो कुछ ऊपर कहा है, उसका यह अर्थ नहीं है, दुःख और विघ्न-बाधाओं के आगे संघर्ष के अपने हथियार डाल दो, उनका प्रतिकार न करो।

प्रतिकार करो, साहस के साथ करो । परन्तु धैर्य के साथ करो । जल्दबाजी में गड़बड़ा न जाओ । अंट-संट कुछ न करो । योजना बद्ध युद्ध ही विजय दिलाता है। देर कितनी ही लगे, निराश न हों । अन्तिम विजय तुम्हारी है, आज हो या कल, काल गणना का कोई प्रश्न नहीं है । सावधान ! हड़बड़ाहट में कोई गलत काम न कर बैठना, पथ-भ्रष्ट न हो जाना । आपत्ति काल में ही आदमी के दिल और दिमाग की सही परीक्षा होती है । कैसी भी स्थिति हो, तूफान हो, संज्ञावात हो, आत्म-श्रद्धा का दीप बुझने न पाए । अपितु वह अधिकाधिक प्रज्वलित होता रहे । बस, वह गया अन्धकार । वह आया जगमगाता प्रकाश । आशा जीवन का प्रकाश है ।

“आशा जीवन की परिभाषा” ।

अक्तूबर-नवम्बर १९७६

महामन्त्र : संकल्प

मानव की सबसे बड़ी अजेय शक्ति उसकी संकल्प शक्ति है । आज तक की अपनी सुदीर्घ जीवन-यात्रा में मानव जाति ने जो प्रगति की है, जो विकास किया है, अपने वनवासी अर्ध पशु जीवन में से निकलकर जो मानवीय सभ्यता, संस्कृति एवं समाज आदि का निर्माण किया है, उसके मूल में उसकी विराट संकल्प शक्ति का ही महत्त्व है ।

महाश्रमण तीर्थंकर महावीर ने आध्यात्मिक जीवन के विकास का पहला सोपान श्रद्धा को ही बताया है । श्रद्धा अर्थात् आत्म-विश्वास, आत्म-निष्ठा, आत्मानुभूति, अपने 'स्व' में और 'स्व' की शक्ति में अवचित प्रतीति । एक सूत्र है, अध्यात्मिक-दर्शन का बहुत प्राचीन कि - 'सद्धा परम दुल्लहा' । एक और सूत्र है - 'दंसण मूलो धम्मो ।' दर्शन अर्थात् आत्म-दर्शन, अपनी शक्ति का, अपनी योग्यता का, अपने उपादान का दर्शन, अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण । मनुष्य जैसा अपने को देखेगा, सोचेगा, मानेगा, वह वैसा बनेगा । अपने को दीन-हीन, तुच्छ, बेकार, कायर समझेगा, तो निश्चित है, वैसा ही बन जाएगा, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों । और यदि अपने को महान, उन्नत, एवं योग्य समझेगा, तो देर सवेर वह वेसा ही आकार ले लेगा । इसी सन्दर्भ के कर्मयोगी कृष्ण ने भी करुक्षेत्र की समरभूमि में हताश, खिन्न अर्जुन को सम्बोधित किया था - 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' मनुष्य श्रद्धामय है, वह श्रद्धा से निर्मित होता है । जो जैसी श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प रखता है, वह वैसा हो बन जाता है ।

मनुष्य पतित क्यों है? वह क्यों नहीं बन्धन मुक्त हो पाता? वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, ईर्ष्या, दंभ, प्रमाद, भय या वासना आदि

दुर्बलताओं के सघन अन्धकार को तोड़ कर क्यों नहीं ज्योतिर्मय हो पाता? उत्तर स्पष्ट है, कि जब तक दृढ़ संकल्प शक्ति नहीं जागृत होती है, आत्म-श्रद्धा का बल स्फुरित नहीं होता है, तब तक दुर्बलताओं से मुक्ति नहीं हो सकती। यदि संसार में कुछ बनना है, यदि कुछ कालजयी सत्कर्म करना है, मन के सुनहले स्वप्नों को साकार बनाना है, तो कर्तृत्व की संकल्प शक्ति को वज्रवत् सुदृढ़ करना होगा।

कुछ लोग कहा करते हैं - “क्या करें। करना चाहते हैं - कुछ अच्छा काम, पर हो नहीं पाता। कोई न कोई विघ्न आ जाता है, और काम बीच में ही रह जाता है।”

मैं कहता हूँ - “यह सब बचाव की अर्थहीन बातें हैं। संकल्पहीन अधूरे मन से जो काम शुरू किए जाते हैं, वे कैसे पूर्ण हो सकते हैं। कर्म के मूल में दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए, प्राणों तक की आहुति देने की तत्परता होनी चाहिए, फिर देखिए, सफलता और सिद्धि चरण स्पर्श करती है या नहीं?”

“वह कौन-सा उकड़ा है, जो वो हो नहीं सकता;
हिम्मत करे तो इन्सां, क्या हो नहीं सकता।”

आत्मा में अनन्त शक्ति का स्रोत प्रवहमान है। वह आलस्य, तंद्रा, कुण्ठा, संत्रास एवं हीन-भावना के नीचे दबा पड़ा है। मैं कुछ नहीं, इस यही सबसे बड़ा पाप है और यही पाप है, जो समय पर सत्य पर कुछ करने नहीं देता, चलने नहीं देता। दृढ़ता के साथ तनकर कुछ अच्छा करने के लिए खड़े हो जाओ, फिर देखो कि निर्धारित संकल्प पूर्ण होता है या नहीं? नहीं का प्रश्न ही नहीं है। पूर्ण होगा, होगा, अवश्य होगा।

सुना है, मदर टेरेसा के पास सम्पत्ति के रूप में केवल इनेगिने पाँच शिलिंग थे, और वे यत्र-तत्र कितने ही अनाथालयों की स्थापना का विचार कर रहीं थीं, योजना बना रही थीं। लोग बातें सुनते तो हँसते और पूछते - “कितनी पूँजी है, आपके पास?”

वे मुस्कराकर उत्तर देतीं - "पाँच शिलिंग और बहुमूल्यवान संकल्प ।"

और आज देखा जा सकता है, दूर-दूर तक के प्रदेशों में, मदर टेरेसा के अनाथ-आश्रमों की एक लम्बी शृंखला है । शानदार, व्यवस्थित, साधन-सम्पन्न, यशस्वी अनाथाश्रम । हजारों अनाथ बालक-बालिकाओं के लिए धरती पर के स्वर्ग धाम !

"क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि दायित्व निबाहो ।
सब कुछ करने की क्षमता है,
यदि तुम करना चाहो ॥ "

मनुष्य अमुक कार्य करने का निश्चय करता है । परन्तु समय पर धूप पड़ने लगती है, या लगने लगती है, वर्षा होने लगती है, और निश्चय बिखर जाता है, कि अच्छा, रहने दो । आज नहीं, कल करेंगे । बस, आज-कल पर गया कि फिर वह कल आता ही नहीं है । आता भी है तो लड़खड़ाते-गिरते-पड़ते कदमों से । इसका परिणाम आता है, कि उसका आना न आना बराबर । यह अपने हाथों अपनी हत्या है । एक बार संकल्प टूटा कि बस, आदमी कहीं का नहीं रहता । संकल्प को दावानल होना चाहिए, दीपक की कँप-कँपाती 'लौ' नहीं। दीपक की लौ हवा के एक हल्के झौंके से बुझ जाती है, जबकि दावानल (वन की आग) तूफानी हवाओं के टकराने से और अधिक भड़कता है, फैलता है, प्रचण्ड होता है । दृढ़ संकल्प मन का दावानल है, जो विघ्न बाधाओं के तूफानों में अधिकाधिक तीव्र एवं दुर्धर्ष हो जाता है । कुछ भी हो जाए, वह टूटता नहीं है लक्ष्य पर पहुँच कर ही विश्राम लेता है । जो चेतना इधर-उधर में न बिखरे, लक्ष्य पर केन्द्रित रहे, वही श्रद्धा है, निष्ठा है, और संकल्प है । मन में यों ही कोई विचारों का बुलबुला उठ, और बस कुछ ही क्षणों में फूट गया, तो वह संकल्प नहीं है । ऐसे अस्थिर विचारों से न कभी कुछ हुआ है, और न होगा ।

अज्ञानता के अँधेरे क्षणों में कभी कुछ गलत आदतें इन्सान को पकड़ लेती हैं, बुराईयाँ अन्दर में डेरा डाल लेती हैं । समय पर कभी किसी सद्गुरु का उपदेश मिलता है, या कभी कोई ठोकर लगती है, तो होश आता है । मनुष्य बुरी आदत छोड़ना चाहता है । पर, यह कैसी बात है, कि छूटती नहीं है ।

बार-बार संकल्प करता है, बार-बार तोड़ता है । आखिर थक जाता है, रोने बैठ जाता है । क्या बात है, यह? कुछ बात नहीं है । ऊपर के मन में बुराई का विद्रोह है, इन्कार है, किन्तु अन्दर के अवचेतन मन में बुराई की मूक स्वीकृति है। अन्तर्मन यदि बलपूर्वक बुराई को ठुकरा दे, अस्वीकृत कर दे, तो फिर मजाल है, कि साधक एक कदम भी बुराई की ओर आकृष्ट हो जाए ! अस्तु, एक क्षण के लिए भी बुराई को सहन न करो । कोई भी बुरा काम शरीर से, वाणी से, मन से न बने - इसलिए पूर्ण संकल्प के साथ सचेष्ट रहो । यदि कभी भूल से कहीं कोई खलना हो भी जाए तो प्रबल इच्छा और पुरुषार्थ के साथ प्रतिकार के लिए खड़े हो जाओ । विजय तुम्हारी निश्चित है । 'हाँ' या 'ना' की तीव्र इच्छा शक्ति ही मँझधार में डूबते व्यक्ति को तट पर पहुँचाती है, भटकते यात्री को मंजिल देती है ।

बुराई का प्रतिकार करने के लिए स्वयं स्वयं का चिकित्सक बनिए, स्वयं स्वयं का शिक्षक एवं निर्देशक बनिए । दूसरों की अपेक्षा अपने आप अपने को प्रशिक्षित करना अधिक अच्छा होता है, उसके अधिक सुखद परिणाम आते हैं। अतः प्रतिदिन प्रातः काल सूर्योदय की प्रकाश-वेला में और सायंकाल शान्त नीरव निशा के क्षणों में यह संकल्प दुहराओ, कि मुझ में आत्म-शक्ति का अक्षय और अनन्त कोष है । एक विराट सागर लहरा रहा है, कर्तृत्व का । मैं बुरी आदतों को छोड़ने की और अच्छी आदतों को अपनाने की अदम्य क्षमता रखता हूँ । मुझ में इतनी आध्यात्मिक-शक्ति निहित है, कि मैं बड़ी से बड़ी और पुरानी से पुरानी बुराई को छोड़ सकता हूँ । मैं अन्धकार में सूर्य हूँ । प्रकाश होगा ही । होगा क्या 'हो रहा है, हो रहा है ।'

प्रतिदिन के शुभ संकल्प की यह प्रक्रिया जीवन-परिवर्तन का महामंत्र है, अपराजित तंत्र है । प्रयोग करके देखा जाए । क्या है ?

दिसम्बर १९७६

प्रश्न है, तुम क्या होना चाहते हो?

नया वर्ष ! सन १९७७ । जनवरी का पहिला महीना और पहला दिन। पूर्व के क्षितिज पर अपने हजारों-हजार सुनहले हाथों (किरणों) को आकाश और धरती पर एक साथ फैलाता हुआ सूर्यदेव उदयाचल पर आ गया है । अन्धकार टूट चुका है, सोती दुनियाँ जाग उठी है । वन-पक्षी अपने आराध्य के स्वागत में समवेत स्वर से कीर्तिगान कर रहे हैं । एक तरह से सब ओर हर्ष है, उल्लास है, आनन्द है । प्रकृति का कण-कण मुस्करा रहा है । पुष्प खिल रहे हैं, महक रहे हैं । लताएँ हवा की गुदगुदाहट से झूम रही हैं, नाच रही हैं । भविष्य के रंगीन स्वप्न जन-जन के मन-मस्तिष्क पर तैर रहे हैं ।

कभी इसी मोहक वातावरण में १९७६ के विगत वर्ष ने भी जन्म लिया । उसका भी आशा और विश्वास के साथ हार्दिक स्वागत हुआ था । अपने जीवन-काल में वह कितनों के हर्ष एवं उल्लास को सुरक्षित रख सका, कितनों के आशा एवं विश्वास को सफल बना सका, यह तो भुक्त-भोगी ही अपना-अपना अनुभव बता सकते हैं । लाखों ही लोग खिल-खिलाकर हँसे हैं, विगत वर्ष में, और लाखों ही लोग बिल-बिलाकर रोएँ भी हैं । विगत वर्ष को किसी ने अच्छा कहा, तो किसी ने बुरा । अपनी-अपनी अनुभूति, अपनी-अपनी मति ।

इस वर्ष का क्या हाल होगा, कुछ कहा जा सकता है? लोग पंचांग पत्रे देख रहे होंगे, कि कौन राजा है इस वर्ष का और कौन मंत्री ? हमारे भाग्य के साथ मेष, वृष, मिथुन आदि क्या-क्या करने वाले हैं, पूछा जा रहा होगा, ज्योतिर्विदों से । भविष्य वाणियाँ हो रही होंगी उलटी-सीधी, कुछ हँसानेवाली तो कुछ रुलाने वाली भी ।

परन्तु..... परन्तु क्या ? परन्तु यह है, कि मानव भविष्य न किसी वर्ष के पास है, न किसी तिथि, लग्न और ग्रह, नक्षत्र के पास । मानव का
(१२१)

भविष्य उसके अपने वर्तमान में है । वर्तमान में जैसा भी कर्म करता है, भविष्य में उसका वैसा ही फल पाता है । वर्तमान का कर्म बीज है, भविष्य के भाग्य-वृक्ष का । अस्तु, आकाश के सितारों में क्या देखना है ? ज्योतिषी के लम्बे-चौड़े कागजी पंचांगों में भी क्या देखना है? जो भी शुभाशुभ देखना है, वह देखो हर क्षण अपने शुभाशुभ कृत आचरण में । कदाचार विषबीज है, तो सदाचार अमृत बीज है । संसार में और कोई बात भले ही असत्य हो जाए, परन्तु कर्म के शुभाशुभ का सत्य कभी झूठा नहीं होता है । यह साक्षियों का सत्य नहीं, अनुभवों का सत्य है । साक्षी भी चाहिए तो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि सैकड़ों ही महामानव एक से एक महान साक्षात् द्रष्टा साक्षी हैं । श्रोता साक्षी से द्रष्टा साक्षी अधिक प्रामाणिक होता है । विश्व के अनेक विराट पुरुषों ने भाग्य का मूल कर्म में देखा है । आज का अच्छा-बुरा कर्म ही, आज का खरा-खोटा आचरण ही, कल का शुभाशुभ भाग्य बनता है ।

कुछ भी हो, सत्कर्म को न भूलना । विघ्न आ सकते हैं, बाधाएँ घेर सकती हैं, यश और अपयश की घटाएँ बरस सकती हैं, मान और अपमान की आंधियाँ झकझोर सकती हैं, परन्तु मानव, तू सत्कर्म के यात्रापथ पर वज्र कदमों से बढ़ता जा । न कभी पीछे हटना, न अगल-बगल में होना और न कहीं रुकना, न कहीं थककर बैठना । सफलता दिव्य शक्ति की विचित्र प्रकृति की देवी है । वह कड़ी-से-कड़ी परीक्षा में अच्छे यशस्वी नम्बरों से पास होने के बाद ही मानव का वरण करती है ।

उद्योगी कर्मयोगी के चरणों में ही ऐश्वर्य नत-मस्तक होता है । विजयश्री उसे ही मिलती है । अतः दैववाद के चंगुल से मुक्त होकर कर्मवाद की उपासना करो । दैव और भाग्य आलसी, निष्क्रिय और निकम्मे लोगों के शब्द-घोष हैं । उत्साही, कर्मठ और साहसी वीर सत्कर्म के पुजारी होते हैं । कोई कुछ भी कहे, वे निःसंकोच, बिना किसी झिझक और ठिठक के अपने पूर्व सुविचारित और पश्चात् निर्धारित कर्म-पथ पर चलते ही रहते हैं । 'आरब्धस्यान्तगमनम्' उनका चिन्तनसूत्र है । जो शुद्ध किया है, उसे पूरा करना है, किसी भी कीमत पर ।

आपका विगत वर्ष कैसा गुजरा है, यह मुझे नहीं पूछना है । अच्छा गया है, तो बहुत अच्छी बात । उससे प्रेरणा लेकर प्रस्तुत वर्ष को उससे भी

और अधिक अच्छा बनाओ । और यदि बुरा गया है, तो रोते क्यों हो ? जैसा भी था चला गया । चला गया क्या, वह तो मर चुका है । अतीत के रूप में अब मात्र उल्लसका शव है, लाश है । वह मृत अब फिर जीवित नहीं होने वाला है । मरे हुए को कोई हजार वर्ष भी रोए तो क्या मरा जिन्दा हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं । यह असंभव है, असंभव ! ' जो बीत गई सो बात गई । '

अब तो आपके हाथों में यह जीता-जागता नया वर्ष है । जो भी करना चाहो, कर सकते हो । जो भी बनना चाहो, बन सकते हो । हर क्षण इतिहास का क्षण है, यदि कोई दृढ़ संकल्प से अपने इतिहास का निर्माण करना चाहे तो । मानव अपने इतिहास का स्वयं निर्माता है । कौन है वह, जो कहीं दूर गगन में बैठा मनुष्य के इतिहास की भली-बुरी घड़ियों का निर्माण कर रहा है ? मानव किसी अन्य के हाथ की कठपुतली नहीं है । जो कुछ भी है, वह अपने हाथ का है । धरती पर मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो ऊँचे आकाश में अपना मस्तक ऊँचा किए चलता है । कर्म के क्षेत्र में हताशा और निराशा का शीर्षसन स्वास्थ्यकारी नहीं है । मस्तक में विवेक का प्रकाश जगमगाता रहे और हाथों में कर्म का सुदर्शन चक्र घूमता रहे । फिर कौन है, जो मानव को जीवन-संघर्ष में पराजित कर सके ।

गए कल में तुम क्या थे, कैसे थे, यह प्रश्न नहीं है । प्रश्न है, आने वाले कल में तुम क्या होना चाहते हो, कैसा होना चाहते हो ? परखा हुआ उत्तर है, आज जैसी तुम्हारी श्रद्धा है, जैसा तुम्हारा विश्वास है, और जैसे श्रद्धा एवं विश्वास के अनुरूप तुम्हारा कर्म है, आने वाले कल में तुम वैसे ही होओगे । ध्यान रखो, क्या सोचते हो, कैसा सोचते हो ? क्या होना चाहते हो, और उसके लिए तन-मन की पूरी शक्ति से क्या करना चाहते हो ? तीर्थंकर महावीर की दिव्य वाणी आज भी शास्त्रों में गूँज रही है ' सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति । दुचिण्णा कम्मा दुचिण्ण फला हवन्ति । ' अर्थात् अच्छे कर्मों का अच्छा फल होता है और बुरे कर्मों का बुरा फल । और कर्मयोग के अमर गायक श्रीकृष्ण कह रहे हैं — ' श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छब्द स एव स । ' अर्थात् मानव श्रद्धारूप है । जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बनता है ।

नये वर्ष को शुभ संकल्पों एवं शुभ कर्मों से शुरू करो । अच्छे कर्म करते जाओ, हँसते जाओ, चलते जाओ । पथ में जो भी मिलें, रोटों को हँसाते जाओ, गिरों को उठाते जाओ । उत्साह के साथ शुभ संकल्पों के दिव्य प्रकाश में कर्म का रथ हाँक दो, सब अच्छा होगा, सब भला होगा ।

‘अर्जुन रथ को हाँक दे,
भली करेंगे—शाम !’

जनवरी १९७७

मैं सबका हूँ, सब मेरे हैं

मानव-हृदय एक विराट अमृत-कुण्ड है । उक्त कुण्ड में अमृत है—‘प्रेम’। यह प्रेमतत्त्व ही है, जो मानवता का विस्तार करता है । मानव के क्षुद्र अहं (मैं) को और मम (मेरे) को दूर-दूर तक हम और हमारे जैसे विराट चिन्तन की अनेक धाराओं में प्रवाहित करनेवाला यह निर्मल प्रेम तत्त्व ही है ।

यह प्रेम ही है, जो माता-पिता के रूप में, पुत्र-पुत्री के रूप में और भाई-बहन के रूप में प्रसार पाता है, व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़कर परिवार बनाता है; परिवारों को परिवारों से जोड़कर समाज का निर्माण करता है । प्रेम न होता तो मानव जंगल में भटकते प्रेत की तरह होता । प्रेत मृत्यु का प्रतीक है! जीवन से सर्वथा दूर !

मानव-हृदय का यह प्रेम ही था, जिसकी कभी यह घोषणा थी, कि—“यह अपना और वह पराया, यह छोटे क्षुद्र हृदय वालों की बात है । जो उदार हृदय हैं, उनके लिए तो धरती पर बसा समग्र विश्व एक अखण्ड परिवार है । कोई पराया नहीं है । सब अपने हैं, सगे-सम्बन्धी हैं ।”

अयं निजः परो वे त्ति, गणना लघुचेतसाम् ।

उदार चरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

एक ओर वैदिक ऋषि उदात्त मानव हृदय ने कहा था कभी — “ यह विश्व एक घोंसला है । हम सब घोंसले में रहनेवाले एक ही जाति के, एक ही परिवार के स्नेहाप्लुत पक्षी हैं । हम-सबका सुख एक है । एक कर्तृत्व और एक भोक्तृत्व ।”

“ यत्र विश्वं भवत्येकं नीडम् ।”

भारत के चिर अतीत में एक युग था, जब मानव हृदय के प्रेम का विस्तार केवल मानव तक ही नहीं, प्राणि-मात्र के प्रति था । इसीलिए तो प्रेम की तरंग में भारत का एक ऋषि आवाज लगा गया है — “ विश्व के सारे के सारे प्राणी मेरे बन्धु हैं; भाई हैं । और मेरा देश कोई छोटा-सा भूखण्ड नहीं है। मेरा स्वदेश भुवन-त्रय है, अर्थात् समग्र विश्व है । विश्व के सभी छोटे-बड़े प्राणी मेरे देश-बन्धु हैं । वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ ।”

“बान्धवाः प्राणितः सर्वे, स्वदेशो भुवन-त्रयम् ।”

हम प्रेम में परस्पर इतने रंग गए थे, घुल मिल गए थे कि हमारी आवाज एक हो गई थी, हमारा मन एक हो गया था, हमारे कदम एक हो गए थे । हम साथ बोलते थे, साथ सोचते थे, और साथ ही मिल-जुल कर एक जूट होकर कर्म करते थे । मन, वाणी और कर्म की यात्रा में हम एक साथ चलने वाले सहयात्री थे । तभी तो शिष्यों के प्रति गुरु का यह दिव्य घोष गूँज रहा था भारत की धरती पर, भारत के आकाश पर कि

“संगच्छध्वम् संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम् ।”

किन्तु खेद है, आज वह प्रेम का अमृत-कुण्ड सूख रहा है । दूर के लोगों के दुःखों की, पीड़ाओं की, अभावों की अनुभूति तो कौन करेगा ? आज तो माता-पिता के दुःख की अनुभूति पुत्र-पुत्रियाँ नहीं करते हैं और पुत्र-पुत्रियों के दुःख की अनुभूति माता-पिता नहीं करते हैं । भाई-भाई एक दूसरे से कट गये हैं । बहन और भाई एक दूसरे को ठीक तरह से पहचान नहीं पा रहे हैं । सारा प्रेम सिमटकर व्यक्ति के क्षुद्र पिण्ड में कैद हो गया है । यही कारण है, कि मिट्टी के अपने इस जड़ पिण्ड के ही सुख-दुःख आज के मानव की अनुभूति में आते हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं ।

पड़ोसी के साथ घर की दीवार से दीवार मिली है एक ओर; किन्तु दूसरी ओर पड़ोसी एक दूसरे से इतनी दूर हैं कि कुछ पूछो नहीं । जड़ दीवारें तो एक दूसरे से मिल सकती हैं, किन्तु चेतनाशील हृदय एक-दूसरे से नहीं मिल पा रहे हैं ।

आज कहा जा रहा है, विश्व सिमट कर निकट से निकटतर हो गया है । संसार इतना छोटा हो गया है सिमट कर, कि जैसे अपने घर के आँगन । आज हजारों मील दूर सागर पार अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों से भारत आदि सुदूर देश ऐसे बात कर रहे हैं, जैसे घरके आँगन में एक-दूसरे के सामने खड़े हुए घर के लोग । एक दिन क्या, आधे दिन की मुसाफिरी में ही आदमी कहीं से कहीं पहुँच जाता है । प्रातःकाल भारत में है, तो मध्याह्न के समय इंग्लैण्ड में और सन्ध्या होते-होते अमेरिका में । यह दूरी भी अब और कम हो रही है । धरती का छोर, स्पष्ट है, घर आँगन के छोर-जैसा बन गया है ।

यह सब हुआ है और हो रहा है । परन्तु खेद है, मानव का हृदय, इन्सान का दिल एक-दूसरे से बहुत दूर होता जा रहा है । पड़ोस के दर्दी की आकाश को चीरती चीखपुकार भी हम पास खड़े सुन नहीं पा रहे हैं । यहाँ बैठे एक क्षण में अमेरिका के दृश्य देख सकते हैं । किन्तु सड़क पर पास ही घायल हुआ अपना मानव भाई हमें दिखाई नहीं दे रहा है । हम व्यक्तिगत स्वार्थ में इतने गहरे डूब गए हैं, कि एक-दूसरे के सुख-दुःख की आवाज हम पास रहते हुए भी कैच नहीं कर पा रहे हैं । क्या इस स्थिति में विश्व सचमुच निकट में आ गया है ? नहीं नहीं, भौगोलिक दूरी के अन्तराल को कम करते-करते हम हृदय के बीच की दूरी इतनी बढ़ा चुके हैं कि उसे पाटना एक तरह असम्भव-सा हो गया है ।

आज सब ओर घृणा, वैर और द्वेष का विष-समुद्र लहरा रहा है । व्यक्ति-व्यक्ति में घृणा है, द्वेष है । जाति-जाति में, वैर है, विरोध है । अभी मैंने लेबनान के गृहयुद्ध का एक चित्र अखबार में देखा है । वामपंथी मुसलमानों ने एक ईसाई युवक को गोली मार दी है और उसके शव को लम्बे रस्से के द्वारा अपने कार से बाँधकर सड़कों पर बेदर्री से घसीट रहे हैं, जानवर की तरह । यह क्या है ? मैं चित्र देखते ही सहसा अवसन्न हो गया । क्या यही धर्म है ? क्या यही ईसाई और मुसलमान धर्म की गौरव-गाथा है । यह घृणा और द्वेष उस धर्म के क्षेत्र में भी घुस आया है, जो विश्व के प्राणि-मात्र को ईश्वर की सन्तान मानने का और परस्पर भाई-भाई होने का जय-घोष करता रहा है । लगता है तनका आदमी तो संख्या की दृष्टि से बढ़ रहा है, पर अच्छे मन का, प्रेम से छलकते दिल का आदमी कहीं नजर नहीं आ रहा है ।

आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को ध्वस्त करने पर तुला है । आये दिन विश्वयुद्ध होने की ललकारें सुनाई देती हैं । अमरीका का शस्त्र-निर्माण के लिए बजट है ७० अरब का । हैरान हैं हम कि ये मौत के दैत्य विश्व की क्या दशा करने की सोच रहे हैं ? क्या ये लोग संसार को मरघट बनायेंगे, और स्वयं प्रेत बनकर उसमें नंगे नाचेंगे ? अगर सचमुच में कोई आदमी है और उसके पास आदमी का ही धड़कता दिल है, तो कम से कम वह तो इतना क्रूर , इतना निर्दय, इतना खूँखार राक्षस नहीं हो सकता ।

एक धर्मगुरु दूसरे धर्मगुरु की निन्दा में, अपभ्राजना में लगा है । एक व्यापारी दूसरे व्यापारी के लाभ को सहन नहीं कर पा रहा है । एक विद्वान का यश दूसरे विद्वान के लिए हृदय को छेद देने वाला भयंकर भाला है । राजकीय क्षेत्र की भी यही दुर्दशा है । टांग पकड़कर एक दूसरे को घसीट रहे हैं । राजनीतिक दल और नेता, केवल शासन की क्षणभंगुर कुर्सी हथियाने के लिए । इधर जबान पर प्रजा के कल्याण का नारा बुलन्द है, और उधर अन्दर मनमें अपने तुच्छ स्वार्थ के जोड़-तोड़ का कुचक्र है ।

अगर आदमी को आदमी के रूप में जिन्दा रहना है तो घृणा और द्वेष तथा वैर और विरोध के हलाहल जहर को हृदय से निकाल कर दूर फेंकना होगा। साथ ही सूखती हुई प्रेमामृत की विश्वकल्याणी धारा को पुनः जन-जन में प्रवाहित करना होगा । हृदय में प्रेम का अक्षय स्रोत है । बिना किसी जाति, राष्ट्र, धर्म और समाज का भेदभाव किए, जन-जन को प्रेम का अमृत रस पिलाये जाओ । कोई कमी नहीं है । कमी है केवल उदात्त संकल्प की, विराट मन की, प्रेम तो प्रेम के मुक्त दान में ही विस्तार पाता है, प्रेम के दान में ही प्रेम का आदान है । प्रेम का दिव्य संगीत जब हर आदमी के दिल में ध्वनित होगा, निःस्वार्थ और निष्काम, तभी धरती पर आकाश का स्वर्ग उतरेगा, तभी धरती के सूखे उपवन में सुख शान्ति एवं आनन्द के पुष्प खिलेंगे ।

प्रभु महावीर का विश्व-मंगल सन्देश नगर-नगर में, गली-गली, घर-घर में गूँजना चाहिए कि ' वेरं मज्झं न केणई ' - ' मेरा किसी के साथ कोई वै- नहीं है, विरोध नहीं है । ' ' भित्ति मे सव्व भूएसु ' सब प्राणियों के साथ मेरी निश्छल एवं निर्मल मैत्री है, पवित्रबन्धुता है । यह वह प्रेम गीत है, जिसका स्वर ठीक तरह यदि मानव-हृदय में मुखरित हो जाए तो कोई पराया

(१२८)

नहीं रहेगा । सब अपने होंगे । वैर विरोध के अतीत को भूल जाओ “ जो बीत गई वह बात गई ।” वैर का बदला वैर से लेना, खून से सने कपड़े को खून से धोना है, आग को आग से बुझाना है । अस्तु, प्रेम और मैत्री के अमर देवता प्रभु महावीर के चरणों का स्मरण कर प्रतिदिन प्रातः और सायं भावना करो कि समग्र विश्व मेरा मित्र है, शत्रु कोई है ही नहीं। मैं सबका हित सबका कल्याण चाहता हूँ..... और अन्य सब मेरा चाहते हैं... मैं तन-मन-धन से सबकी भलाई करूँगा सबकी भलाई में ही मेरी भलाई है सर्वत्र सब ओर प्रेम है, स्नेह है, सद्भावना है, मैत्री है, और इसीलिए सर्वत्र शान्ति है, सुख है, आनन्द है । घृणा और द्वेष की, वैर और विरोध की अन्धकाराच्छन्न काली रात समाप्त हो रही है प्रेम, स्नेह, सद्भावना का स्वर्णिम प्रभात जगमगाता आ रहा है, नए चिन्तन के क्षितिज पर नए विश्व का आलोक फैल रहा है ! जय प्रेम ! जय मैत्री !

फरवरी १९७७

हिंसा और अहिंसा का मौलिक विश्लेषण

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तनक्षितिज पर दो सिद्धान्त प्रकाशमान हुए हैं । एक है विनाश का और दूसरा है अविनाश का । एक पक्ष कहता है - आत्मा का अस्तित्व क्षणभंगुर है । वह अनन्तानन्त काल का यात्री नहीं है । उसका अस्तित्व क्षणजीवी है । दीपक की लौ जलती-जलती कब बुझ जाए, किसे पता है, इस बात का यही स्थिति आत्मा की भी है ।

दूसरा पक्ष अविनाशी वादियों का है । उसका कहना है कि आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है । आत्मा अनन्तानन्त अतीत से विश्व की यात्रा कर रहा है । उसका कभी एक क्षण के लिए भी विनाश नहीं हुआ । और न अनन्तानन्त भविष्य में ही कभी उसका विनाश होगा । शरीर जन्मता है, मरता है । आत्मा न जन्मता है, न मरता है । आत्मा के जन्म-मरण की जो बात कही जाती है, वह देहाश्रित धर्मों का उसपर आरोप है, यथार्थ नहीं ।

प्रथम पक्ष की चर्चा यहाँ अभी प्रस्तुत नहीं है । यहाँ प्रस्तुत है - दूसरा अविनाशी पक्ष । उक्त पक्ष की स्थापना एवं मण्डना भारत के अनेक मनीषियों ने की है । परन्तु उनमें दो महापुरुष इस सम्बन्ध में इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर सुविख्यात हैं, एक हैं 'कृष्ण' और दूसरे हैं 'महावीर' । आत्मा के अविनाशी सिद्धान्त की दोनों ने ही मुक्त कण्ठ से पुरजोर घोषणा की है ।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण

कृष्ण कहते हैं - हे अर्जुन, यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है । और न यह आत्मा एक बार अस्तित्व में आकर नष्ट होता है और नष्ट होकर पुनः अस्तित्व में आता है । क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
 नाज्यं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
 अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः,
 न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ भगवद्गीता २/२०

जैसा यहाँ प्रत्यक्ष में मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा भी यथा प्राप्त पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नए नए शरीरों को प्राप्त होता रहता है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
 नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
 तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
 न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ भ. गी. २/२२

हे अर्जुन, इस अविनाशी आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है । और न इसे जल गीला करके गला सकता है, और न वायु सुखा कर नष्ट कर सकती है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
 नैनं दहति पावकः
 न चैनं क्लेदयन्त्यापो,
 न शोषयति मारुतः ॥ भ. गी. २/२३

जो सत् है वह कभी असत् नहीं होता । और जो असत् है, वह कभी सत् नहीं होता है । अर्थात् सत् सदा सत् है, असत् सदा असत् है । इस प्रकार सत्-असत् दोनों का ही अन्त (तत्त्व एवं यथार्थ रहस्य) तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के द्वारा देखा गया है ।

नास्ततो विद्यते भावो
 नाभावो विद्यते सतः
 उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्-
 त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ भ. गी. २/१६.

(१३१)

आपने देखा, आत्मा के अविनाशी सिद्धान्त की स्थापना, श्रीकृष्ण, कितने सशक्त शब्दों में करते हैं। यह केवल नमूने के तौर पर चन्द उद्धरण हैं। वैसे गीता में दूर-दूर तक आत्मा के अविनाशी सिद्धान्त की वह दिव्य गूँज है, जो व्यक्ति को मृत्यु के भय एवं आतंक से मुक्त करती है।

तीर्थंकर महावीर

तीर्थंकर महावीर भी आत्मा के अजर, अमर, अविनाशी सिद्धान्त के महान् उद्घोषक हैं। अपनी धर्मदेशनाओं में उन्होंने अनेक बार उक्त सिद्धान्त की घोषणा की है। आज भी वह दिव्यवाणी शास्त्र के रूप में हमारे समक्ष है। महावीर कहते हैं -

नत्थि जीवस्य नासोत्ति । उत्तराध्ययन २/२७

आत्मा का कभी नाश नहीं होता।

अन्नो जीवो अन्नं सरीरं । - सूत्रकृतांग २/११

आत्मा और है, शरीर और है। (दोनों भिन्न हैं, अतः शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता।)

उस युग का एक प्रश्न था। ठीक है, आत्मा का मूलद्रव्य नष्ट नहीं होता, किन्तु वह दूसरे रूप में परिणत तो हो सकता है, जीव से अजीव तो बन सकता है। महावीर इस धारणा का भी सर्वतोभावेन निषेध करते हैं -

ण एवं भूतं वा भव्वंवा भविस्सति वा जं ।

जीवा अजीवा भविस्संति,

अजीवा वा जीवा भविस्संति ।

-स्थानांग, दशमस्थान

न कभी अतीत में ऐसा हुआ है, न वर्तमान में भव्य-होने योग्य है, और न कभी भविष्य में ही होगा कि जो जीव है, वे अजीव-जड़ हो जाएँ और जो अजीव हैं, वे जीव-चेतन हो जाएँ।

(१३२)

जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवद्धिया। - भगवती सूत्र २/८

जीव-आत्माएँ न बढ़ती हैं, न घटती हैं, किन्तु सदा अवस्थित (हानिवृद्धि से रहित एक समान, एकरूप) रहती हैं ।

अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ।

अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है । अर्थात् सत् सदा सत् रहता है और असत् सदा असत् ।

ये कुछ नमूने हैं, जो महावीर के विचार सागर में से उदघृत किये हैं । इस प्रकार अविनाशी सिद्धान्त के सैकड़ों ही वचन हैं, जो आगम और आगमोत्तर साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं ।

भयमुक्ति का सन्देश

दोनों ही महापुरुषों के ये आत्म-सम्बन्धी अविनाशी सन्देश भयमुक्ति के सन्देश हैं । संसार में मरण का भय सबसे बड़ा भीषण भय है । मरण-भय के क्षणों में व्यक्ति कुछ का कुछ कर बैठता है । कर्तव्य और अकर्तव्य का, धर्म और अधर्म का, पुण्य और पाप का, स्व और पर के हिताहित का, शुभाशुभ का, कुछ भी भान नहीं रहता है, मृत्यु के आतंकित प्रसंगों में । महावीर तो यहाँ तक कहते हैं कि भयभीत व्यक्ति को सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। कृष्ण भी दैवी सम्पत्ति के गुणों में सर्व प्रथम 'अभय' का निर्देश करते हैं । जो मनुष्य बात-बात पर भयाकुल हो जाता है, मृत्यु के संकल्पों में रहता है, हर क्षण डरता रहता है, वह देर सबेर विक्षिप्त की भूमिका में पहुँच जाता है । यह एक प्रकार का असाध्य या दुःसाध्य पागलपन है । इसीलिए महावीर का बोध है - "आकस्मिक होने वाले उपद्रवों से, व्याधियों (मन्दघातक कुष्ठादि रोग) से, रोगों (शीघ्र घातक विसूचिका-हैजा और हृदय रोग हार्टफैल आदि) से, जरा-बुढ़ापे से, और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नहीं चाहिए" -

न भाइयव्वं भयस्स वा वाहियस्स वा,

रोगस्स वा, जराए वा, मच्चुस्स वा । प्रश्नव्याकरण २/२

(१३३)

दोनों ही महापुरुषों के प्राप्त जीवन वृत्तों का अवलोकन करते हैं, तो यह 'अभय' की ज्योतिर्मयी वृत्ति दोनों में ही इतनी अधिक प्रकाशमान है कि सहसा विस्मयमुग्ध हो जाता है अन्तर्मन । भयंकर से भयंकरतम, विकट से विकटतम लोमहर्षक प्रसंग हैं, दो-चार नहीं अनेक-अनेक, यदि कोई दूसरा हो तो एक क्षण भी खड़े पैरों नहीं रह सकता; तत्काल धराशायी होता नजर आए । परन्तु ये वे वीर पुरुष हैं, जो एक पल भी विचलित हुए बिना धैर्य एवं साहस के साथ जूझते रहे हैं भय एवं आतंक के समक्ष । यह बात और है कि जूझने के अन्तिम क्षण तक, विजय पाने के तौर तरीके दोनों के अपने-अपने भिन्न हैं । परन्तु यह अक्षुण्ण सत्य है कि हैं दोनों ही महान अपराजित व्यक्तित्व के धनी ।

भयमुक्ति के सन्देश में अन्तर कहाँ है ?

आत्मा के अविनाशी स्वरूप को माध्यम बनाकर दोनों ही विराट भयमुक्त आत्माओं ने भयमुक्ति का सन्देश दिया है । उपयोगितावाद की दृष्टि से अविनाशी सिद्धान्त का पर्यवसान भयमुक्ति में ही होता है । किन्तु दोनों के भयमुक्ति आदर्शों में एक गूढ़ सी रहस्यमयी भेदरेखा है, जिसे जान लेना आवश्यक है ।

श्रीकृष्णने यह भयमुक्ति का सन्देश कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दिया है । अर्जुन युद्ध का दृढ़ संकल्प लेकर समरांगण में उतरता है । परन्तु अपने गुरुजनों एवं बन्धु बान्धवों को सामने युद्धार्थ सन्नद्ध देखकर उसके मन को ऐसा कुछ हो जाता है कि उसके हाथ पैर शिथिल हो जाते हैं, मुख सूख जाता है, शरीर काँपने लगता है और रोमांचित हो जाता है । उसकी त्वचा जलने लगती है । विजय का एक मात्र साधन गांडीव धनुष हाथ से गिरने लगता है । और वह सचमुच ही धनुष बाण एक ओर फेंक कर रथ में घम से बैठ जाता है । उसका दिमाग चक्कर खाने लगा । वह खड़ा नहीं रह सका । इस सम्बन्ध में स्वयं अर्जुन के शब्द हैं गीता के प्रथम अध्याय में, जो उसने अपने आराध्य भगवान कृष्ण से कहे हैं—

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ॥

गाण्डीवं संभ्रते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ १।२९.३० ॥

(१३४)

अर्जुन के मन में यह तूफान क्यों खड़ा हुआ, इस सम्बन्ध में खास कुछ कहा तो नहीं जा सकता । हाँ, अर्जुन स्वयं जो कहता है, वह विचारणीय है । वह युद्ध में अपने मरने की बात नहीं करता है । बार-बार स्वजनों के मरने की चर्चा करता है । 'स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माघव ।' माघव, अपने परिवार के लोगों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? 'कुलक्षयंकृतं दोषं ।' यह कुलक्षय का पाप है । पापमेवाश्रयेदस्मान्, हत्वैतानाततायिनः ।' — इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा । 'अहो बत महत्पापं, कर्तुव्यवसिता वयम् ।' खेद है कि हम महान पाप करने को तैयार हुए हैं । इस प्रकार अर्जुन, स्वजनों की हत्या के पाप की चर्चा करता हुआ करुणा की बात करता है, साथ-साथ रोता भी जाता है—'तं तथा कृपयाऽऽविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।' और अन्त में श्रीकृष्ण को स्पष्ट कह देता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—'न योत्स्ये ।'

श्रीकृष्ण अर्जुन की इस स्थिति को करुणा नहीं, अज्ञान बताते हैं, और बड़े कठोर शब्दों में 'नपुंसकता' हिजड़ापन बताते हैं, 'कुतस्त्वा कश्मलभिदम्, क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम् अनार्यजुष्टम्-बलैर्बलं मास्म गमः पार्थ ।' और अर्जुन है कि भीख माँगकर गुजारा करने के लिए तैयार है, किन्तु स्वजनों की हत्या के खून से रंगे हुए वैभव को भोगने के लिए कथमपि तैयार नहीं है—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके । भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।'

बड़ी विषम स्थिति है । अर्जुन स्वजनों के मोह में है और स्वजनों की हत्या से होने वाले पाप से भयभीत है । कुलक्षय के पाप से अनियतकाल तक नरक में सड़ते रहने से डरा हुआ है । 'नरकेऽनियतं वासो भवति ।' ऐसी स्थिति में कृष्ण करें तो क्या करें ? उन्होंने आत्मा के अविनाशी स्वरूप का सिद्धान्त उपस्थित कर अर्जुन को सम्बोधित किया, जैसा कि पहले उल्लेख कर आए हैं — कि "आत्मा अजन्मा है, अजर है, अमर है, अविनाशी है ।" कौन कहता है—आत्मा मरता है, मारा जाता है । आत्मा को न कोई मार सकता है, न वह मर सकता है —'विनाशमव्ययस्याऽस्य, न कश्चित् कर्तुमर्हति' 'नाज्यं हन्ति न हन्यते ।' अतः अर्जुन, आततायियों के मारने में तुझे पाप नहीं है । अस्तु, निर्भय होकर युद्ध कर । 'तस्मात् युद्धस्व भारत ।' युद्ध करने में, हत्या होने में पाप नहीं है । पाप है, इस धर्मयुक्त युद्धके न करने में । 'धर्म्य संग्रामं न करिष्यति-पमवाप्स्यसि ।' गीता का यदि गहराई से चिन्तन करें तो

स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि श्रीकृष्ण भयमुक्ति के लिए आत्मा के अविनाशी सिद्धान्त का जो उपदेश दे रहे हैं, वह किसी साधारण उपद्रव जन्य भय या मृत्युभय तक ही सीमित नहीं है। अपितु किसी भी हिंसा से होने वाले संभावित पाप के भय से मुक्ति का संदेश है। यह सत्य है कि कृष्ण की दृष्टि में यह हिंसा धर्म हेतु होनी चाहिए।

तीर्थंकर महावीर का आत्मा के अविनाशी सिद्धान्त से प्रति-फलित होने वाले भयमुक्ति का आदर्श भिन्न है। वे उक्त सिद्धान्त का उपदेश अहिंसा के महाव्रती साधक को देते हैं। उनका यह उपदेश साधक को अपनी मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए है। पूर्ण संयमी गृहत्यागी साधक जब किसी आकस्मिक मृत्यु के चक्र में फँस जाए, रोगादि की घातक स्थिति हो जाए, उपद्रवियों के आक्रमण का मरणान्त आतंक आ खड़ा हो, तब महावीर कहते हैं— डरो मत। रोओ मत। इधर-उधर गलत मार्ग पर भागो मत। जहाँ तक हो सके, भय का उचित एवं सात्त्विक प्रतिकार करो। फिर भी समाधान न हो पाये तो वीरता के साथ धर्मयुक्त मरण का वरण करो। आत्मा अविनाशी है, अतः तुम नहीं, तुम्हारा शरीर मरता है। महावीर का यहाँ उपदेश साधना की अन्तिम उच्च भूमिका से सम्बन्धित है। नीचे की भूमिकाओं में तो वे भी प्रतिकार की बात करते हैं। अहिंसा के अनेक अपवाद उन्होंने भी बताए हैं। अपवाद स्थिति में अल्प पाप या पापाभाव की बात वे भी करते हैं। पर, यह सब अन्तरंग में वीतराग-भाव की निर्द्वन्द्व भूमिका पर आधारित है। उनका जीवन दर्शन है — प्रमाद ही पाप है कर्म है, बन्धन है। और अप्रमाद पवित्र है, मुक्ति है, अकर्म है। प्रमाद न हो तो कर्म भी अकर्म है। “ पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाज्वरं । ” प्रमाद है — अज्ञान, अविवेक, मोह। इसी बात को महावीर के परम्परागत शिष्य जिनदास महत्तर अपने शब्दों में यों दुहराते हैं— “ पमायमूलो बन्धो भवति ’ नि.चू.६६८९ । कर्मबन्ध का मूल प्रमाद है। इसका अर्थ है— शरीर की बाह्य प्रवृत्ति बन्ध का हेतु नहीं। बन्ध का मूल हेतु है — अन्दर की प्रामादिक वृत्ति। आचार्य जिनभद्र ने भी, जिन्हें कलिकाल के अज्ञान अन्धकार में ज्ञान का प्रदीप कहा गया है, विशेषावश्यक भाष्य (गा. १५२९) में यथार्थ तात्त्विक घोषणा की है कि ‘ असुभो जो परिणामो सा हिंसा । ’ आत्मा का अशुभ परिणाम, भाव ही हिंसा है। इसका अर्थ है शरीर की हिंसा हिंसा नहीं है, मन की हिंसा ही हिंसा है। तीर्थंकर महावीर के निकट के उत्तराधिकारी चतुर्दश पूर्वधर, महान श्रुतकेवली भद्रबाहु की दृष्टि में केवल बाहर की दृश्यमान हिंसा से

ही कोई हिंसक नहीं हो जाता । यदि साधक अन्दर में शुद्ध है, तो बाहर की हिंसा निष्फल है— अर्थात् पाप न होने से अबन्धक है । इतना ही नहीं, वह विवेक के प्रकाश में कर्म-निर्जरा का हेतु भी है :-

न य हिंसामित्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई ।

सुद्धस्स उ संपत्ति अफला भणिया जिणवरेहि ॥

सा होई निज्जरफला, अज्जात्थ-विसोहिजुत्तस्स ।

ओघनिर्युक्ति गा. ७५८-५९

यह सब वर्णन गृहत्यागी उच्च संयमी भिक्षु का वर्णन है । गृहस्थ पूर्ण रूप से ममता एवं स्वार्थ के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता । उसे अपने राष्ट्र, समाज, परिवार, धनसंपत्ति तथा व्यक्तिगत जीवन की रक्षा के लिए आक्रमणकारी से संघर्ष करना पड़ता है । यथाप्रसंग युद्ध में भी उतरना होता है । और इसमें प्रतिपक्षी की हिंसा भी हो जाती है । महावीर का इस पर एक बोध है कि गृहस्थ को निरपराध व्यक्ति की हिंसा नहीं करनी चाहिए । निरपराध की भी निरपेक्ष, अर्थहीन हिंसा नहीं होनी चाहिए । अपराधी की ओर सापेक्ष निरपराधी की हिंसा का गृहस्थ के लिए परित्याग नहीं है । यही कृष्ण के शब्दों में धर्म्य अर्थात् धर्मयुक्त हिंसा है । महावीर की अहिंसा के मर्मज्ञ जैनाचार्य भी इसे गृहस्थ-धर्म की सीमा में ही परिगणित करते हैं । ' ततः पुनरदृगते सपादो विशोपकः ' धम. २ अधिकार । ' और यदि गृहस्थ में भी कोई अन्दर में सर्वथा स्वार्थ मुक्त एवं मोहमुक्त हो, तो उसको क्या होगा ? स्पष्ट है हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में उसकी स्थिति भी पूर्वोक्त भिक्षु की स्थिति जैसी ही होगी । व्यक्ति की शुद्धा-शुद्ध की भूमिकाएँ बाह्य वेषादि पर से नहीं, अन्दर के अन्तरंग भावों पर से निर्धारित होती हैं ।

दो महापुरुषों में तुलना कैसे ?

विभिन्न काल और विभिन्न परिस्थितियों एवं भूमिकाओं में स्थित दो महापुरुषों की सैद्धान्तिक तुलना करना आसान नहीं है । तुलना करनी भी नहीं चाहिए । वह भी चलती कलम से की जाए, तो बिल्कुल गलत है । मैंने श्रीकृष्ण और महावीर के आत्मा से सम्बन्धित अविनाशी सिद्धान्त का और उस पर से प्रति-फलित होने वाले भयमुक्ति के सन्देश का प्रतिपादन किया है ।

(१३७)

साथ ही पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि की चर्चा भी होती रही है, दोनों के दृष्टिकोण विचारशील पाठकों के समक्ष है। कौन कहाँ, किस भूमिका में हैं, और उसने किस भूमिका वाले व्यक्ति के लिए कहा है— यह सब गहराई से देखना-समझना है।

कुछ स्थलों पर लगता है—शब्दभेद ही है, भावभेद जैसा कुछ नहीं है। बाहर का हिंसाकर्म और तज्जन्य पाप कुछ अर्थ नहीं रखता है। जो भी है, वह सब व्यक्ति के अपने विवेक या अविवेक पर आधारित है। भगवान महावीर और उनकी परम्परा के आचार्य उत्तर्ग, अपवाद, निरपराध, सापराध, सापेक्ष, निरपेक्ष आदि की भूमिकाओं पर अहिंसा की अत्यन्त गहरी तलस्पर्शी विचारणा करने के बाद किस निर्णय पर पहुँचते हैं, यह पाठक ऊपर की पंक्तियों में स्पष्टतया देख सकते हैं। हाँ, एक बात अवश्य है, उक्त चर्चा का भावार्थ तथा फलितार्थ कुछ भी निकाला जाए, परन्तु महावीर कृष्ण के समान यह नहीं कहते हैं कि 'युद्धस्व' युद्ध करो। भले ही युद्ध न्याय एवं धर्म पर ही आधारित क्यों न हो। और वे ऐसा कह भी नहीं सकते। दार्शनिक चिन्तन कुछ भी हो, भाषा उनके पास श्रमण जीवन की है, संन्यास मार्ग की है। जो कृष्ण की नहीं है। यह अन्तर समझने जैसा है। महावीर सीधे साफ शब्दों में नहीं कह सकते हैं कि आत्मा अविनाशी है, देह विनाशी है। अतः आततायी को मारो, कोई पाप नहीं है। महावीर अन्दर की शुभाशुभ वृत्तियों पर अधिक लक्ष्य रखते हैं। बाहर की 'हाँ' या 'ना' की स्थूल भाषा को बिना विचारे हर कोई यों ही न ले उड़े, महावीर इसके लिए सावधान हैं।

मार्च-अप्रैल १९७७

मैत्री का सूत्रपात

मानव सभ्यता के इतिहास में बीसवीं शताब्दी को सुवर्णयुग कहा जा सकता है। अतीत की तुलना में इसकी अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। खेत खलिहानों से लेकर कला, साहित्य, तकनीकी एवं विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक आविष्कार और प्रगति हुई है। हर क्षेत्र में वर्तमान अतीत को पीछे छोड़ रहा है। सम्पत्ति बढ़ी है। साधन बढ़े हैं, तन्दुरस्ती बढ़ी है। और इन सारी प्रगतियों में विश्व जन-चेतना में राजनैतिक सहयोग, सद्भावना, समन्वय की भावना बढ़ी है। इस शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण यह उपलब्धि है।

पिछले कुछ दशकों में विश्व के कुछ महान क्रान्तद्रष्टाओं ने एक विचार प्रस्तुत किया है — धरती अगर एक है, तो देश एक है। उनके प्रश्न एक हैं, उसका समाधान एक है। आज के इस प्रगतिशील दुनिया में अगर हमें शान के साथ जीना है, तो एक होकर जी सकेंगे, अन्यथा सबकी सामूहिक मृत्यु निश्चित है।

इन महान विचारकों के कारण राष्ट्रों में सौहार्द बढ़ा है, सद्भाव बढ़ा है। दूसरे धर्मों को सम्मान के साथ समझने का प्रयास हो रहा है। परस्पर एक दूसरे के इतिहास एवं परम्परा के प्रति गौरव का भाव बढ़ा है। इतना ही नहीं, उदारता के साथ दूसरों की अच्छाइयों को स्वीकार किया जा रहा है, उनका मुक्त मन से अध्ययन मनन-चिन्तन भी किया जा रहा है।

इस उदारता के फलस्वरूप राष्ट्रों में परस्पर मैत्री बढ़ी है। प्रथम महायुद्ध के बाद निरन्तर यह अनुभव किया जाता रहा है कि परस्पर के संघर्ष, तनाव तथा युद्ध से हम राष्ट्रों का विकास अथवा निर्माण नहीं कर सकेंगे। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह धारणा और अधिक दृढ़ होती गयी कि परस्पर एक

दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने का अर्थ है कि उनके आन्तरिक व्यवस्था में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आज छोटा-से-छोटा निर्बल राष्ट्र भी उतनी ही स्वतन्त्रता के साथ जी सकता है, जितना एक शक्तिशाली राष्ट्र। कोई किसी भी स्वतन्त्रता का हनन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, विश्व बैंक जैसी संस्थाओं के द्वारा अथवा मित्र राष्ट्रों के द्वारा कमजोर राष्ट्रों के विकास में मुक्त मन से सहयोग दिया जा रहा है। हर राष्ट्र की आजादी की सुरक्षा केवल एक राष्ट्र का प्रश्न न होकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हो गया है। अगर कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र को दबोचना चाहता है, हड़पना चाहता है, तो ऐसा वह सहसा नहीं कर सकता। वैचारिक दुनिया में उसकी भर्त्सना होती है। उसे अमानवीय करार दिया जाता है। और कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि कमजोर राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्र अपनी सेवा देने के लिए आगे भी आ जाते हैं। कुछ लोगों की नजरों में उन राष्ट्रों का यह अपना हित एवं स्वार्थ भी हो सकता है। कुछ भी हो, किसी न किसी रूप में अन्याय के प्रतिकार का एवं पारस्परिक सहयोग का मार्ग तो प्रशस्त हुआ ही है। गलत कार्य न किया जाए, उसके लिए U.N.O. जैसे विश्व, संस्थान भी दबाव डालने का प्रयत्न करते हैं। भले ही उसका मूल्य जितना होना चाहिए, उतना नहीं होता है।

यह बात केवल सत्ता की दृष्टि से ही नहीं, विचारों की दृष्टि से भी कोई एक राज्य दूसरे राज्यों के विचारों से प्रभावित होना पसन्द नहीं करता। कोई किसी का पक्षकार होकर रहना नहीं चाहता। गुट निरपेक्ष समन्वय ब्यूरो-सम्मेलनों के द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है कि कोई किसी की अन्तरंग व्यवस्था में हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार एक दूसरे के साथ मैत्री के मधुर सम्बन्धों का विस्तार ही आज के युग की अपेक्षा है।

अतीत में ऐसा नहीं था। साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा में एक राजा दूसरे राजा को युद्ध के द्वारा पराजित करके अपना शासन सुदृढ़ करता था। पड़ोसी राजाओं में आये दिन सीमा-युद्ध होते रहते थे। छोटे राज्य कभी ठीक तरह विकास नहीं कर पाते थे; उनके सिर पर शक्तिशाली राज्यों के आक्रमण का भय बना रहता था। एक दूसरे को हड़पने की ताक में घातप्रत्याघात होते रहते थे। राज्यों की शक्ति अधिकांश में सैन्य शक्ति पर केन्द्रित रहती थी। अतः तत्कालीन राजनीति का युद्ध ही एक केन्द्रीय समाधान था, उसी के इर्द-गिर्द

राज्यशक्ति परिक्रमा करती रही थी । आज तो गरीबी, अभाव, अशिक्षा, शोषण आदि के काले बादल छाए हुए हैं, उसका अधिकतर भाग उसी पुरानी विग्रह मूलक राजनीति का ही दुष्परिणाम है । यह सदियों पुराने मानव जाति के केवल दोष ही नहीं, कलंक है, जो धुल नहीं रहे हैं ।

किन्तु बीसवीं शताब्दी ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखा है । आज कोई कमजोर राष्ट्र स्वयं को असहाय एवं निराधार महसूस नहीं करता । उसका कष्ट अन्तर्राष्ट्रीय कष्ट बन गया है । एक छोटे-से राष्ट्र के संकट की घटना केवल उस तक ही सीमित नहीं रहती है । गरीबी निवारण, रोग निवारण जैसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से हो रहे हैं । आज बढ़ती हुई आबादी, संहारक अणुशस्त्र, क्षय, चेचक, मलेरिया आदि भीषण रोग, इत्यादि विषयों पर सारे राष्ट्र मिलकर विचार करते हैं । और इनसे मुक्ति के उपायों की सामूहिक रूप से खोज करते हैं ।

उक्त सारी अच्छाइयों के बावजूद आन्तरिक संघर्ष का एक दूसरा प्रश्न अतीव विकट होता जा रहा है, उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है । ठीक है, राष्ट्र की सीमाओं के प्रश्न कम हो गए हैं । आजादी की सुरक्षा के खतरे कम हो रहे हैं । राज्य विस्तार के हेतु होने वाले युद्ध नाममात्र के लिए बचे हैं । किन्तु आन्तरिक संघर्ष सारी दुनिया में विकट से विकटतर रूप लेता जा रहा है । यदि निकट भविष्य में उक्त स्थिति नियंत्रित नहीं हो सकी, तो मानव जाति का भविष्य खतरे से खाली नहीं है ।

परस्पर विचारों में मतभेद हो सकते हैं । जनकल्याणी नीति निर्धारण में अन्तर हो सकता है । निर्धारित नीति के कार्यान्वयन की पद्धति में भी अन्तर हो सकता है । किन्तु अपने राष्ट्र के निर्माण में जिन्होंने अपना खून पसीना एक किया है, उनमें परस्पर शत्रुता जैसी दुर्भावना नहीं होनी चाहिए ।

यह माना हुआ ही नहीं, जाना हुआ सत्य है, कि बाहर का शत्रु उतना कहर नहीं ढा सकता, जितना कि घर का शत्रु ढा सकता है । जब कि पड़ोसी राष्ट्रों के साथ ही नहीं, दूसरे महाद्वीपों, खण्डों एवं उपनिवेशों तक के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाया जाता है; इस विश्वास के साथ कि जितने अधिक मित्र उतना ही अधिक विकास, तो अपने ही राष्ट्र के दो विरोधी दलों के साथ मैत्री का प्रयास

क्यों नहीं किया जाता । गुटनिरपेक्ष राष्ट्र होने के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना पार्टीनिरपेक्ष शासन क्यों नहीं हो सकता है । उसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

कोई भी दल शासन करे, उससे अच्छाइयों की अपेक्षा क़ी जाती है । घोषणा पत्रों में राष्ट्र को खुशहाल बनाने का वायदा करके ही दल सिंहासनारूढ़ होने का प्रयत्न करते हैं । हो सकता है, लोक कल्याणकारी नीतियों के कार्यान्वयन की पद्धति उचित न हो, इस कारण जैसा चाहिए वैसा सुखद परिणाम न आने पाए । अकुशल कर्मचारीगण के द्वारा विपरीत स्थिति का भी निर्माण हो सकता है । हर कोई पद्धति सम्पूर्ण रूप से निर्दोष होती ही है, यह सम्भव नहीं है । सामान्य मनुष्यों की ही बात नहीं, मनुष्य के दोष-दर्शन की दृष्टि ने ईश्वर एवं भगवान कहे जाने वाले महापुरुषों के कार्यों की समीक्षा करते हुए उनमें भी कमियाँ देखी है । अतः यदि कोई दल दूसरों को पूर्ण एकान्त दोषी और स्वयं को पूर्ण एकान्त निर्दोष होने का दावा करने का साहस करता है, तो उसे मानव की भूमिका को पार किया हुआ अतिमानवीय ही समझा जाना चाहिए । इसी बात को लेकर हमारे एक प्राचीन आचार्य ने एक महान स्पष्ट बोध दिया था—

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्
न निर्दोषं न निर्गुणम् ।

संसार में कोई भी ऐसी बात या स्थिति नहीं देखने में आई है, जो सर्वथा निर्दोष हो या सर्वथा गुणरहित हों ।

गीता के उद्गाता श्रीकृष्ण ने भी कहा है —

सर्वारम्भा हि दोषेण,
धूमेनाग्निरिवावृत्ताः ।

मानव के जितने भी आरम्भ है, समुद्यम एवं प्रयत्न हैं, वे दोष से उसी प्रकार से संयुक्त रहते हैं, जिस प्रकार अग्नि धूम से युक्त होती है ।

जब कि किसी का कोई कार्य पूर्ण रूप से निर्दोष नहीं हो सकता, तो विवेकशील प्राज्ञ पुरुषों के द्वारा प्रामाणिकता के साथ यह प्रयत्न किया जाना

चाहिए कि बार-बार की जाने वाली दोषों की चर्चा को एक ओर छोड़कर अच्छाइयों को उदारता से स्वीकार किया जाए, उनकी प्रशंसा में प्रेम से दो पुष्प चढ़ाए जाएँ। और भविष्य में उन पुरानी गलतियों की पुनरावृत्ति न हो, इसकी पूर्ण सावधानी रखी जाए।

किसी के दोषों को दुर्भाव से अधिक उछाल कर व्यक्तित्व हनन की चेष्टाएँ राष्ट्र के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास में बाधक ही सिद्ध होती है। इससे बुराइयों को प्रश्रय मिलता है। हमारे भारत के महान मनीषियों, प्रकाण्ड पण्डितों एवं अनुभवियों ने इस बात के लिए आग्रह रखा है कि अच्छाइयों का, मैत्री का, प्रेम एवं सद्भावना का ही अधिक प्रचार किया जाए, गलतियों का नहीं, अपमानना का नहीं। गलत बातों का अधिक प्रचार मानव मन की कमजोरियों को और अधिक बद्धमूल बना देता है। गन्दगी या कीचड़ के उछालने से, फैलाने से कभी पवित्रता, स्वच्छता नहीं आती।

आज के राजनीतिज्ञों को, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों एवं तकनीकियों से प्रेरणा लेनी चाहिए। ये सब लोग सहज भाव से पूर्व निर्माण के प्रति आस्थावान होते हैं। उनसे प्रेरणा लेकर आगे बढ़ते हैं। वे अतीत के निर्माण को प्रगति का रोड़ा नहीं समझते हैं, किन्तु और अधिक ऊपर जाने की दिशा में एक आधारभूत सीढ़ी मानते हैं। पूर्व निर्माण में रही हुई पिछली भूलों से शिक्षा लेते हैं, और पूरी शक्ति एवं निष्ठा के साथ यथावसर उनका परिमार्जन करते हैं, एतदर्थ सदा सावधान एवं सतर्क रहते हैं।

भगवान महावीर एवं बुद्ध यही कहते हैं, मित्रता के व्यवहार से हम अपने प्रतिपक्षी विरोधियों को भी अपने अनुकूल मित्र बना सकते हैं। विश्वमैत्री की मंगल-यात्रा अपने से प्रारम्भ की जानी चाहिए। कल्याणराज्य की स्थापना इस महापुरुषों के आदर्शों में ही निहित है। इन्हीं में 'जय जगत्' का उद्घोष प्रस्फुटित हुआ है। आरोप-प्रत्यारोपों के वात्याचक्र में यह पवित्र उद्घोष कैसे प्रस्फुटित हो सकता है।

इस राष्ट्र के आन्तरिक प्रश्न का भी समय पर महापुरुषों के चिन्तन-प्रकाश में समाधान यदि दुर्भाग्यवश न खोजा गया, तो यह प्रकाशयुग अन्धकारयुग में भी बदल सकता है। सुवर्णयुग धूलधूसरित भी हो सकता है।

दिन-प्रति-दिन जितनी तत्परता से प्रश्नों के हल खोजे जा रहे हैं, उतनी ही तत्परता से हर क्षेत्र प्रश्नों में उलझता भी जा रहा है । घर-घर, गाँव-गाँव, व्यक्ति-व्यक्ति कूट राजनीति की फाईलों का ढेर लगाता जा रहा है । अतः भावी पीढ़ी के समक्ष सहृदयतापूर्वक उदारता से रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रस्तुत करना आवश्यक है । जिससे दिशाहीन युवाशक्ति विध्वंस, तोड़-फोड़ एवं विनाश में नष्ट न होकर सही निर्माण की दिशा पकड़े । राष्ट्र के नेताओं पर इसका बहुत बड़ा दायित्व है ।

मई १९७७

अहंभाव से मुक्ति ही यथार्थ मुक्ति

बन्धन कर्म में नहीं है, कर्म का कर्ता होने के अहम् में है । मानव को गिराने वाला और कोई नहीं है । उसका अपना निज का ही 'अहम्' है, 'मैं' है, जो उसे गिरा देता है ।

अहम् किसी भी रूप में हो, वह अन्ततः कलुष ही है । उससे निर्मलता नहीं मिल पाती ।

जाति और कुल का मद

कुछ लोग श्रेष्ठ जाति और कुल में अहम् में लिप्त हैं । उन्हें अपनी जाति और कुल से श्रेष्ठ दूसरा कोई नजर नहीं आता । वे दूसरों को हीनदृष्टि से देखते हैं, और जब देखो तब, अपनी जाति और कुल की श्रेष्ठता एवं पवित्रता के ही राग अलापते रहते हैं । हजारों वर्ष हो गए, न वे जिनवर महावीर को समझ पाये हैं, और न तथागत बुद्ध को ही, जिन्होंने कहा था, जन्म की कोई श्रेष्ठता नहीं है । श्रेष्ठता है सत्कर्म की । जन्म शरीर का है, और शरीर सबका मांस, मज्जा, अस्थि, रक्त और मलमूत्र का पिण्ड है । यह तो अशुचि का सबसे बड़ा केन्द्र है । यह खुद भी अशुचि है, और अपने सम्पर्क में वस्त्र, मकान, भोजन आदि हर उपयोग वस्तु को भी अशुचि बना देता है । सुन्दर से सुन्दर बहुमूल्य स्वादिष्ट मिष्ठान्न होठों से छूते ही अपवित्र हो जाता है ।

बल का मद

कुछ लोग बल का अभिमान करते हैं । अपनी ताकत का नशा इतना

(१४५)

तीव्र होता है कि कलियुग के भीमसेन बने फिरते हैं, राह चलते हर किसी से लड़ाई मोल ले लेते हैं । श्रेष्ठता बल में नहीं है । श्रेष्ठता है बल का जनहित में सदुपयोग करने में । किसी को बहती नदी में डुबोने के लिए फेंक देने में क्या गौरव है ? गौरव है तूफानी नदी में डूबते हुए किसी को बचा लेने में । अपने बल की मार से किसी को रुलाया तो क्या ? मजा तब है, जब किसी रोते को हँसा सकें आप ।

परिवार का मद

बड़े परिवार का भी एक गर्व होता है, और इस पर लोग कहते हैं; जानते हो, मैं अकेला नहीं हूँ । मेरे पीछे मेरा कितना बड़ा परिवार है । तुमने जरा भी चूँचपड़ की तो तुम्हें एक-एक को मार कर भूस बना दिया जायेगा । फिर कोई रोने वाला भी नहीं मिलेगा कहीं तुम्हें । इस अज्ञानी आत्माओं को पता नहीं, यह अपना परिवार कबतक अपना है । जब तक पुण्य का उदय है, तभी तक अपना है । पुण्य क्षीण होने पर तो आत्मजातपुत्र और सहोदर बन्धु भी प्राणघातक शत्रु हो जाते हैं । इतिहास साक्षी है इस सत्य का ।

बड़ा परिवार का क्या महत्त्व है । एक मछली एक साथ सैकड़ों बच्चों को जन्म देती है । कहते हैं, साँपन को एक साथ सैकड़ों अंडे होते हैं । कूकर और सूकर जैसे निम्नस्तरीय पशुओं के कितनी अधिक सन्तानें होती हैं हर वर्ष ! एक कीटाणु चंद ही मिनटों में लाखों करोड़ों कीटाणुओं का पिता हो जाता है । बन्दरों, हिरनों और अन्य अनेक जंगली जानवरों के झुंड के झुंड फिरते हैं । क्या हो जाता है इससे ? रावण का कितना बड़ा परिवार था ? पर, क्या परिणाम आया इस बड़े परिवार का ? यादव जाति का कितना बड़ा विस्तार ! फिर कितना भीषण संहार ! आपस में ही अपने दुर्व्यसनों के कारण लड़झगड़ कर समाप्त हो गये । एक भी अच्छी सदाचारी संतान हो, तो ठीक है । चन्द्रमा एक ही गगन में आता है तो सारे भूमण्डल को प्रकाशित कर देता है, न च तारा सहस्रशः ।' महावीर कहते हैं: " निर्मल चरित्र के आलोक में अकेला विचरण करना ही अच्छा है, दुराचारी दुर्व्यसनी लोगों की भीड़ के साथ से तो । "

रूप का मद

रूप का अहम् भी व्यक्ति को बहुत परेशान करता है । चमड़े का रंग

जरा साफ हुआ कि आदमी आसमान में उड़ने लगता है । रूप का अभिमानी व्यक्ति धूप से बचकर चलता है, धूल से दूर भागता है । गर्मी, सर्दी, वर्षा सबसे परेशान रहता है । ऐसे लोग समय पर किसी भी सेवा या सत्कर्म में अपने को झोंक नहीं सकते । उन्हें हर क्षण अपने उजले रंग के काला पड़ जाने की चिन्ता रहती है । कितना अज्ञान है, इस रूप के अन्धों का ? यह नहीं देख पाते कि इस उजली चादर के नीचे कितनी भयंकर गन्दगी छिपी पड़ी है । तन में कहीं भी एक फुत्सी उभर आती है, पस पड़ जाती है, तो उस पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगती हैं । साफ स्वच्छ रहना अच्छा है । पर, अपने को कामदेव के रूप में ढालने का हास्यास्पद प्रयत्न किया जाये । जिन्हें जन-सेवा के क्षेत्र में काम करना है, उन्हें तन की सुन्दरता के इस मोह से अमुक अंश में मुक्त होना ही होगा ।

सेवा का मद

सेवा का अहम् भी व्यक्ति को कहीं का नहीं रख छोड़ता । मैंने ऐसे अनेक व्यक्तियों को देखा है, जो कभी किसी को थोड़ा बहुत सहयोग दे देते हैं, तो हर जगह उसका खुद ही ढोल बजाते फिरते हैं । यह अच्छे काम की नहीं, अच्छे नाम की भूख है । इस भूख की पूर्ति होना बड़ी मुश्किल बात है । पता नहीं, क्या हो गया है आज की दुनिया को ! ' नेकी कर कूवे में डाल ' का पुराना सिद्धान्त तो वस्तुतः किसी अन्धकूप में ही डाल दिया गया है ।

सेवा क्या करते हैं, सेवा के नाम पर दूसरों का अपमान करते हैं । कितनी ही बार अपने कुछ लोगों को यह कहते सुना होगा: " अरे भाई साहब, क्या बताऊँ । मैं ही था, जो उसे बर्बाद होने से बचा सका । मैं न होता तो सचमुच ही उसका बेड़ा गर्क हो गया होता । वह बच सकता था भला ! कोई भी तो नहीं था उसे तब बचाने वाला ।" कितना अहम् है मनुष्य को अपने तुच्छ से सेवा कर्म का । ऐसे लोगों को पता होना चाहिए, हर आदमी का अपना भाग्य होता है । उसका अपना भाग्य ही मूल में बचानेवाला है । तुम तो एक निमित्त बन गये हो । गंगा को आना होता है, भगीरथ को लाने का यश मिल जाता है । और यह भी क्या पता कि तूने इस सेवा के रूप में पूर्व जन्म का उससे लिया गया कोई अपना पुराना ऋण ही चुकाया हो तो ! भारत का दर्शन

पुनर्जन्मवादी है । अतः यहाँ अनेक जन्म जन्मांतरों से चले आये कभी पुराने ऋण भी चुकाये जाते हैं ।

सेवक जितना विनम्र होगा, उतना ही महान होगा । फलों से लदे वृक्ष धरती की ओर झुक जाते हैं । बरसने वाली घटाएँ ऊँचे आकाश से नीचे उतर कर धरती पर बरसती हैं । माँ-बाप अपने नन्हे-मुन्हे बच्चों को उँगली पकड़कर चलाते हैं, तो देखा है, कितने नीचे झुकते हैं ?

प्रभुता का मद

प्रभुता का मद भी बड़ा भयंकर होता है । सिंहासन पर बैठते ही आदमी भूल जाता है कि कल तक तू भी तो सबके साथ धरती पर बैठने वालों में से ही एक था । बंगला कहावत है—“ जो भी लंका में जाता है, रावण हो जाता है ।” आए दिन नम्रता का, विनय का, जनसेवक का उद्घोष करने वाले सिंहासन पर पहुँचते ही अकड़कर नीरस सूखे काठ हो जाते हैं । पहले के प्रशासक, जिनकी स्वयं आलोचना करता रहा है, जल्दी ही स्वयं भी उन्हीं की पथ पर दौड़ने लगता है । पीछे नहीं, उनसे आगे ही निकल जाना चाहता है । याद रखिये, सिंहासन स्वामित्व के लिए नहीं, सेवा के लिए है । यदि कोई सस्नेह यह विहित सेवा नहीं कर सकता है, तो उसे सिंहासन पर बैठने का कोई अधिकार नहीं है । सिंहासन पर बैठने के लिए राजा राम बनना होगा, राक्षस रावण नहीं।

सिंहासन स्थायी नहीं हैं । समय पर चक्रवर्तियों के सिंहासन भी डोल जाते हैं, इन्द्रासन भी खाली हो जाते हैं । प्रभुता चंचल है । बिजली से भी अधिक चंचल । चमकते देर नहीं तो बुझते भी देर नहीं । पानी का बुलबुला कब तक पानी पर तैर सकेगा ? कागज की नाव कब तक जल में तैरती रहेगी? संसार में हर चीज क्षणभंगुर है । ‘ सर्व क्षणिक ’ का बुद्ध-घोष गलत नहीं है । अतः सिंहासन पर बैठते समय बहुत सम्भलकर बैठना चाहिए । सिंहासन पर बैठना बुरा नहीं है । बुरा है, सिंहासन का अहं सिर पर लाद कर बैठना । बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है, इस तरह बैठने वालों की । बाहर में लगता है, यह महानुभाव कुर्सी पर बैठे हैं । खुद भी वह ऐसा ही समझता है। पर, वास्तव में वह कुर्सी पर नहीं बैठा है, कुर्सी ही उस पर बैठ गयी है ।

दिमाग पर कुर्सी का अहं जो सवार है । कुर्सी यश नहीं देती है । कुर्सी पर से किये जाने वाले सेवा-सत्कर्म ही यश देते हैं । यह बात हर कुर्सी पर बैठने वाले को ध्यान में रखने जैसी है ।

त्याग का अहं भी त्याज्य

भगवान महावीर का तो 'अहम्' के सम्बन्ध में बहुत गंभीर सिद्धान्त है । भगवान तो जातिमद, कुलमद, रूपमद, ऐश्वर्य मद आदि संसारी मदों के समान ही श्रुत एवं तप आदि के धार्मिक मद को भी त्याज्य बताते हैं । त्याग का मद भी डुबा देनेवाला है । कुछ लोग अपने उत्कृष्ट तप नियम, त्याग आदि का भी मद करते हैं कि हम कितने उग्र आचारी हैं, कितने कठोर तपस्वी हैं । उन्हें बोध नहीं है कि यह विष भी बड़ा भयंकर है । महाभारत का राजा ययाति हजारों वर्ष तप करता रहा, जल पीकर, हवा खाकर रहा । महीनों ही एक टाँग से अघर में खड़ा रहा । किन्तु जब स्वर्ग में गया, और अपने मुख अपने तप-त्याग का बखान करने लगा तो उसका तत्काल स्वर्ग से पतन हो गया । जैन पुराणों के भी अनेक त्यागी अपने उत्कृष्ट त्याग का अहम् करने के कारण वीतराग पथ से भ्रष्ट हो गए । 'अहम्' बन्धन है, फिर भले ही वह किसी भी तरह का हो ।

जैन आगमों में जिनकल्प का वर्णन है । जिनकल्पी मुनि बड़े ही उग्र तपस्वी, संयमी एवं कठोरव्रती होते हैं । वे रोग होने पर उसका उपचार नहीं कराते । शिष्य नहीं बनाते । कैसी भी दुःखद स्थिति हो, किसी से तनिक भी सेवा नहीं लेते । पैर में लगा कांटा तो क्या निकालेंगे । आँख में पड़ा धूल का कण भी नहीं निकालते, भले ही त्याग के इस हठ में आँख ही क्यों न चली जाए। सदी, गर्मी और वर्षा कुछ भी हो, दंशमशक का कितना ही क्यों न उपद्रव हो, हमेशा निरावरण नंगे तन रहते हैं । वन में क्रूर जंगली हिंसक जानवरों से भी अपने को बचाने का प्रयत्न नहीं करते । इतना कठोर आचार है । फिर भी आगम कहते हैं—“जिनकल्पी को केवल ज्ञान नहीं होता, अतः मोक्ष भी नहीं होता ।” केवल ज्ञान होता है कल्पातीत स्थिति में । जब की साधक कल्प के अर्थात् आचार के कर्तृत्वसम्बन्धी अहम् से मुक्त हो जाता है, त्याग तप सब कुछ करके भी त्याग तप से परे सहज आत्मभाव में लीन हो जाता है, तभी अनन्त

भाव अपेक्षित है साधना का प्रभुत्व से वैर है । प्रभुता से प्रभु दूर है । मुझे कहना है, यह प्रभुता और कुछ नहीं, प्रभुता का अहम् है । सर्वत्र 'मैं' को तोड़ो, 'मैं' से बचो । 'प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाय ।' साधक ! तू और तेरा प्रभु, दोनों साथ साथ नहीं रह सकते । दो में से कोई एक ही रह सकता है । तू अपने को हटा, मिटा । बस, एक अपने आराध्य प्रभु को ही रहने दे ।

जून १९७७

साधना की दो धाराएँ

साधना के कुछ रूप ऐसे भी हैं, जो बाह्य प्रकृति से सम्बन्धित हैं । बाहर के देश, काल आदि निमित्तों का साधना पर प्रभाव पड़ता है । यह सर्वत्र सत्य है कि साधना एक अन्तरंग अध्यात्म चेतना है । उस पर बाहर की प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? यह बात सत्य है । फिर भी साधक जब तक उच्च भूमिकाओं पर नहीं पहुँचता है, तब तक नीचे की भूमिकाओं पर वह बाह्य निमित्तों से यथा प्रसंग प्रभावित हो ही जाता है । इसी हेतु साधक के लिए भोजन, भवन, वसन आदि से सम्बन्धित अनेक नियमोपनियमों की, विधिनिषेधों की व्यवस्था की है ।

साधना अर्थात् धर्मचर्या के दो रूप हैं—एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग रूप वह है, जिसमें साधक अन्दर में जागृत रहता है, निरन्तर अन्तरात्मा का सम्मार्जन एवं परिमार्जन करता रहता है, काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारों को क्षीण करता रहता है, और सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा, सन्तोष आदि सद्गुणों को विकसित करता रहता है । साधना अर्थात् साधकचर्या का यह रूप अन्तरात्मा से सम्बन्धित है, जिसे हम दर्शन की भाषा में अन्तर्यात्रा कहते हैं ।

साधना का दूसरा रूप बहिरंग है । यह अन्तरंग साधना के विकास के लिए, सर्वसाधारण साधकों की दृष्टि से बाहर में की जाने वाली विशिष्ट देश और काल आदि से सम्बन्धित चर्या है, रहन-सहन है । यह साधक की बहिर्यात्रा है । इसका सम्बन्ध बाह्य प्रकृति से है, शरीर आदि से है । इस पर देश, काल आदि निमित्तों का प्रभाव पड़ता है । साधारण साधक इस प्रभाव से सर्वथा मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता ।

अन्तरंग साधना अपरिवर्तित है । उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन या बदलाव न कभी हुआ है, और न कभी होगा । यह साधना वीतराग भाव की साधना है । अतीत में अनन्त-अनन्त तीर्थकर एवं आचार्य हो चुके हैं, किन्तु किसी ने यह नहीं कहा कि वीतराग भाव के बिना भी मुक्ति हो सकती है । किसी ने यह नहीं कहा कि क्रोध, मान, माया, लोभ के होते हुए भी कोई बन्धन मुक्त हो सकता है । कभी राग और द्वेष से भी मुक्ति हो सकती है, यह कभी कहा है किसी तीर्थकर ने, किसी धर्माचार्य ने, या किसी अन्य साधारण साधक ने भी ? नहीं, किसी ने भी कभी ऐसा नहीं कहा है । सब के सब एक स्वर से यही कहते रहे हैं कि एक मात्र वीतराग भाव से ही मुक्ति है । दूसरा कोई इससे विपरीत पथ है ही नहीं । ' नाञ्ज्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' । जब तक वीतराग भाव प्राप्त न हो, तब तक संसार के बन्धन से मुक्ति न कभी मिली है, न कभी मिलेगी । इस प्रकार अन्तरंग साधना में, जिसे मैं अन्तर्यात्रा कहता हूँ, कहीं पर भी, कोई भी मतभेद नहीं है ।

शाश्वत एवं सार्वत्रिक सत्य देश, काल आदि से नहीं बँधता है । यदि उस पर देश, काल आदि का प्रभाव पड़ता है, और उससे कुछ परिवर्तित होता है, तो वह सामयिक एवं दैशिक सत्य है, शाश्वत सत्य नहीं । आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर तक अनेक परिवर्तन हुए हैं । बाह्य विधिनिषेधों में, इस बीच कितने ही विधि निषेध बन गए हैं और कितने ही निषेध-विधि, परन्तु अन्तरंग वीतरागभाव की साधना में सर्वत्र एकरूपता है, एकसूत्रता है । वीतरागभाव के पक्ष में सब तीर्थकरों की एक वाक्यता है, भले वे भारत देश के हों, चाहे वे अन्य किसी देश विशेष के हों; चाहे वे अतीत के हों, भविष्य के हों, या वर्तमान के हो । वीतरागता आत्मलक्ष्मी है, अतः उसमें कब कहाँ, क्या होना चाहिए, और कब कहाँ क्या नहीं होना चाहिए; इस चाहिए और न चाहिए का कभी कोई अर्थ ही नहीं होता । यह चाहिए और न चाहिए, तो समाज से सम्बन्धित होते हैं । क्योंकि समाज का एक निश्चित रूप नहीं होता । वह देश, काल आदि बदलती परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है । अतः समाज का सत्य क्या तो दैशिक होगा, या सामाजिक होगा । शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं ।

वीतरागभाव का पथ ही विलक्षण है । अतः वीतरागता का अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप जो विधि-निषेध की धारणा के रूप में

महाव्रत एवं अणुव्रत हैं, उनसे भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । आगम की भाषा में यह व्यवहारचारित्र है । और व्यवहार चारित्र देश, काल आदि की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, अतः उसमें नियमों की प्रतिबद्धता के फलस्वरूप कहीं संकल्प पूर्वक करने का राग होता है तो कहीं न करने का द्वेष भी होता है । जन्म-मरण एवं संसार परिभ्रमण का भय भी कहीं किसी अंश में डिमाया होता है । नरक में होनेवाले दुःखों के भय से जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतों का पालन करता है, वह भयमुक्त कहाँ है ? वह भय से पीड़ीत है, सहज नहीं है । और जहाँ भय है, भयमूलक द्वेष है, वहाँ वीतरागता कहाँ हो सकती है ? और जो स्वर्गादि सुख के लिए अहिंसा आदि संयम की साधना करता है, वह भी वीतराग नहीं है । क्योंकि सुख का राग भी अपने में एक बहुत बड़ा राग है, अतः जहाँ राग है, आसक्ति है, कामना है, वहाँ भी वीतरागता नहीं है । और जहाँ वीतरागता नहीं है, वहाँ धर्म भी नहीं है । आत्मा का निज स्वभाव ही तो धर्म है, 'बन्धुसहाओ धम्मो' के सिद्धान्तानुसार । और राग आत्मा का निज स्वभाव नहीं है, परभाव है, अतः वह धर्म नहीं है । रागयुक्त संयम की साधना से पुण्य हो सकता है, धर्म नहीं । पर वस्तु में इष्ट या अनिष्ट की परिकल्पना करना शास्त्र दृष्टि से मोह का विकल्प ही है, और कुछ नहीं । इस सम्बन्ध में आचार्य अमितगति का वचन मननीय है—

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।

न द्रव्यं तत्त्वतः किञ्चिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥

—योगसार प्राभृत ५/३६

यही बात भोजक और अभोजक के सम्बन्ध में है । बाहर में भोक्ता होता हुआ भी वीतराग अन्दर में अभोक्ता है । और सराग आत्मा बाहर में अभोक्ता होता हुआ भी अन्दर में भोक्ता ही रहता है ।

द्रव्यतो भोजका कश्चिद भावतोऽस्ति त्वभोजकः ।

भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥

—योगसार प्राभृत ५/५५

व्यवहार चरित्र प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप है । इसमें करने न करने का संकल्प स्पष्टतः परिलक्षित होता है । इसमें आग्रह से मुक्ति नहीं है, अतः समत्व नहीं

(१५३)

है। समत्व वहीं होता है, जहाँ आत्मा, मोह और क्षोभ से मुक्त होता है । उक्त मोह-क्षोभ से मुक्त स्वरूप समत्व के होने पर यदि कोई प्रवृत्ति या निवृत्ति होती भी है तो वह सहज होती है, स्वभाव सिद्ध होती है, अतः उसमें विधिनिषेध का संकल्पजन्य आग्रह जैसा कुछ नहीं होता । वस्तुतः यही निर्मल, शुद्ध, आत्मस्वरूप वीतराग भाव निश्चय चारित्र्य है ।

चारित्र्यं खलु धम्मो,
धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो ।
मोह क्खोह विहिणो,
परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्रवचनसार, गाथा ७

उक्त विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूपलीनता निश्चय है, और नियमलीनता व्यवहार है । स्वरूपलीनता इसीलिए देशकालादिजन्य परिवर्तन से परे है, चूँकि वह स्वरूप-लीनता है । स्वरूप में भला क्या परिवर्तन होगा, और वह क्यों होगा ? स्वरूप हमेशा क्या और क्यों के विकल्पों से परे होता है ।

परिवर्तन व्यवहार में होता है । क्योंकि व्यवहार हमेशा से ही देश, काल आदि से प्रभावित होता आया है । एक युग का व्यवहार दूसरे युग में अव्यवहार हो जाता है । एक देश की मान्यताएँ दूसरे देश में अमान्य हो जाती हैं । आज के युग में बहन-भाई का वैवाहिक सम्बन्ध जघन्य अपराध माना जाता है । किन्तु जैनपुराण तथा वैदिक पुराणों की अनुश्रुतियों के अनुसार यौगलिक भोगभूमि आदि के युग में ऐसा कुछ नहीं था । उस युग के लोकजीवन में यह एक सामान्य बात थी । इसका न्याय या अन्याय से कुछ सम्बन्ध नहीं था ।

जैन, बौद्ध और वैदिक पुराण कहते हैं कि स्वर्गलोक में स्त्रियाँ कामचारा हैं । एक देवी पहले एक देव की भोग्या होती है, वही बात में दूसरे देव की भोग्या भी हो जाती है । स्वर्ग में यह सब न्यायोचित है । कभी भारतभूमि पर भी यही स्थिति थी । महाभारत और वाल्मीकि रामायण आदि इसके साक्षी हैं । द्रौपदी के पाँच पति भी एक युग में विहित माने गए थे । द्रौपदी के समान कितनी ही अन्य नारियों का उल्लेख भी महाभारत में है । यह सब देश, काल का खेल है । इस खेल का प्रभाव पड़ता है समाज पर । और

इसी प्रभाव से समाज अपने विधि-निषेधों की अच्छाई-बुराई का पथ बदलता रहता है ।

यह स्थिति लोकजीवन की ही नहीं है । धार्मिक परम्पराओं के जीवन में भी सामाजिक घरातल पर ऐसा ही कुछ होता रहता है । धार्मिक क्षेत्र के रंगमंच पर भी विधि-निषेधों के पात्र अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार यथाप्रसंग आते-जाते रहते हैं । आदिम मानव सभ्यता के युग में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने साधुचर्या के कुछ विधिनिषेध प्ररूपित किए थे, दूसरे तीर्थंकर भगवान अजितनाथ ने उनमें कुछ को बदल दिया । नियमों की कठोरता को मृदु बना दिया । और यह मृदु भाव की परम्परा थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक चलती आई । अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने पुनः मृदुभाव की परम्परा को बदलकर उसे कुछ और अधिक कसा । पहले हर किसी रंग रूप एवं मूल्य का वस्त्र भिक्षु पहन सकते थे । भगवान महावीर ने जिन कल्प के आधार पर नग्नता पर बल दिया । और जब पार्श्वनाथ का संघ महावीर के संघ में मिला तो अपवादिक रूप में श्वेत-वस्त्र को मान्यता मिल गयी । पहले वर्षावास के सम्बन्ध में कोई एक नियत मान्यता नहीं थी । भगवान महावीर ने उसे चार मास के रूप में, विशेष स्थिति के अनुसार ७० दिन के रूप में नियन्त्रित कर दिया । भगवान महावीर के बाद भी अनेक आचार्यों ने अपने अपने देश काल के अनुसार परिस्थितिवश परम्परागत नियमों में परिवर्तन किए हैं, जैन इतिहास इसका मुक्तघोष से साक्षी है ।

दिन के तीसरे प्रहर में गोचरी करने का नियम बदला या नहीं ? दिन में एक बार भोजन और जलपान करने का नियम, जो आज भी दिगम्बर परम्परा में प्रचलित है श्वेताम्बर परम्पराओं में बदला या नहीं ? वस्त्र न धोने का नियम भी बदला है । अब साधुओं द्वारा वस्त्र धोए जाते हैं, आचारांग सूत्र में इसका निषेध है । निशीथ सूत्र में लिखने का, गाने का निषेध है साधु के लिए । और आज क्या है, यह सब के समक्ष है ।

आचार्य जिनदास ने निशीथचूर्णि में कहा है कि सिन्धु जैसे देशों में यदि भिक्षु बढ़िया श्वेत वस्त्र धारण करता है, तो कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि वहाँ की सर्व-साधारण जनता भी अच्छे वस्त्र पहनती है । परन्तु कुछ अन्य देशों में

अच्छे बढ़िया वस्त्र भिक्षु को नहीं धारण करने चाहिए, क्योंकि वहाँ दरिद्र जनता होने से चोरी का उपद्रव हो सकता है ।

इसी प्रकार एक जाति एक देश में अस्पृश्य समझी जाती है तो वही दूसरे देश में स्पृश्य मानी जाती है । जैनधर्म में जाति सम्बन्धी इस स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था को कोई मान्यता नहीं है । फिर भी परिस्थितिवश समस्या का समाधान करना हो तो इस सम्बन्ध में जो जहाँ का लोकाचार हो, तदनुकूल वहाँ वैसा कर लेना चाहिए । आचार्य कल्प पं. आशाधरजी ने सागर धर्माभूत में कहा है कि जैनों को अपने-अपने देश, क्षेत्र और जाति आदि के सभी लोकाचार मान्य हैं । हाँ, यह अवश्य देख लेना चाहिए कि मूल सम्यक्त्व में कोई हानि न होने पाए, और न स्वीकृत व्रतों में कोई दूषण लगे:

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥

अनेक जैन आचार हैं, जो व्यवहार पक्ष के हैं, उनमें सर्वत्र यही मार्ग अपनाया गया है । परिस्थिति आने पर कुछ जलधाराओं को पैदल पार किया जा सकता है । और गंगा जैसी कुछ विशाल जलधाराओं को नौका की सवारी से पार किया जा सकता है । साधु-साध्वी परस्पर न छुएँ । किन्तु डूबतों को बचाने के लिए या रोगादि में सेवा शुश्रूषा के लिए यह सब कुछ किया जा सकता है । व्यवहार नियमों की साधना में एकात्मिक जैसा कुछ नहीं है । यहाँ परिस्थिति ही एक मुख्य है । परिस्थिति के अनुसार हर नियम के साथ अपवाद है । जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही अपवाद हैं ' जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ' किन्तु इन सब व्यावहारिक परिवर्तनों के मूल में एक बात ध्यान में रखने जैसी है कि साधक का अन्तर्हृदय परिवर्तनों के मूल में एक बात ध्यान में रखने जैसी है कि साधक का अन्तर्हृदय पवित्र है कि नहीं ? अन्तरंग में वीतराग भाव सुरक्षित है कि नहीं ? यदि मन पवित्र है, वीतराग भाव सुरक्षित है, तो सब ठीक है । अन्यथा तो अन्यथा है ही !

जुलै १९७७

(१५६)

विश्वमंगल का संदेश वाहक पर्युषण पर्व

भारत पर्वों का देश है । यहाँ हर दिन एक पर्व है, हर रात एक पर्व है । कुछ दिन तो ऐसे भी हैं, जब एक दिन में कितने ही पर्व आ जाते हैं, एक तरह पर्वों का जमघट ही हो जाता है । इसके लिए जैन, वैदिक, बौद्ध आदि नई पुरानी परम्पराओं के पुराण तथा व्रतविधान के ग्रन्थ दृष्टव्य हैं ।

भारत के पर्व कई विभागों में विभक्त हैं । मूलतः पर्वों के दो रूप हैं, लौकिक तथा लोकोत्तर। लोकोत्तर, धार्मिक पर्व होते हैं, और लौकिक पर्वों के अनेक रूप होते हैं जिनमें कुछ पर्व पारिवारिक होते हैं, तो कुछ सामाजिक, कुछ राष्ट्रीय होते हैं । जीवन के हर अंग, हर मोड़ पर एक पर्व है ।

पर्व का मूल सुख है, दुःखनिवृत्ति है । लोक तथा लोकोत्तर जीवन के हर पर्वों में सर्वत्र यही भावधारा काम कर रही है । अनेक पारिवारिक और सामाजिक पर्वों में परिवार तथा समाज के सुख की कामना निहित है, और दुःखमुक्ति की भावना अनुगुंजित है । राष्ट्रीय पर्वों में भी अधिकतर महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का सुखद रस प्रवाहित होता है । धार्मिक पर्वों में तो विकासजन्य दुःखों की निवृत्ति और आध्यात्मिक निराबाध आनन्द की प्राप्ति का स्वर स्पष्टतः मुखरित है । यही कारण है कि यहाँ सरस्वती पूजा के पर्व हैं, लक्ष्मी पूजा के पर्व हैं और शक्ति की पूजा के भी अनेक पर्व हैं । सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व परमात्मा, आत्मा और उनके सद्गुणों की उपासना के पर्व भी हैं, जो धार्मिक परम्पराओं की कल्याणकारी देन हैं । इस प्रकार जीवन की हर आन्तरिक और बाह्य अपेक्षाओं के पर्व हैं । देह से लेकर अन्तरात्मा तक के पर्व हैं ।

लोकोत्तर पर्वों में शिरोमणि स्वरूप पर्युषण पर्व भी इन्हीं पर्वों में का

(१५७)

एक पर्व है। इसकी चेतना आत्मा से परमात्मा होने की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। यह एक आध्यात्मिक साधना है, जो वैयक्तिक होते हुए भी पर्व के रूप में सामाजिक रूप ले चुकी है। व्यक्ति के सीमित क्षेत्र से आगे बढ़ कर जब कोई भी गति, स्थिति समूह के व्यापक क्षेत्र में पहुँचकर विराट रूप लेती है, तो वह पर्व हो जाती है, त्यौहार का रूप ले लेती है। भोजन हर दिन होता है। पर जब वह कुछ विशिष्ट रूप लेता है, समूह का रूप लेता है, तो एक खास दिन से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और पर्व हो जाता है। पर्युषण भी क्षमा, मैत्री, तप, त्याग आदि सद्गुणों की एक साधना एवं आराधना है। यह हर दिन की, हर रात की, या यों कहिए कि हर क्षण की आध्यात्मिक भावना है। भावना अर्थात् अन्तरात्मा को भावित करने, संस्कारित एवं परिमार्जित करने की आन्तरिक भाव-प्रक्रिया। यह अन्तरात्मा का एक प्रकार का आध्यात्मिक भोजन है, जो अन्तश्चेतना की तुष्टि एवं पुष्टि का अन्तरंग सहज साध्य हेतु है।

वर्षाकाल की अमुक ऐतिहासिक प्रक्रिया में से गुजरती हुई उक्त आध्यात्मिक साधना ने धीरे-धीरे सामूहिकता का रूप लिया और अमुक मास, पक्ष और तिथियों से सम्बन्धित होकर यह एक वार्षिक पर्व के रूप में परिणत हो गई। प्रतिदिन या प्रतिक्षण की साधना इन दिनों विशेष उत्साह और उल्लास के वातावरण में विशिष्ट रूप लेती ही है, अतः धर्मसंघ और समाज की दृष्टि से इसको वार्षिक पर्व का रूप मिल जाना मानव की एक सहज मानसिक वृत्ति का परिणाम है।

पर्युषण का मूल अर्थ है सब ओर से सिमट कर एक केन्द्र में स्थित होना, निवास करना। वर्षाकाल में भिक्षु इधर-उधर का विहार अर्थात् भ्रमण छोड़ एक जगह निवास करता है, यह पर्युषण का बाह्य रूप है। जो जैन धर्म की परम्परा में भिक्षुसंघ की आचार नियमावली का एक अंग है। वर्षावास की यह परिकल्पना अन्य धर्मसंघों में भी है।

आध्यात्मिक दृष्टि से पर्युषण का भाव है—काम, क्रोध, मद, लोभ आदि अनात्मिक अर्थात् सांसारिक अशुद्ध वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में जो आत्मा की चेतना भटकती फिरती है, उसे लौटाकर आत्मिक शुद्धता के भावकेन्द्र में स्थिर करना। क्रोध से क्षमा में, अहंकार से निरहंकारता में, माया और दंभ से सरलता में, लोभ से सन्तोष में, राग और द्वेष से वीतरागता एवं वीतद्वेषता में चेतना का

लौट आना, स्थिर हो जाना, पर्युषण का आध्यात्मिक अर्थ है । इस आध्यात्मिक अर्थ में यह केवल साधु-साध्वी के संघ से ही सम्बन्धित न रहकर मानवमात्र से सम्बन्धित पर्व हो गया है । और इस तरह यह केवल भारत का ही नहीं, अखिल विश्व का पर्व बन जाता है । इस पर किसी एक सम्प्रदायविशेष का अधिकार नहीं है । यह सर्वहित में है, अतः सार्वजनिक है । कोई भी द्वीप हो, देश हो; कोई भी जाति हो, कुल हो; कोई भी धर्म हो, पंथ हो; कोई भी बालक हो, युवा हो, वृद्ध हो, कोई भी गृहत्यागी भिक्षु हो या गृहस्थ हो, अन्तर्जीवन की विकृतियों का परिमार्जन एवं क्षमा, मैत्री आदि सद्गुणों का अर्जन सबके लिए आवश्यक है; अतः पर्युषण पर्व सबका है और सब पर्युषण पर्व के हैं ।

हर नर में नारायण हैं, हर जन में जिन है; उसे सुप्त से जगाना, अव्यक्त से व्यक्त करना ही पर्युषण की साधना है । यह अन्तर्जगत् का वह दिव्य प्रकाश है, जो हर किसी को अपेक्षित है ।

अगस्त १९७७

विराट आत्माओं की विलक्षणता

महामानव कर्मशक्ति केन्द्र होते हैं । उनके अन्तर्मन में कुछ कर गुजरने के उत्साह का, उल्लास का एक विराट् सागर हर क्षण लहराता रहता है।

यदि ये अशुभ की ओर प्रवाहित हो जाते हैं तो अशुभ के किनारे पर ही पहुँच कर दम लेते हैं, बीच में कहीं रुकते नहीं हैं । धनार्जन हो, राग हो, द्वेष हो, संघर्ष हो, हिंसा हो, भोग हो, कैसा भी अशुभ हो सर्वत्र अति ही दिखाई देती है इन लोगों में ।

और यदि ये शुभ की ओर मोड़ लेते हैं तो इधर भी कमाल ही कर दिखाते हैं । शुभ के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर अपनी कीर्तिपताका फहरा देते हैं, जयजयकारों के साथ । क्या मजाल, बीच में कहीं बैठ जाएँ, या कठिनाइयों से घबराकर वापस लौट जाएँ । दान हो, दया हो, सेवा हो, तप हो, त्याग हो, कोई भी शुभ हो, आप उन्हें सर्वत्र अग्रिम मोर्चे पर खड़ा पाएँगे ।

इन महामानवों के पास गणित नहीं होता कि इतना किया तो इतना पाया । इतना करते तो इतना पाते । यह मिला, यह न मिला । ये सब विकल्प मानवों के पास होते हैं, अति मानवों के पास नहीं । धुन के धनी कहाँ बगल में गणित का बहीखाता लिए फिरते हैं । वे तो जिधर चल पड़े चल पड़े । जिधर लग गए लग गए !

भारत के प्रथम चक्रवर्ती भरत क्या थे, कैसे थे । जीवन का कितना अधिक समय गुजरा संघर्षों में, द्वन्द्वों में । देखते हैं, वे यहाँ एक किनारे पर खड़े हैं । कितना विशाल साम्राज्य ! कितना विराट् सैन्य ! कितना अन्तःपुर में सुन्दरियों का जमघट ! और बदले तो इतना बदले कि एक अन्तर्मुहूर्त में

कुछ-से-कुछ हो गए । गए थे नवनिर्मित राजभवन में भोग विलासों की नवनव कल्पना लिए चक्रवर्ती के रूप में; और राज भवन से बाहर निकले तो केवलज्ञान महोत्सव की देवदुन्दुभियों के जयघोषों के बीच, पूर्ण वीत राग मुद्रा में।

और भरत चक्रवर्ती के ही लघु बन्धु बाहुबली कितने अखड, कितने अहंकारी ! बारह वर्ष तक युद्ध में जूझते रहे, इसलिए कि मुझे किसी के सामने झुकना नहीं है । और इस अहं के लिए ही एक वर्ष तक निरन्त निर्जल ! न हिलना, न डुलना । न बैठना, न सोना । पर्वत के पास, लगा, जैसे एक और पर्वत आकर खड़ा हो गया है । कुछ भी हो, केवल ज्ञान पाना है । केवलज्ञान महोत्सव की देवदुन्दुभियों के जयघोष में ही परमपिता भगवान ऋषभदेव के चरण कमलों में पहुँचना है । पर, अहं के प्रगाढ़ अन्धकार में केवल ज्ञान की दिव्यज्योति कैसे प्रकट हो सकती है । और फिर ब्राह्मी सुन्दरी बहनों के एक बोल पर बदले तो इतना बदले कि एक कदम उठाते ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । भावधारा का इतना विलक्षण मोड़ कि कमाल हो गया । एक ही छलांग में कहाँ से कहाँ पहुँच गए ।

अर्जुन माली कितना भीषण हत्यारा ! राजगृह के वन, पर्वत और राजपथ आदि पर लाश ही लाश, खून ही खून ! और जब बदला तो उसी राजगृह में क्षमा का देवता बन गया । शान्त प्रशान्त ! सागर वर-गंभीरा । छह मास में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । बिल्कुल गौतम और सुधर्मा जैसे गणधर पदधारी अत्युग्र साधक भी पीछे रह गए ।

श्वेताम्बिका नरेश परदेशी राजा, कैसा क्रूर ! जिन्दा आदमी के तिल-तिल बराबर टुकड़े कर डाले । रक्त में सने कुहनी तक दोनों हाथ । और जब शुभ में बदला तो इतनी क्षमा और करुणा कि विष देने वाले पर भी घृणा ओर द्वेष की एक हलकी-सी रेखा भी नहीं उभरी मन में । महामुनि केशीकुमार के दो अमृत वचनों ने जीवन पलट कर रख दिया । अशुभ और शुभ दोनों में ही किनारे के व्यक्ति हैं राजा परदेशी ।

दस्युराज अंगुलीमाल कितना क्रूर, हिंसक राक्षस कि निरपराध स्त्री-पुरुषों को मारता है, उनकी अंगुलियाँ काट-काटकर नित नई माला बनाता है, गले में पहनता है । मरघट में घूमने वाले पिशाच जैसा क्रूर अट्टहास ।

पूर्व भारत के श्रावस्ती जनपद का मानव देहधारी साक्षात् दैत्य । परन्तु लग गया तथागत बुद्ध का उपदेश । बदल गया जीवन । बन गया सर्वसंगत्यागी महान परिव्राजक । शुभ में आया तो कुछ ही क्षणों में दैत्य से देव बन गया ।

राजगृह के मगध प्रदेश का महाश्रमण जैनाचार्य प्रभव भी तो एक दिन ऐसा ही प्रलय का रूप लिए दस्युराज था, पाँच सौ दस्युओं का अधिनायक । और जम्बूकुमार के संग में आकर बदला तो मध्य रात्रि में लूटने के लिए आया हुआ भयंकर दस्यु, प्रातःकाल जिन चरणों का उपासक हो जाता है, जैन इतिहास का शतशत वन्दनीय भिक्षु !

नन्द साम्राज्य के महामंत्री शकटार का यशस्वी पुत्र स्थूलभद्र कोशा वेश्या के चंगुल में । उस रूपसी का यह मायाजाल कि दो चार वर्ष नहीं; पूरे बारह वर्ष तक पड़ा रहा उसकी मोहपाश में । भूल गया माँ बाप को, परिवार को, प्राणप्रिया पत्नी को, राज्य को, राज्य की अपनी पद प्रतिष्ठा को । और जब विवेक तथा वैराग्य का चांटा लगा तो तत्काल निकल पड़ा श्रमण भगवान महावीर के निर्दिष्ट साधना पथ पर । बन गया भिक्षु, आचार्य संभूतिविजय के श्री चरणों में । एक दिन काम का दासानुदास था विलासी युवक । और अब बन गया काम का विजेता । वर्षाकाल के चार महीने पूर्वपरिचिता एवं अनुरक्ता वेश्या के यहाँ गुजार देता है, जल में कमल की तरह निर्लिप्त ! इतना ही नहीं, स्थूलभद्र की वह दिव्य निर्मल वाणी कि कोशा भी जिनधर्म की श्राविका बन जाती है, आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेती है । यह है शुभ का धारावाही विस्तार ! विलक्षण अचिन्त्य विस्तार !

वैदिक परंपरा के महर्षि वाल्मीकि आप जानते हैं जीवन के पूर्व भाग में क्या थे—चोर, दस्यु, हत्यारा और अधम पापाचारी । निर्दोष राहगीरों के खून से हाथ सने रहते थे, उसके हाथ। एक दिन देवर्षि नारद का समागम। बोध लग गया सोई आत्मा को । जाग उठी जन्म-जन्म की सोई हुई अध्यात्म चेतना । उसी क्रूर हृदय में करुणा की शत-शत धाराएँ बह निकलीं । क्रूर व्याध के द्वारा एक दिन क्रौंच पक्षी का वध देखकर उनका अन्तर्मन इतना व्यथित हुआ कि रामायण महाकाव्य का उनके द्वारा सहज ही सृजन हो गया । रामायण करुणरस से आकण्ठ छलकता शब्दपात्र । यह था महामानव का वह जीवन, जो क्या से क्या हो गया ।

और तुलसीदास' भी क्या थे । पत्नी के मोह में अन्धे । छत पर से नीचे लटकते सर्प को रस्सी समझा, पकड़कर अँधेरी रात में मायके गई पत्नी के पास पहुँच गए । कहते हैं बीच में तेजघार से बहने वाली नदी को एक बहते मुर्दे पर बैठकर पार किया था, पत्नी के पास जाने के लिए । कौन जानता था, यह कामान्ध युवक तुलसी संत तुलसीदास बन जाएगा । लगी पत्नी की फटकार । जैसी नीत हराम में है, वैसी राम में हो जाये, तो बेड़ा न पार हो जाए ? शर्म नहीं आती इस तरह मायके में भी मेरा पीछा करते । बस, अब क्या था ? ठीक निशाने पर चोट लगी । वह दिन है कि तुलसी फिर मायाजाल में न उलझे । ' रामचरित मानस' का यह महान गायक सन्त राजमहलों से लेकर झोंपड़ियों तक जन-जन का जाना पहचाना संत है । एक किनारे से दूसरे किनारे कैसे इतनी जल्दी पहुँच गया ? एक दिन अशुभ की वह तीव्र धारा थी, जो शुभ में उस से भी अधिक तीव्र रूप में प्रवाहित हो गयी । तीव्रता तो थी ही, बस, उसे मोड़ चाहिए था । और वह मोड़ उसे मिल गया । प्रवाह में तीव्रता तो उन के संस्कार में थी ही ।

नारी जाति के भी कितने महान उदाहरण हैं इस सन्दर्भ में । यादव राजकन्या कुन्ती, कौमार्य अवस्था में ही भटक गई । कर्ण के रूप में अवैध संतान मिल गई तो अपने ही हाथों नवजात पुत्र को नदी में बहा दिया । गलती पर गलती । किन्तु भारतीय इतिहास में यही भटकी हुई पथभ्रष्ट लड़की एक दिन पवित्र एवं उच्च जीवन के रूप में पूजित हुई । जैन और वैदिक पुराण उसके निर्मल यशोगान से अनुगुंजित हैं ।

द्रौपदी क्या है ? एक साथ पाँच पतियों की वह पत्नी है, जो सामाजिक न्याय से अवैध है । किन्तु यह महानारी वह नारी है, जिसका पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भी सम्मान करते हैं । महर्षि व्यास जिसकी गुणगाथा महाभारत में मुक्तमन से गाते हैं । जैन इतिहास वर्तमान कालचक्र की १६ महान पवित्र एवं आदर्श नारियों में उसकी गणना करता है । कितनी विलक्षण उच्चता, महत्ता है द्रौपदी की ।

कोशा एक वेश्या ! महर्षि स्थूलभद्र के सत्संग से कितनी ऊँचाई पर पहुँच गई । जीवन ही बदल गया । और भी रुक्मिणी, सत्यवती आदि अनेक

१ कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में यह वृत्त कृष्णभक्त बिल्वमंगल से सम्बन्धित है ।

नारियाँ हैं, जो परंपरा से अलग होकर प्रेम विवाह आदि के रूप में अपना स्वतंत्र पथ अपनाती हैं । और फिर वे इतनी उदात्त उँचाई पर पहुँचती हैं कि इतिहास की महानारियाँ बन जाती हैं ।

महान आत्माओं की जीवनधारा विलक्षण होती है । उनकी चेतना इतनी अधिक तीव्र गतिशील होती है कि वे कुछ हो जाते हैं । भगवान महावीर कहते हैं मानव की संभावनाएँ अनन्त हैं, अचिन्त्य हैं । उसका अशुभ एक दिन भीषण एवं भयंकर होता है, तो एक दिन शुभ भी इतना उदात्त एवं महनीय होता है कि उसके समक्ष देव भी नतमस्त हो जाते हैं । अतः आज के पापी में भी पुण्यात्मा होने की संभावना देखो । पापी से घृणा नहीं; पाप से घृणा करो । पापी तो पुण्यात्मा हो जाता है, पर पाप कभी पुण्य नहीं होता । कर्मवीर, धर्मवीर भी होते हैं, यह सन्देह से परे है । ‘ जे कम्मे सूरा, ते चम्मे सूरा । ’

सितम्बर १९७७

सर्वतोमुखी क्रान्ति के सूत्रधार महाश्रमण महावीर

युग-निर्माता महापुरुषों का निर्मल मानस सदा ही जनमंगल की ओर गतिशील रहता है । वे पूर्वगत उचित परंपरा को ग्रहण करने तथा अनुचित को तोड़ने, साथ ही अनेक आवश्यक नई परंपराओं को जन्म देने की त्रिविध शक्तियाँ रखते हैं । यह बात और है कि ऐसे युगनिर्माता सभी नहीं, एक दो ही होते हैं। युग की पुकार ही युग-निर्माता को आगे आने को विवश करती है । और ऐसे युग-निर्माता का अनुसरण देर-सबेर युग करता ही है । अन्यथा जो प्रभावहीन हो, वह युग-निर्माता कैसा ? राम, कृष्ण, महावीर तथा बुद्ध ऐसे ही युग-निर्माता हुए हैं । इन सभी महापुरुषों के द्वारा सर्वतोमुखी लोकमंगल का सृजन हुआ है और धर्म, समाज तथा राजनीति आदि जीवन के सभी पक्षों को इनसे नई प्रभावशील सृजनदृष्टि मिली है । अतः भगवान के रूप में इनकी अर्चना अकारण नहीं है ।

लोकमंगल की दिव्य दृष्टि एवं सृष्टि के निर्माताओं के इतिहास पर ज्यों ही एक विहंगम दृष्टि डालते हैं, तो हम अनायास ही भगवान महावीर के युग-परिवर्तनकारी दिव्य रूप का दर्शन करते हैं । धर्म, समाज और राजनीति-तीनों ही क्षेत्र में भगवान महावीर, हमें क्रान्तिशील दृष्टि-गोचर होते हैं । यह परम सत्य है कि भगवान महावीर और उनके मूल दिव्य सन्देश शाश्वत हैं । वे किसी एक देश काल में परिबद्ध नहीं हैं । फिर भी युग-दृष्टि उनके संदेशों में ओझल नहीं है ।

धार्मिक क्षेत्र

ईसा पूर्व की छठी शती संपूर्ण विश्व के लिए धार्मिक संक्रान्ति-काल मानी जाती है । हमारा भारत तो उस समय अत्यंत ही व्याकुलता के दौर से गुजर रहा था । धर्म के क्षेत्र में यहाँ केवल रूढियाँ मात्र शेष रह गई थी, धर्म

का तेजस्वी रूप रूढियों के अंधकार में विलीन हो चुका था । ' वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ' का ज्योति उद्घोष करनेवाला राष्ट्र उस समय स्वयं अंधकार में भटक रहा था; यज्ञयागादि के रूप में मूक-पशुओं का बलिदान देकर अपने लिए वह देवताओं की अनुकंपा प्राप्त करने की विडंबना अपना रहा था । धर्म के नाम पर यत्र-तत्र उत्पीड़न-प्रधान क्रियाकांडों की जय-जयकार बुलाई जा रही थी । 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' की ओट में अखाद्य वस्तु भी उसके लिए खाद्य वस्तु बन गई थी । मनुष्य एक प्रकार से मानवीवृत्ति से राक्षसीवृत्ति पर उतर आया था और वह भी दैवीवृत्ति की पवित्रता के नाम पर। करुणा और दया की ज्योति मनुष्य की आँखों से दूर हो चुकी थी । कहना तो यह चाहिए कि धर्म का कोई अंग ऐसा नहीं बच रहा था, जिसमें सत्य होने की क्षमता शेष रही हो । ऐसे तमसाच्छन्न समय में भगवान महावीर को हम सत्य-धर्म का ज्योतिर्मय निरूपण करते हुए देखकर निश्चय ही विस्मय-विभोर हो उठते हैं । अर्थहीन कर्मकांड के स्थान में अन्तरंग परमतत्त्व को जागृत करने वाले अध्यात्मभाव की नई दृष्टि प्रदान कर वे धर्म को अमंगल भूमि से मंगलभूमि में स्थापित कर देते हैं ।^१ शुभ और अशुभ की सत्यलक्षी यथार्थ व्याख्या करके वे मनुष्य मात्र की आँखें खोल देते हैं, इसमें तनिक भी संदेह की गुंजाइश नहीं । अस्तु, सभी प्राणियों में परमात्म तत्त्व की भावना अपनाकर, जो भगवान महावीर के उपदेश का अमृत तत्त्व है, मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो गया । मानवता की दिव्य प्रभा से मानव हृदय आलोकित हो उठा ।

सामाजिक क्षेत्र

सामाजिक क्षेत्र में भगवान महावीर की जो देन है, वह तो सर्वथा क्रान्तिकारी देन कहीं जायेगी । समत्व की चर्चा मनुष्य समाज में प्रथम बार उनके द्वारा पुनर्जीवित हुई, व्यवहार में समता का जीवन मनुष्यों को प्रथम बार उनके द्वारा प्राप्त हुआ । शूद्र और नारी-समाज के लिए उन्होंने उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर दिया । चिरपतितों और उपेक्षितों के जीवन में प्रथम बार जागृति आई । युगान्तर स्पष्ट दर्शित होने लगा । शूद्रों की छाया से अपवित्र होने की आशंका पवित्र विप्रों के लिए नहीं रह गई ।^२ नारी को केवल भोग्य या दासी बनाकर नारकीय जीवन बिताने की आज्ञा देनेवालों को अपनी क्रूरता पर

१ उत्तराध्ययन सूत्र २३ वीं अध्यायन ।

२ उत्तराध्ययन सूत्र १२ वीं अध्यायन ।

पश्चात्ताप होने लगा । भगवान महावीर के जन्म से पूर्व का इतिहास आज अलभ्य नहीं रह गया है । हम उसके पुरातन पृष्ठों में समाज का जो हृदयद्रावक रूप पाते हैं, उसके स्मरण मात्र से रोमांच हो आता है । बाजार में खुले आम मातृ जाति का क्रय-विक्रय होता था, उन्हें पशुओं की तरह खरीदने के लिए सड़कों पर बोलियाँ लगाई जाती थी ।^३ इतना ही क्यों, यदि उन दास-दासियों की मृत्यु स्वामी की प्रताड़नाओं से हो जाती थी, तो उसकी सुनवाई के लिए कहीं स्थान नहीं था । कैसी विडम्बना थी कि उन दासों के हाथों भिक्षा ग्रहण करने में मोक्षार्थी भिक्षुक भी अपना अपमान मानते थे । भगवान महावीर ने प्रथम बार इस जघन्य वृत्ति के लिए समाज को चेतावनी दी । सृजनात्मक विप्लवी घोषणा की । इतिहास के पृष्ठों में चंदनबाला की कष्ट-कथा, तत्कालीन मनुष्यसमाज की दानवी-प्रवृत्ति एवं सामाजिक-विकृति दोनों को ही उजागर करने वाली कथा है । भगवान महावीर ने उसे यंत्रणापूर्ण जीवन से उबारकर विराट साध्वी-संघ के प्रमुखपद की उच्चपीठिका पर समासीन करने की भूमिका निभाई ।^४ उनके धर्म-संघ में वह श्रेष्ठ मानव आचार्यों की प्रवक्ता बनी । पतित तथा शूद्र कहलानेवाला, अभिशापित दास वर्ग, जो जीवनभर दास कर्म करता हुआ रोता पीटता मृत्यु के द्वार पर पहुँचता था, समाज में श्रद्धा-भाजन ही नहीं, मुक्ति-लाभ करने वाला भगवत्स्वरूप अर्हत के रूप में भी पूजित हुआ । समाज की विषमता दूर करने में भगवान महावीर को हम अन्य सभी महापुरुषों से आगे पाते हैं । ज्ञात इतिहास में उनके वैशिष्ट्य की तुलना सहज ही किसी दूसरे से नहीं की जा सकती ।

राजनीतिक क्षेत्र

हम देखते हैं, राजनीति के क्षेत्र में भी भगवान महावीर की उपलब्धि किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती । जिस संक्रान्ति काल में उनका जन्म हुआ था, वह राजनीति का भी सर्वथा द्रासकाल था । भारत ने प्रजातंत्र का नवीन प्रयोग कर जो कीर्ति प्राप्त की थी, उस प्रजातंत्र का मात्र ढाँचा ही शेष रह गया था । प्रजातंत्र में भी अधिनायकवाद का उभरता प्रचंड काला नाग जनता का रक्तपान करने लगा था । प्रजातंत्र की जन्मभूमी वैशाली में जननायक जन से हटकर केवल नायक के आसन पर आसीन हो चुके थे । और तो क्या,

^३ महावीर चरित्र — गुणचन्द्र ।

^४ कल्पसूत्र

राजा और राजा से ऊपर महाराजा का उच्च आसन भी रिक्त नहीं था, तत्कालीन प्रजातंत्रों में । इतिहास महाराजा चेटक को हमारे सामने सर्वाधिकार प्राप्त महाराजा के रूप में ही उपस्थित करता है । स्वयं भगवान महावीर का जन्म भी ज्ञातृगणतंत्र के वैभवशाली एक सन्मान्य राजकुल में हुआ था । हम तो कहेंगे, प्रजातंत्र की अनेक अलोकतंत्रीय खामियों ने नित्य के होनेवाले उत्पीड़नों ने ही भगवान को तथा कथित प्रजातंत्री जननायकों तथा एकतंत्री निरंकुश राजाओं के विरुद्ध बोलने को विवश कर दिया था । यहाँ तक कि उन्होंने अपने भिक्षुओं को राजकीय अन्न तक भी ग्रहण करने का निषेध कर दिया था । उन्होंने केवल आनेवाले कठिन भविष्य की ओर तत्कालीन जननायकों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं कराया, उन्हें सही रूप में जन प्रतिनिधि के योग्य कर्तव्य-पालक की चेतावनी भी दी । महावीर ने कहा था कोई कैसा ही महान क्यों न हो, महाआरंभ और महापरिग्रह नरक के द्वार हैं ।^५ समग्रभाव से प्रजा के प्रति अनुकम्पाशील होना ही राजा का सही अर्थ में राजत्व है ।^६ यदि और कुछ उच्चतर पावन कर्म नहीं कर सकते हो, तो कम से कम साधारण आर्यकर्म तो करो ।^७ राजनीति के क्षेत्र में यह कितना महान उद्बोधन था ! कौन कह सकता है कि वैशाली जनतंत्र का विघटन भगवान महावीर के उक्त साम्यधर्म को यथाथरूप में ग्रहण न करने के कारण ही नहीं हुआ । यदि वैशाली के जननायक अपने को साम्य भूमि पर उतार पाते, बिखरे जनगण को समधर्मा रूप में अपनाने का साहस अपनाते तो वैशाली का जनमानस कभी विघटित नहीं होता । मगध की राजशक्ति वैशाली को चिरकाल में भी ध्वस्त नहीं कर पाती ।

इतिहास का वातायन एक-एक अन्वेषी हृदय के लिए खुला हुआ है — हम जितनी बार चाहें भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात कर सकते हैं । हमें उनके जीवन एवं संदेशों से किसी भी वाद, किसी भी समस्या का समुचित समाधान आज भी प्राप्त हो सकता है ।

जाती है जिस ओर दृष्टि, बस उसी ओर आकर्षण,
करता अग जग को अनुप्राणित जगनायक का जीवन ।

५ स्थानांग सूत्र

६ उत्तराध्ययन १३ वीं अध्यायन

७ उत्तराध्ययन १३ वीं अध्यायन

जीवन का मूलतत्त्व है शुभाशा

मानव की जीवनयात्रा में आशा का विलक्षण महत्त्व है । यह वह प्राणवान ज्योति है, जो जीवन की अन्धकाराच्छन्न कालरात्रि में भी उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करती है, और निराशा के क्षणों में मूर्च्छित निस्तेज हुए मन को नया जीवन देती है ।

जब व्यक्ति के मन को निराशा का अन्धेरा घेरता है, हीन भावना का दंश जीवन में से कर्म का रस चूस लेता है, जब जीवित व्यक्ति भी मृत हो जाता है । जीवित शव मृत शव से अधिक भयंकर होता है । यह जीवित शव जब सड़ने लगता है, तब वह असह्य भीषण दुर्गन्ध फैलती है कि आस पास का सारा वातावरण नरक बन जाता है । निराशा से रोती आँखों में नरक है, तो आशा और विश्वास से चमकती आँखों में स्वर्ग है ।

जीवन और मृत्यु की परिभाषा करते हुए एक मनीषी ने ठीक ही कहा है कि आशा जीवन है, और निराशा मृत्यु । आशा मृत, मूर्च्छित व्यक्ति में भी जीवनरस का संचार करती है । यह आशा ही है जो निराशा के कारण जीते जी ही मृत्यु के मुख में पहुँचते लोगों को नया जीवन, नया प्राण देकर कर्म की समरभूमि में साहसी वीर योद्धा की तरह जूझने के लिए खड़ा कर देती है । जहाँ आशा है, आत्मवत्ता है, वहाँ नरक में भी स्वर्ग उतर आता है । इसके विपरीत जहाँ निराशा है, आत्महीनता है, वहाँ स्वर्ग भी नरक में परिवर्तित हो जाता है । निराशा अपने हाथों अपनी हत्या करना है । संसार में दूसरों के द्वारा व्यक्तियों की इतनी हत्या नहीं हुई है, जितनी कि निराश व्यक्तियों ने स्वयं अपने हाथों अपने अस्तित्व को मिट्टी में मिलाकर अपनी हत्या की है ।

राक्षसराज रावण की कैद में है पवित्रता की प्रतिमूर्ति देवी सीता। चारों ओर भयमूर्ति राक्षसों का नंगी तलवार लिए पहरा है । राक्षसों की क्रूर

मुखाकृति पर से लगता है, उनके पास से हवा भी डरती हुई निकलती है । लंका के चारों ओर दिन रात सागर गर्जता है, जिस पर हर क्षण मृत्यु नाचती फिरती है । कोई आशा नहीं, राम इस जीवन में यहाँ आ सकेंगे और राक्षसों की अजेय शक्ति को पराजित कर सीता को कैद से छुड़ा सकेंगे । सब ओर से यही एक ध्वनि है, पागल है सीता, जो राम के आने की आस लगाये बैठी है । असंभव है वनवासी राम का लंका में आना । सर्वथा और सर्वदा असंभव । वह मर कर भले ही यहाँ जन्म ले सकता है । जीते जी, अपनी इस वर्तमान देह स्थिति में तो कोटि-कोटि प्रयत्नों के बाद भी वह यहाँ नहीं आ सकता, बिल्कुल भी-बिल्कुल भी नहीं आ सकता । ऐसे नरक जैसे अन्धेरे क्षणों में एक क्षण भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता । आत्महत्या कर लेने के सिवा उसके लिए दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता है । परन्तु सीता है कि क्रूर मौत के इस अट्टहास करते जंगल में भी साहस के साथ आशा का अविचल आसन जमाये बैठी है । राम आएँगे । राक्षसराज को धराशायी कर मुझे छुड़ाएँगे, अवश्य छुड़ाएँगे यही एक आशा का अमर दीप हरक्षण जलाये रही । और अन्ततः सीता की यह आशा पूर्ण होती ही है । इतिहास साक्षी है इस लाखों वर्ष पुरानी घटना का । यदि सीता आशा छोड़ बैठती तो क्या होता ? आत्महत्या के क्षणों में उसकी सड़ती हुई लाश राक्षसों द्वारा समुद्र में फेंक दी जाती या किसी नरभक्षी राक्षस की भूख बुझाने के काम आती ।

मानव जाति, जिसमें जन्म लेने के लिए स्वर्ग के देव भी आतुर रहते हैं, उसी सर्व श्रेष्ठ जीवन में से प्रति वर्ष लाखों ही स्त्री-पुरुष क्यों आत्महत्या करते हैं । यौवन के साहस भरे प्रांगण में झूमते युवक और युवतियाँ, जिनके द्वारा धरती पर स्वर्ग का निर्माण किया जा सकता था, क्यों असमय में ही आत्महत्या के शिकार हो जाते हैं ? एक ही उत्तर है । वह यह कि निराशा के अँधेरे क्षणों में ही इस तरह की दुर्घटनाएँ होती हैं । किसी भी रूप में हो, निराशा ही इन आत्महत्याओं के मूल में है । जब व्यक्ति सब ओर से निराश हो जाता है, आशा की कोई एक किरण भी आँखों के सामने प्रकाशमान नहीं होती है, तब कहीं व्यक्ति अपने हाथों अपना गला काटता है । आत्महत्या, जिसे भगवान महावीर ने पाप नहीं, महा पाप कहा है, करने को प्रस्तुत हो जाता है ।

निराशा के क्षण जीवन में बड़े ही विचित्र होते हैं । एक बार भी यदि कोई व्यक्ति निराशा के अन्धगर्त में गिर जाता है, तो फिर उसका उभरना

मुश्किल हो जाता है । उसे सब ओर अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है । हर काम में असफल होते रहने की आशंका की नागन हरक्षण उसे डसती रहती है । एक युवक सब ओर से निराश हो रहा था । दो चार काम किए, असफल हो गया, तो निराशा का कुहासा सघन हो गया । एक दिन उसे एक पुराना मित्र मिला । बात हुई तो उसने टोपी का काम शुरू करने के लिए परामर्श दिया । निराश मित्र ने लंबी सांस छोड़ते हुए कहा, “ आप ठीक कहते हैं । पर, मेरा भाग्य तो ऐसा बदतर है कि ज्यों ही मैंने टोपी का काम शुरू किया नहीं कि भगवान विना शिर के आदमी पैदा करने लगेगा । शिर के विना टोपियाँ क्या काम आएँगी ? कौन खरीदेगा मेरी टोपियाँ ? ” कितना दुर्बल मन हो जाता है निराश व्यक्ति का । विचित्र असंभव संभावनाओं के जाल में उलझ जाता है दुर्बल मन । भगवान की उससे क्या व्यक्तिगत दुश्मनी है, जो उसके विरोध में सृष्टि का रूप ही बदल देगा ? अगर वह जुराब या जूतों का काम करेगा तो विना पैर के आदमी पैदा करेगा । भोजनालय चलाएगा, तो विना पेट और मुँह के आदमी पैदा करने लगेगा । और यदि वर्तमान के लोगों के लिए ही टोपी या जुराब आदि का घंघा शुरू किया, तो कहीं ऐसा न हो कि रूखा हुआ भगवान उस एक को तंग करने के लिए सभी लोगों के शिर और पैर काट डाले । जरा विचार करो, भगवान को इस विनाश के कुचक्र से क्या लेना देना है । तुम्हारा अपना कर्म है, जिसे तुम जैसा भी चाहो, कर्म से ही इधर उधर कर सकते हो, बदल सकते हो । आपका भाग्य आपके हाथ में है, न कि आकाश के किसी ब्रह्मा, विष्णु, महेश या भगवान के हाथ में । भगवान तो प्रेरणा के देवता हैं । उनसे या उनके स्मरण से तो जब होगा, भला ही होगा । वह क्यों किसी का बुरा करेंगे । भगवान भगवान ही होता है, शैतान नहीं होता । अतः अपने मन को न गिराओ । कैसी भी दुःखद स्थिति हो, उच्च संकल्पों के दीप बुझने न दो । बुझा हुआ मन पराजय का हेतु है और प्रज्वलित मन विजय का । कहा है ‘ मन के हारे हार है, मन के जीते जीत । ’

मानव की स्थिति असाधारण है । जैसा कि हमारे पुराने ग्रन्थों में वर्णन है, ‘ मानवलोका के नीचे नरक है और स्वर्ग ऊपर । ’ इसको भौगोलिक अर्थ में तो देखा ही गया है । मैं कहता हूँ, इसे भावना के अर्थ में भी देखने एवं समझने का प्रयत्न करो । आप की भावना अधोमुखी है, नीचे की ओर है, तो वह नरक है । और आप की भावना ऊर्ध्वमुखी है, ऊँचाई की ओर है, तो वह स्वर्ग है । इसीलिए अथर्व वेद (८.१.६) के एक ऋषि ने कहा है “ उद्यानं ते

पुरुष नावयानम् ।” रे मानव, तेरी गति ऊपर की ओर हो, नीचे की ओर नहीं । ठीक है मानव जैसा सोचता है वैसा ही होता है । सत्संकल्पों की अखण्ड ज्योति जिसके मनमन्दिर में प्रज्वलित है, उसके यहाँ कहाँ अंधेरा है । कौन ऐसी वस्तु या स्थिति है, जो उसे दुर्लभ-दुष्प्राप्य हो, जिससे वह वंचित हो । अथर्व वेद (११.२.२५) के ही एक अन्य ऋषि ने कहा है — “ न ते दूरं, न परिष्ठास्ति ते।” अर्थात् मानव ! तेरे से कुछ भी दूर नहीं है । विश्व में कौन वह वस्तु है, जो तुझ से छुपाकर अलग रख दी गई हो । वैदिक काल के ये उद्घोष मानव के सोये अन्तर्बल को झकझोर कर जगाते हैं कि भले मानुष, तू जो भी चाहेगा, वह हो जाएगा । जरा चाह कर तो देख !

आज अन्धकार है तो क्या है ? कल प्रकाश न होगा-क्या । रात बीत रही है, स्वर्णिम प्रभात आ रहा है । हर रात के बाद सुनहला सबेरा आता ही है । उसे कोई रोक नहीं सकता है । “ कुछ पल का है मेहमां अंधेरा, किसके रोके रुका है सबेरा ।” रात को समाप्त होना है, सबेरे को आना है । पश्चिम में डूबा हुआ सूरज रात गुजरते ही फिर उदयाचल पर आ खड़ा होता है, अपनी हजारों-हजार किरणों को अम्बर से लेकर धरती तक सब ओर फैलाता हुआ । पतझर आया है । हरे भरे वृक्ष अपने पत्र, पुष्प, फल सब गवाँ कर ढूँढ हो गए हैं । पर यह सब कितने समय तक । वसंत आता है । सब तरु एवं लताओं को पुनः पल्लवित एवं पुष्पित कर देता है । कौनसा है वह पतझर, जिसके ऊपर वसन्त नहीं आता है । चांद घटता-घटता अमावस्या को एक तरह लुप्त ही हो जाता है । पर देखते हो, जल्दी ही वह फिर अपनी विकास यात्रा प्रारंभ कर देता है, सृष्टि को अपनी दुधिया चांदनी से नहलाने लगता है । लाखों लाख नक्षत्र और ताराओं का राजा हो जाता है । वैशाख जेठ का महीना। आग बरसती है । प्रकृति झुलस जाती है । पर आषाढ़ समाप्त होते न होते नभ में बादल गरजने लगते हैं । धुँआधार बरसने लगते हैं । प्यासी धरती का उजड़ा उपवन फिर स्वर्ग का नन्दन उद्यान हो जाता है । क्या मानव के जीवन में यह सब न होगा ? दुःख आया है तो क्या सुख न आएगा ? अंधेरा आया है तो क्या उजेला न आएगा ? क्या मानव की प्रकृति में ऋतु परिवर्तित नहीं होती ? क्या पतझर के बाद वसन्त और ग्रीष्म के बाद वर्षा मानव के भाग्य में नहीं आएँगी ? क्यों न आएँगी ! अवश्य आएँगी । अपेक्षा है कुछ समय के लिए धैर्य की । भले ही सब कुछ नष्ट हो जाए, पर एक धैर्य नष्ट नहीं होना चाहिए । धैर्य और आशा एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । अथवा यों कहना चाहिए कि दोनों एक ही हैं ।

यही कारण है कि निराश, हताश, उदास व्यक्ति को न आशा होती है और न धैर्य। वह जल्दी ही अधीरता को शिकार हो जाता है, और इस प्रकार अपनी हत्या खुद आप कर लेता है। न वह अपना होता है, न दूसरों का। किसी का भी कुछ नहीं होता। मिट्टी के ढेले का तो कुछ मूल्य होता है। पर उसका एक कानी कौड़ी का भी मूल्य नहीं होता। जो अपनी नजरों में खुद गिर जाता है, वह दूसरों की नजरों में क्यों नहीं गिरेगा। दूसरों की नजरों में गिरने से पहले आदमी खुद अपनी नजरों में गिरता है। स्वयं स्वयं को अपमानित करता है, ठुकराता है। अतः हर व्यक्ति के लिए यह सूत्र ध्यान में रखने जैसा है। रखने जैसा क्या, रखना ही है — “नर हो, न निराश करो मन को।”

नया वर्ष आशा का नया सन्देश लेकर आ रहा है। पिछला वर्ष जैसा भी था गुजर गया, चला गया। अब उस गुजरे हुए वर्ष के विकल्पों में मन को उलझाये रखने से कोई लाभ नहीं है। नया साहस, नयी उमंग, नया रंग लेकर जीवनपथ पर आगे बढ़ो। संभव है, कुछ दूर कांटों में चलना पड़े। पर आगे देखना, पथ पर फूल भी बिछे पड़े हैं। नये वर्ष के स्वर्णिम प्रभात में सुन्दर भविष्य की स्वर्णिम किरणें भी जग मगा रही हैं। जहाँ स्वर्णिम एवं मोहक आशा है, कुछ न कुछ अच्छा करने का सपना है, वहाँ स्वर्ग की दिव्यता के अवतरण में कोई देर नहीं है। अगर देर है भी, तो अन्दर तो बिल्कुल नहीं है। मंगलमय अनन्त ज्योतिः स्वरूप अपने महा प्रभु का स्मरण करो और जीवन रथ को कर्म के पथ पर दौड़ा दो। जो होगा, अच्छा ही होगा, उस राजस्थानी भक्त के शब्दों में “अर्जुन रथ को हाँक दे, भली करेंगे श्याम।”

सुन्दर कर्म से निर्मित होने वाले सुन्दर भविष्य के सपने देखते रहो देखते रहो, अपने आराध्य को याद करते रहो करते रहो। प्रभु के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पण करने वाले कर्मयोगी आशावादी भक्तों का हर दिन उत्सव का दिन होता है, और हर रात्रि सत्यं, शिवं सुन्दरं की रात्रि होती है।

शिवमस्तु सर्व-जगतः

परहितनिरता भवन्तु सत्त्वगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं,

सर्वत्र सुखीभवतु लोकः ॥

(१७३)

अखिल विश्व का नित हो मंगल,
परहित-रत हों सब नारी नर ।
दोष दूर हों सब तन मन के
सुख में हो जगती का हर घर ॥

जनवरी १९७८

मानव, खोल मन की आँख

मानव की तीन आँखों में से दो आँखें बाहर में हैं, और एक अन्दर में है, जिसे मन की अर्थात् मनन की आँख कहते हैं। बाहर की दो आँखें तो पशु, पक्षी, यहाँ तक कि मक्खी, मच्छर तक को भी होती हैं। पर, उनसे दिखता क्या है ? बस, यही एक आकृति, बस यही एक रंग रूप। कौन कितना लंबा है, चौड़ा है, कौन कितना गोल मटोल है या ठिगना है, बस, देख लिया एक आकार। कौन काला है, लाल है, हरा है या सफेद है, बस, देख लिया एक रंग, एक रूप। इससे आगे का चिन्तन नहीं है, कोई स्पष्ट इनके पास, जो जीवन को, जीवन के निर्माण को नया रूप दे सके। इसीलिए यह जगत् बहुत निचले स्तर पर, जैसा कि अनादि अतीत से चला आ रहा है, बस, वैसे ही आज भी चल रहा है। जो जंगली पशु जिस तरह घुरी या बिल बनाकर रहते आए हैं, उसी तरह आज भी रह रहे हैं। ' जो पक्षी जैसा घोंसला लाखों वर्ष पहले बनाते थे, आज भी उनके द्वारा उसी तरह तिनके इकट्ठे किए जाते हैं, घोंसले बनाये जाते हैं। कोई सुधार नहीं, परिष्कार नहीं, कोई उद्धार नहीं। न उनका कोई भौतिक विकास हुआ है, न आध्यात्मिक। जहाँ के तहाँ पड़े हैं। क्यों पड़े हैं ? इसलिए पड़े हैं कि तीसरी आँख मन की, मनन की जो है, वह निरावरण नहीं है, साफ नहीं है, इनके पास।

मानव इस सन्दर्भ में भाग्यशाली है। उसका मन विलक्षण है, दिव्य है। उसका मनन चमत्कारी है। पशुओं के समान ही उसे भी नीचे धरती और ऊपर आकाश मिला है, पर, उसने अपने जागृत मन से, अपनी सूक्ष्म मननशक्ति से धरती और आकाश के बीच एक नई सृष्टि का सृजन कर लिया है। वह भी कभी, जैसा कि जैन और वैदिक पुराण कहते हैं, पशुओं के ही समकक्ष था अविकसित या अल्पविकसित। उसके पास भी न गाँव था, न घर था, न व्यापार था, न उद्योग था, न धन वैभव था, न परिवार था। न समूज था। उसे न अपनी आत्मा का पता था न परमात्मा का। किन्तु मानव यथास्थितिवादी न था। उसका मनन चलता रहा, मनन के साथ श्रम का चक्र

चलता रहा और वह हो गया धरती पर के अनन्तानन्त प्राणियों में एक विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राणी । कुछ अंशों में स्वर्ग के देवों से भी महत्तम । अतः वह देवताओं का भी प्रिय हो गया । ‘ देवाणुप्पिय— देवानुप्रिय ! ’ देवों का प्रिय ही नहीं, उनका पूज्य भी बन गया । कोटि-कोटि देव उसके धूलिधूसरित चरणों में प्रणत हो गए । अतः कुछ महातिमहान् लोकोत्तम महापुरुषों के प्रति भक्तिगीत मुखरित हो उठे— ‘ जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमस्तंति । ’ वस्तुतः अन्तरंग आध्यात्मिक विकास की यात्रा में तो वह समग्र विश्व को बहुत पीछे छोड़ आया । क्यों कि आत्मा परमात्मा बन सकता है और यह आत्मा से परमात्मा बना मानव का अन्तरात्मा ।

प्रकृति की असंख्य घटनाएँ हर क्षण होती रहती हैं । पशु पक्षी का जगत् भी उन्हें देखता है । पर यह सब क्या है, क्यों है, किस लिए है, ऐसा कुछ भी अर्थबोध नहीं लगा पाता वह घटित घटनाओं का । देखा और रह गया जड़ की तरह । भय की कुछ स्थिति हुई तो डरकर भागा । खाने की चीज हुई तो खाने को लपका । प्रतिकार का भाव जगा तो किसी को मार दिया या मारने के चक्र में खुद मर गया । जंगल में रहा तो भागते दौड़ते, मरते-मारते मर गया । गाँव में रहा तो पिटते, मार खाते और भार ढौंते-ढौंते जीवनलीला समाप्त कर दी । न पुरानी पीढ़ी से उसने स्वयं कुछ पाया, और न अपनी भावी पीढ़ी को ही वह कुछ दे सका । कारण वही मनन का अभाव ! बाहर की आँखों से घटनाओं को देखता रहा, किन्तु अन्दर की आँख से घटना के आन्तरिक रहस्य को न देख सका । न प्रश्न खड़ा कर सका, न उत्तर पा सका ।

मैं यहाँ मानव की बात कर रहा हूँ, जो वस्तुतः मानव है, मनु का पुत्र है, चिन्तन मनन का बेटा है । जो तन से ही नहीं, मन से भी मानव है । मैं उनको मानव नहीं कहता, जो पशु जगत् के समान ही मनन से हीन हैं, विचार से शून्य हैं, विवेक से हीन हैं । ऐसे मानव तो पशुओं के समान ही घटनाओं को बाहर से देखते हैं, और देखकर निष्क्रिय खड़े-के-खड़े रह जाते हैं, तन से भी और मन से भी । न मन में कोई हलचल और न तन में । यदि कुछ हलचल होती भी है तो पशु जगत् की सीमारेखा के आस पास ही ।

परन्तु जिन मानवों का मनन सक्रिय है, जिनके मन मस्तिष्क में घटनाओं को देखते ही प्रश्न खड़े हो जाते हैं और तत्काल उनका उत्तर पाने के

लिए जो मचल पड़ते हैं, जूझने लगते हैं, वस्तुतः वे ही मानव हैं, जो सृष्टि के सर्वोत्तम प्राणी हैं । उनकी देन वह अमर देन है, जिसके ऋण से विश्व कभी मुक्त न हो सकेगा । वे इतिहास-पुरुष हैं । उनके बिना इतिहास एक कदम भी आगे नहीं चल सकता । उनकी जीवनज्योति, वह अमर ज्योति है, जो निरवधि भविष्य में युग-युगान्तरों तक भावी मानव को अपने और विश्व के नवनिर्माण के हेतु प्रेरणा का प्रकाश देती रहेगी ।

कभी-कभी घटना देखने में बहुत मामूली होती है । यों कोई उसका मूल्य नहीं होता । साधारण व्यक्ति तो उस पर ध्यान ही नहीं दे पाता कि क्या बात है, जरा देखें तो सही । परन्तु जिनके अन्दर की विवेकदृष्टि, विश्लेषण शक्ति तीक्ष्ण होती है, उनकी रहस्य-भेदी पैनी आँखें वस्तुस्थिति को तत्काल पकड़ लेती हैं । और फिर उस पर इतना गहरा तलस्पर्शी चिन्तन मनन होता है, विचारमन्थन होता है कि सत्य का नवनीत उभर कर जब बाहर आता है, तो संसार सहसा चकित रह जाता है । विश्व के अनेक महान आविष्कार इसी तरह की साधारण-सी दिखाई देनेवाली घटनाओं के अन्तर्निरीक्षण से ही आविर्भूत हुए हैं, जिनसे आज विश्व कितना लाभान्वित है ।

‘जेम्सवाट’ बड़ा ही शरारती खिलाड़ी लड़का । पढ़ने-लिखने में बिल्कुल मन नहीं । एक दिन यों ही रसोई घर में बैठा था कि उसे खन खन की आवाज सुनाई दी । इधर-उधर नजर दौड़ाई, पर कुछ पता न चला । ज्यों ही घटना की तलाश में नजर घूमती हुई चूल्हे पर रखी केतली पर गई, तो क्या देखा कि केतली पर का ढक्कन बार-बार ऊपर उठता है, नीचे गिरता है, जिससे खन-खन की आवाज होती है । उसने देखा कि पानी गरम होने से भाप बनती है, जिसके ऊपर उठने से ढक्कन ऊपर उठता है और जब वह निकल जाती है तो ढक्कन नीचे गिर पड़ता है । उसने ढक्कन पर कोयले का बड़ा सा टुकड़ा रखा, फिर भी भाप से ढक्कन ऊपर उठ गया । और इस तरह वाट को भाप की शक्ति का पता लग गया और उसने इसका प्रयोग करने के लिए आगे चलकर एक मशीन बनाई । और यह मशीन ही स्टीफेंसन के द्वारा विकसित होकर रेल का इंजन बना, जो आज प्रतिदिन करोड़ों आदमियों को और करोड़ों टन माल को जन्नाटे से भूतलपर इधर उधर करता फिरता है । इस प्रकार रेलों के जन्म का मूल श्रेय साधारण-सी घटना का विश्लेषण करने वाली जेम्स की सूझ-बूझ को है ।

अमरीका निवासी वाल्टर हंट लुहार की तेज तर्रार बीबी । उसके फ्राक का बटन टूट गया तो उसने तुरन्त बाजार से लाने को कहा । हंट विचार में पड़ गया, कि इस वक्त बाजार कौन जाए । उसने पास पड़े हुआ तार के टुकड़े को इधर उधर मोड़कर बीबी को दे दिया और कहा कि आज बटन के बदले इसी से काम चला लो ।

यह काँटा बटन की अपेक्षा कपड़ों में लगाना अधिक आसान लगा । फलतः अनेक सुधार तथा परिवर्तनों के बाद इसने ' सेफ्टिपिन ' का रूप लिया, जिसकी उपयोगिता आज जग-जाहिर है ।

एक चौंका देनेवाला चमत्कार दूरदर्शी (टेलिस्कोप) का है । मिडेल वर्ग (हालैण्ड) नगर का निवासी जान लिपसी तरह-तरह के लैंसों के बनाने का काम करता था । एक दिन उसने एक अवतल और दूसरा उत्तल, दो लैंसों को थोड़ी दूरी के अन्तर पर एक सीध में रखा और अपनी आँख लैंस पर केन्द्रित कर सामने वाले क्लाक टावर (घंटा घर) को देखा, तो आश्चर्यमुग्ध । उसे लगा कि दूरस्थित क्लाक टावर की घड़ी पास आ गई है और काफी बड़ी दिखाई दे रही है । इस प्रकार परिष्कृत होते-होते संसार के प्रथम दूरदर्शी टेलिस्कोप का जन्म हुआ । फिर तो उक्त यंत्र ने थोड़े बहुत परिवर्तनों के बाद वह रूप लिया, जिसने करोड़ों अरबों मील दूर आकाश में रहे ग्रहों, नक्षत्रों ताराओं तक के रहस्य खोल दिए । धरती पर बैठा मानव आज इसी यंत्र के माध्यम से सुदूर ब्रह्माण्ड का दर्शन कर रहा है ।

न्यूटन ने देखा, सब पेड़ से टूटा और नीचे जमीन पर आ गिरा । इधर-उधर, ऊपर या तिरछा कहीं न जाकर सीधे नीचे ही क्यों आया ? खोज हो गई पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के महान सिद्धान्त की । घटना कितनी छोटी । धरती के करोड़ों लोग आँखों से यह सब देखते रहे हैं, देख रहे हैं । पर, रहस्य खोजा न्यूटन की अन्दर की आँख ने ।

भौतिक जगत् में ही नहीं, आध्यात्मिक जगत् में भी ऐसा ही होता है। साधारण-सी नगण्य घटनाओं के निरीक्षण से वह बोध मिलता है कि आदमी का जीवन ही बदल जाता है । अनेक दस्यु, हत्यारे, गुण्डे प्राचीन काल में ऐसे

हो गए हैं कि हजारों वर्ष बाद आज भी संसार उनसे चमत्कृत है । पर, वे जगे थे, बदले थे मामूली-सी घटनाओं पर से ।

भोगासक्त विलासी राजा अरविन्द संध्या समय महल की छत पर खड़ा है । देख रहा है संध्या के सुनहरे रंगों की अद्भुत छटा क्षितिज पर के बादलों में । कुछ ही देर में सब समाप्त । वही काले काले बदरंग बादल । हो गया वैराग्य । संसार का ऐश्वर्य नश्वर है । यह बोध मिला और चल पड़ा मुनि बनकर आर्हती साधना के अग्नि पथ पर ।

कलिंग नरेश करकण्डू । एक बछड़े को जवान होते, और फिर वृद्ध होते देखा तो बोध हो गया, कि न यौवन स्थायी है और न जीवन । जैन साधना का यह प्रबुद्ध यात्री प्रत्येक बुद्ध केवली बना, निर्वाण पा गया । नौजवानों को बूढ़े होते देखना, क्या कोई बहुत बड़ी फिलासफी की बात है ? बात बड़ी नहीं, बड़ी है देखने की दृष्टि ।

शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ एक रोगी को देखते हैं, एक वृद्ध और एक मृत (शव) को भी देखते हैं, और उनके अन्तर्मन में वैराग्य की ज्योति प्रज्वलित हो जाती है । फलस्वरूप अपने युग की परमसुन्दरी पत्नी यशोदा को और नवजात पुत्र राहुल को छोड़कर रात के अन्धेरे में निर्जन वन की राह पकड़ लेते हैं, साधना करते हैं और अन्त में बुद्ध बन जाते हैं । मैं पूछता हूँ, रोगी या वृद्ध या मृतक को देखना अपने में कोई विलक्षण घटना है ? सुबह से शाम तक इस तरह के दृश्य अनेक बार देखे जाते हैं । पर, वैराग्य किसे होता है ? चमड़े की आँख से नहीं; चिन्तन की आँख से जो देखता है । सिद्धार्थ ने चिन्तन की आँख से देखा और वह संसार का महान पुरुष बुद्ध हो गया ।

मिथिलानरेश 'नमि' दाहज्वर से पीड़ित हैं । रानियाँ दाह शमन के हेतु चन्दन घिस रही हैं । स्वर्ण कंकण बज रहे हैं । शोर सुहाता नहीं है राजा को । हाथों में रानियाँ एक-एक कंकण रखकर अन्य सब कंकण उतार देती हैं । चन्दन अब भी घिसा जा रहा है, पर, आवाज नहीं है । अकेला कंकण किस से टकराये ? टकराये नहीं तो बजे कैसे ? 'नमि' इस साधारण-सी घटना पर से जागृत हो जाते हैं, प्रत्येक बुद्धों के इतिहास में अंकित हो जाते हैं । बोध हो जाता है कि संघर्ष द्वन्द्व में से जन्म लेता है । अकेला सुखी है, शान्त है । 'एगोहं नत्थि मे कोई ।'

दत्तात्रेय के २४ गुरु भी इसी कोटि के हैं । कुत्ता भी गुरु है, चील भी गुरु है । इन साधारण प्राणियों की नाचीज हरकतें भी दत्तात्रेय को बोध दे गई । बोध लेने वाला चाहिए; विश्व की हर घटना गुरु होने के लिए प्रस्तुत है। हर जगह बोध का प्रकाश है, देखने वाली आँखें चाहिए । प्रकाश के होते हुए भी अंधी आँखों को प्रकाश नहीं दिखाई देता तो इसमें प्रकाश क्या करे ।

फरवरी १९७८

महत्ता शब्द की नहीं, भाव की है

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन के धर्ता तीर्थकर, केवली जिन अपने प्रत्यक्ष दर्शन से सत्य के रहस्य का, मर्म का उद्घाटन करते हैं । अतः वे अर्थ के प्रवक्ता हैं, जैसा कि पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने कहा है “ अत्थं भासई अरहा।”

तीर्थकरों का शब्द पर भार नहीं होता है । शब्द चूँकि किसी भाषा का होता है । और भाषा उसी भाषा-भाषी के लिए सीमाबद्ध हो जाती है । उससे भिन्न व्यक्ति के लिए वह अरण्यरोदन के सिवा अन्य कुछ अर्थ नहीं रखती। कोई भी भाषा हो, वह शब्दों का एक लघु बहुत छोटा सा पात्र है, जिसमें सत्य के अपार क्षीरसागर की चन्द बूँदें ही समाहित हो सकती हैं । उन चन्द बूँदों से इने-गिने चन्द व्यक्तियों की ही प्यास बुझ सकती है । अतः वह अमुक अल्पदेश एवं अमुक अल्पकाल तक ही अपनी बोधशक्ति का प्रयोग कर पाते हैं । सर्वदिश तथा सर्वकाल जैसा बोध शब्द के पास न कभी हुआ है और न कभी होगा ।

“ देवाधिदेव तीर्थकरों की इसीलिए शब्द से परे होकर बोधयात्रा है । उनका उद्घोषित सत्य पशु पक्षी तक भी समझ लेते हैं, और उस पर यथाशक्ति चल भी पड़ते हैं ” इस धारणा के मूल में इस या उस भाषा के आग्रह का प्रश्न स्वयं उखड़ जाता है । पशु पक्षियों के पास कौन सी और किस देश की भाषा है, जिसके माध्यम से वे प्रभु की धर्मदेशना का अर्थबोध प्राप्त करते हैं ।

* तीर्थकरों की देशना के लिए दिगम्बर जैनाचार्यों ने लगता है, इसी ‘अत्थं भासई अरहा ’ के आधार पर अनक्षरी वाणी का प्रयोग किया है । यह केवल ध्वनि नहीं, दिव्य-ध्वनि है । अतः वह भगवान का प्रतिहार्य है । आगम की भाषा में अतिशय है । यह अतिशय नहीं, तो क्या है कि जो देशना आर्य,

अनार्य, द्विपद-मानव, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृपसर्पादि सभी को अपनी-अपनी हित, शिव, सुखरूप भाषा में परिणत हो जाती है । समवाय अंगसूत्र का मूल पाठ है — “ सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहय भासत्ताए परिणमइ ।” आप समझ सकते हैं, यह कितना विलक्षण चमत्कार है । यह कौन से देश की भाषा है जो सभी प्राणियों की सभी भाषाओं में परिणत हो जाए । तत् तत् सभी भाषाओं का रूप ले ले, और उन्हें अर्थ बोध करा दे । कहने को इसे अर्धमागधी भाषा कहा है, पर प्रश्न है, आदि तीर्थंकर कौशलदेशीय भगवान ऋषभदेव, सुदूर महाविदेहक्षेत्रस्थ विहरमाण सीमंधर जिन, और तो क्या, अनन्त अतीत और अनन्त भविष्यकाल के विभिन्न भाषा-भाषी देशों के तीर्थंकरों का मागधी या अर्धमागधी आदि क्षेत्रीय भाषाओं से क्या सम्बन्ध रह जाता है ? यह सब वर्णन सूचित करते हैं कि लोकातिशायी तीर्थंकरों का प्रवचन वस्तुतः लोकातिशायी ही है । लोक के किसी नियम, उपनियम या प्रतिनियम से उसे परिबद्ध नहीं किया जा सकता । इसी लिए आचार्य उन्हें अर्थ का प्रवक्ता कहते हैं, शब्द का नहीं ।

शास्त्र शब्द एवं भाषा रूप होते हैं । अतः उनकी भाषा किसी एक देशविशेष की ही भाषा होती है । और तीर्थंकर अखिल विश्वहितंकर होने के नाते किसी देशविशेष से प्रतिबद्ध होते नहीं हैं । इसीलिए तीर्थंकर किसी भाषा विशेष से प्रतिबद्ध होने वाले शास्त्र की रचना नहीं करते हैं । शास्त्र का निर्माण गणधर करते हैं, तथा उत्तरकालीन आचार्य करते हैं । जैसा कि भद्रबाहु स्वामी ने कहा है — “ सुत्तं गंधंति गणहरा निउणं ।” अतः किसी भी शास्त्र में तीर्थंकर देवों के अमुक अंश में कुछ भाव हो सकते हैं । शब्द नहीं । जो लोग वर्तमान शास्त्रों के लिए यह कहते हैं कि अक्षर-अक्षर भगवान का कहा हुआ है, उन्हें तटस्थ दृष्टि से विचार करके यथार्थ को गहराई से स्पर्श करना चाहिए । गणधर छद्मस्थ हैं, असर्वज्ञ हैं । अतः उन्होंने भगवान के भाव को कितना किस रूप में ग्रहण किया और कितना उसमें से अपने शब्दों में संकलित किया, यह सब प्रत्येक तत्त्वज्ञानसु साधक के लिए विचारणीय हो जाता है । सागर एक चुल्लू में न कभी समाया है, और न कभी समा सकेगा । प्रत्यक्षज्ञान और स्मृतिज्ञान में अन्तर है, आकाश और पाताल के अन्तर से भी महान, अतिमहान । गणधरों का ज्ञान, जो उन्हें तीर्थंकरों के उपदेश से प्राप्त होता है, मात्र स्मृतिज्ञान है । इसी लिए श्री सुधर्मा जैसे गणधर अपने प्रवचन के प्रारंभ में ही कहते हैं “ मैने सुना है आयुष्मन्! भगवान ने यह कहा है —“ सुयं मे आउसं, तेणं भगवया एवमक्खायं ।”

सम्बन्धित तो है यह सब चर्चा भी । फिर भी कुछ दूर चले गए हैं ।
आईए फिर प्रस्तुत पर, कुछ और चर्चा कर लें ।

तीर्थकरों की देशना अर्थ पर, अर्थात् भाव पर आधारित होती है, शब्द पर नहीं । परन्तु वह कैसे शब्दातीत होती है, इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता । तीर्थकरों की उस सर्वातिशायिनी उच्च भूमिका से हम अनन्त गुणहीन नीचे की भूमिका पर हैं । हमारी स्थिति ऐसी ही है, जैसे कोई बौना उछल-उछलकर चांद को छूने की हास्यास्पद चेष्टा करता हो । तीर्थकरों की अपनी इस रहस्यमयी गूढ़ स्थिति का पता बस उन्हें ही है । और किस के पास है इस अनन्त को नापने की प्रज्ञा का गज । 'खुदा की बातें खुदा ही जाने' जैसे भक्तिविनम्र शब्द ही हम लोगों का थोड़ा बहुत समाधान कर सकते हैं ।

फिर भी आप मुझ से इस रहस्य का कुछ अता-पता लगाना चाहें तो मैं इतना ही कुछ कह सकता हूँ, कि यह सब शास्त्रमोह के एकान्त आग्रह को छोड़ देने की एक सूचना है । भगवान के द्वारा उपदिष्ट सत्य का मर्म भाव में है, शब्दों में नहीं । भाषा और शब्दों की पवित्रता को लेकर द्वन्द्व युद्ध में उतरे लोगों को इस पर से समझ लेना है कि भाषा कोई भी हो, न वह पवित्र होती है और न अपवित्र । पवित्र होता है उसमें का जीवन को निष्कलुष एवं निर्मल बनाने वाला भाव । प्यास जल से बुझती है, सोने चांदी के जलपात्रों से नहीं । पात्र ओंठ तक आकर रह जाते हैं । शब्द भी कान तक टकराकर बाहर ही रह जाते हैं । अन्तर् चेतना में तो भाव ही उतरता है, शब्द नहीं ।

शास्त्र भी क्या है ? और क्या है उसका सामर्थ्य ? यदि शास्त्र में ही सचमुच सत्य को उद्घाटित करने की क्षमता होती, तो आज ये जितने भी मतमतान्तर हैं, पंथ और सम्प्रदाय हैं, सब शास्त्र के आधार पर ही तो खड़े हुए हैं । सबके सब एकमात्र अपने पास ही सत्य के होने का दावा करते हैं, दूसरों को एकान्त मिथ्या बताते हैं । और इसके लिए हर कोई शास्त्रों के प्रमाण लिए घूम रहा है । बड़ी विचित्र स्थिति है । वे ही एक शास्त्र हैं, उनमें से एक मूर्तिपूजा का विधान प्रमाणित करता है, तो दूसरा उसका निषेध । एक दयादान आदि का सार्वजनिक विधान घोषित करता है, तो दूसरा उसका विरोध । दो चार क्या, अनेक ऐसी आचार-विचार सम्बन्धी बातें हैं, जो शास्त्र के नाम पर एक दूसरे से टकराती हैं । अतः एक ही भगवान महावीर की परंपराओं में,

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आदि में शतशः प्रयत्न करने पर भी एकता स्थापित नहीं हो सकी है । और तो क्या पर्युषण जैसे पर्व का भी न कोई एक महीना सर्वमान्य हो पाया है और न कोई एक दिन । यह सब क्यों है ? यह है कि शास्त्र से प्राप्त होने वाला ज्ञान परोक्ष है, ऐन्द्रियक है । उसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध नहीं है, ताकि वह प्रत्यक्ष हो सके । बिना प्रत्यक्ष दर्शन के परोक्ष में तो मतभेद बने ही रहते हैं, फिर भले ही शास्त्र एक हो या अनेक हो । भगवान् महावीर ने इसीलिए परोक्षज्ञान की समाप्ति पर केवलज्ञान जैसे पूर्ण प्रत्यक्ष के होने की बात की है ।

मेरा अभिमत यह नहीं है कि शास्त्र व्यर्थ है । उसका कोई प्रयोजन नहीं है । प्रयोजन तो है । प्रयोजन से इन्कार नहीं है । अपेक्षा है, प्रयोजन की सीमा समझ लेने की । अंधे को हाथ का दण्ड (लाठी) भी मार्गदर्शन करता है । पर, यह भी स्पष्ट है कि वह आँख का स्थान नहीं ले सकता । आँख आँख है और दण्ड दण्ड है । तीन काल में भी दोनों एक नहीं हो सकते । अतः तीर्थंकर अर्थ के प्रवक्ता हैं, शास्त्र के नहीं । अर्थागम का नम्बर पहले है, सूत्रागम का बाद में । इसका भाव यह है कि अन्ततः अपने चिन्तन के प्रकाश में ही, जो बाहर के शब्दशास्त्र की अपेक्षा स्वसंवेदन होने से अमुक अंश या रूप में प्रत्यक्ष है, या प्रत्यक्ष के निकट है, सत्य की खोज करनी चाहिए । अन्ततोगत्वा इधर या उधर निर्णय लेने में अपना निज का अनुभव तथा चिन्तन ही काम आता है । यह बात अवश्य है कि चिन्तन के मूल में अनाग्रहवृत्ति होनी चाहिए । अपना पंथ या सम्प्रदाय, अपना गुरु या अपनी गुरुपरम्परा जैसा कोई एकान्त आग्रह पहले से ही यदि मनमस्तिष्क को घेरे हुए हैं, तो उससे साम्प्रदायिक सत्य की तो अमुक उपलब्धि हो सकती है, परन्तु शुद्ध सत्य की नहीं । शास्त्र की ही बात माननी है तो हर एक मत पंथ के पास अपने-अपने शास्त्र हैं, उन्हें छोड़कर आपके ही शास्त्रों को कोई क्यों माने ? आप तर्क से प्रमाणित सत्य की बात करेंगे, तो इसका स्पष्ट ही अर्थ है, आप शास्त्र को नहीं, चिन्तन को महत्त्व देते हैं । तर्क एवं युक्ति चिन्तन ही तो है । भगवान् महावीर ने इसीलिए शास्त्रों की साक्षी न देकर साधक के स्वतन्त्र चिन्तन को महत्ता दी थी । कहा था उस देवाधिदेव ने 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा ।' स्वयं अपने द्वारा सत्य की परख करो । अपने द्वारा, अर्थात् अपने चिन्तन के द्वारा ।

मन को यथा प्रसंग खाली करते रहिए

मन्दिरों एवं उपाश्रयों में आते समय 'निसीहि-निसीहि' कहना चाहिए, यह एक विधान है, जैन धर्म के आचार ग्रन्थों का । यह विधान मौखिक रूप में आज भी प्रायः किया जाता है, रुद्रिचुस्त धार्मिक सज्जनों द्वारा । परन्तु इस मौखिक उच्चारण का आन्तरिक क्या मर्म है, क्या हेतु है, इस सम्बन्ध में ठीक जानकारी प्रायः कम ही देखी जाती है । कहना है, बस, इसलिए कहा जाता है । पर, क्यों कहा जाता है, इसका कुछ अता-पता नहीं है । कल ही की बात है । एक दिगम्बर जैन श्रावक इस सम्बन्ध में जिज्ञासा कर रहे थे ।

देव मन्दिरों, उपाश्रयों एवं गुरुचरणों में उपस्थित होते समय 'निसीहि' कहने का भाव यह है कि मैं इधर उधर के बाह्य विकल्पों का, द्वन्द्वों का निषेध एवं निराकरण कर, उनसे मुक्त होकर यहाँ धर्माश्रय के लिए उपस्थित हुआ हूँ । कोई कूड़ाकचरा उसमें नहीं है । वह पूरी तरह खाली है, भगवान एवं गुरु की उपासना के लिए, उनके महनीय प्रकाश को ग्रहण करने के लिए ।

नए भव्य निर्माण के लिए पहले के असुन्दर एवं दूषित को साफ करना ही चाहिए । झूठे, गंदे पात्र में यों ही दूध डाल देना, क्या अर्थ रखता है । स्लेट पर पहले कुछ यों ही अंट-संट लिखा हुआ है । अब उस पर कुछ और अच्छा लिखना है, तो पहले लिखे को साफ नहीं करना चाहिए ? लिखे हुए पर ही लिख देना चाहिए ? यदि किसी तरह लिखने की झोंक में लिखे हुए पर लिख ही दिया, तो यह गड़बड़-गड़बड़मलेख क्या काम आएगा ? कैसे पढ़ा जाएगा ? यदि यहीं पढ़ा गया, तो वह लिखना व्यर्थ ही हुआ है न ? श्रम एव केवलम् ।

हाथ गंदे हैं । धूल कीचड़ में सने हैं या शौच क्रिया में लगे हुए रहे हैं । क्या उन्हीं हाथों से अपने पूज्य के चरण छू लें ? भोजन कर लें ? अथवा दूसरों को मिष्टान्न का प्रसाद वितरण कर दें ? गलत है यह सब ढंग । यह असभ्य

(१८५)

लोगों का काम है । कोई भी सभ्य ऐसी गंदी हरकत नहीं कर सकता । आवश्यक है, पहले गंदे हाथ धोए जाएँ, और फिर उनसे अपेक्षित पवित्र कर्म किए जाएँ ।

कर्म क्षेत्र में साधक जब संघर्षरत रहता है, तो उसका मन मस्तिष्क गंदा हो जाता है । काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की किसी-न-किसी गंदगी से दूषित हो जाता है, अभद्र एवं गलत संस्कारों का कूड़ाकचरा मन में भर जाता है । अतः स्पष्ट है कि उक्त गंदगी से भरे मन-मस्तिष्क में अपने आराध्य प्रभु की भक्ति कैसे शुद्ध हो सकती है । अंत-संत संस्कारों एवं विचारों की बेमेल भीड़ में, बेसुरे कोलाहल में शान्त चित्त कैसे प्रभुस्मरण हो सकता है । ऐसा स्मरण केवल साम्प्रदायिक नियमों के पालन की एक बेगार काटना तो हो सकता है, मन के कण-कण को आनन्द की अमृतधारा से आप्लावित करने वाला पुण्य स्मरण नहीं ।

आप विशेष निमन्त्रण पर किसी प्रेमी मित्र या सम्बन्धी के घर मेहमान बनकर जा रहे हैं, तो ध्यान में रखिये, अपने घर की सुख सुविधाओं के गुद-गुदे संकल्पों को घर पर ही छोड़कर जाइए । उन्हें अपने मित्र या सम्बन्धी के घर पर भूलकर भी न ले जाइए । हो सकता है, जैसे सुख साधन आपको अपने घर पर प्राप्त हैं, वैसे वहाँ न प्राप्त हों । और यदि आप अपने प्राप्त सुख साधनों के विकल्पों का भार उठाए हुए ही वहाँ पहुँचे हैं, तो आप को वहाँ मधुर मिलन का कुछ भी आनन्द न आएगा । आप अन्दर ही अन्दर कुड़बुड़ाएँगे, बड़बड़ाएँगे और अपने स्नेही मित्र को गालियों से अलंकृत करेंगे । इतना ही नहीं, लौटने पर उसे यत्र-तत्र बदनाम भी करेंगे । मधुरता के लिए गए हैं, और ले आए हैं कटुता । ले ही नहीं, कटुता दे भी आए हैं । दिमाग को खाली न करने का यह कितना भीषण दुष्परिणाम होता है, कुछ आता है, आपकी समझ में ?

और हाँ, मित्र के यहाँ से वापस लौटते हुए भी अपने दिमाग को खाली करके लौटिए । यदि उचित सम्मान सत्कार न हुआ हो, भूल से या अन्य किसी तरह कुछ अपमान हुआ हो, मनोज्ञकूल सुखसाधन उपलब्ध न हुए हों, तो कोई बात नहीं, ऐसा हो जाता है प्रायः । पर, आप इस गंदगी को अपने दिमाग में न भरकर रखिए । क्योंकि कभी न कभी और कहीं न कहीं वह मुँह से बाहर आ ही जाती है और चिरगत स्नेह के मधुर वातावरण को विषाक्त बना देती है । इस तरह एक बार के टूटे हुए मन जीवन भर तो क्या, अनागत पीढ़ियों तक नहीं मिल पाते हैं ।

इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि घर की अपेक्षा वहाँ सुख साधन अच्छे मिले हों, आसन-शयन, भोजन आदि बहुत ही रुचिकर प्राप्त हों, कल्पना से कहीं अधिक स्वागत सत्कार हुआ हों। इन सबके लिए सत्कार कर्ता के प्रति प्रेम एवं समादर का सद्भाव तो अपने मन में सुरक्षित रखिए, किन्तु प्राप्त सुख साधनों का मोह भूलकर भी अपने मन एवं मस्तिष्क पर मत जमने दीजिए। यदि आप उक्त मोह के विकल्पों से मन को बिना खाली किए घर लौटे हैं, तो बहुत बुरा होगा। आप को अपना घर अब अच्छा नहीं लगेगा। मां से झगड़ेंगे, बहन से झगड़ेंगे, कि तुम्हें कुछ नहीं आता बनाना। बिल्कुल बुद्ध हो तुम और पत्नी के पीछे तो भूत प्रेत की तरह लग जाओगे। कभी उसे गँवार, तो कभी फूहड़ बताओगे। उसके बनाए भोजन में हर दिन सौ-सौ गलतियाँ निकालोगे और इस तरह अपने घर के मधुर वातावरण को तलख बना डालोगे। यदि अपने घर की स्थिति अभावग्रस्त है, तो उन जैसे सुख साधन न जुटा पाने के कारण तुम स्वयं हीन भावना से ग्रस्त होकर एक प्रकार के विक्षिप्त मानसिक रोगी बन जाओगे।

एक लम्बी चर्चा मैंने उदाहरण के रूप में इसलिए की है कि स्वस्थ एवं सुखद मस्ती भरा जीवन जीने के लिए लोकजीवन में भी इधर उधर के मान-अपमान आदि के विकल्पों से मन को खाली करना कितना आवश्यक है। मन को न सत्कार से भरना अच्छा है, न तिरस्कार से। जीवन यात्रा में दोनों को विसर्जन करके ही इधर से उधर जाओ या उधर से इधर आओ। किसी भी कर्म क्षेत्र में प्रवेश करो, तो पहले चालू कर्म के विकल्प से मुक्त होकर प्रवेश करो। विगत भूत कर्म का भूत यदि पीछे लगा रहा तो प्राप्त कर्म का आनन्द तुम्हें नहीं मिल पाएगा। विभक्त मन से वह कर्म अच्छी तरह किया भी न जा सकेगा। जो व्यक्ति घर को दिमाग पर लादकर व्यवसाय केन्द्र पर ले जाएगा और व्यवसाय केन्द्र को घरपर, तो वह न घर का रहेगा, न व्यवसाय का। घोबी का कुत्ता न घर का न घाट का। जो दिमाग को विचारों का कूड़ा घर बनाये रखता है, वह वस्तुतः कूड़ा घर ही बन जाता है, और ऐसे कूड़ा घर से कर्म की निर्धारित फलनिष्पत्ति कभी भी यथोचित नहीं हो सकती। अस्तु, लोक जीवन में भी 'निसीहि' की उपासना अपेक्षित है। यद् विकल्पों के विसर्जन की सर्वोत्तम प्रक्रिया है।

जैन-साधना में प्रतिक्रमण का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक आध्यात्मिक साधना है। प्रातः काल से प्रारंभ

होने वाली जीवन-यात्रा में दिन भर में जो कुछ भी इधर उधर के दुर्विकल्प अन्तर्मन में संचित हो जाते हैं, सायंकालीन प्रतिक्रमण में आत्मलोचन के द्वारा उन्हें साफ कर दिया जाता है और रात्रि के दुर्विकल्पों को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में । यह सुबह शाम 'अकरणज्जं' का 'मिच्छामि दुक्कडं' मन को खाली करता है, उसे हलका और शुद्ध बनाता है । पाप कर्मों की बार-बार स्मृति ग्लानि को जन्म देती है और ग्लानि जन्म देती है हीन-भावना को । और हीन-भावना मानव जीवन का सबसे भयंकर अभिशाप है, जो उसे सब तरह से बर्बाद कर देता है । प्रतिक्रमण साधक को इस तरह व्यर्थ ही बर्बाद होने से बचाता है । उसमें पवित्रता की भावना जगाता है, और नए उत्साह की तरंग के साथ भविष्य में सजगतापूर्वक सत्कर्म करने की प्रेरणा देता है । अशुभ का विसर्जन होना ही चाहिए । इतना ही नहीं, अशुभ की स्मृति का भी विसर्जन होना आवश्यक है । कृत अशुभ की बार-बार स्मृति भी चेतना को धूमिल बना देती है । जिस हाथ से मल धोया है, उसे धो दिया और वह साफ हो गया । बस, शुद्धि का कार्य पूरा हो गया । धोने के बाद भी यदि हाथ में लगे मल को याद करता रहेगा, तो बस, विनष्ट हो जाएगा मानव । तन का स्नान मल, और मल की स्मृति दोनों को ही साफ करने के लिए है । इसी प्रकार प्रतिक्रमण हो या इसी से सम्बन्धित अन्य कोई धार्मिक साधना हो, वह भी मानव मन को पाप और पाप की स्मृति दोनों से मुक्त करती है । भविष्य में कोई पाप कर्म न होने पाए, यह सजगता एक अलग बात है, और हर दिन अतीत के कृत पापों का रोना, रोते रहना, अलग बात है । प्रतिक्रमण, जप, प्रभुस्मरण आदि करके भी यदि किसी को यह विश्वास है कि मैं शुद्ध नहीं हुआ हूँ, वही पुराना पापी का पापी, और मलिन का मलिन हूँ, तो इसका अर्थ है कि उसे धर्म साधना की पवित्र शक्ति में विश्वास नहीं है । गंगा में डुबकी लगाकर भी यदि गंदगी का रोना है, तो उस पागल की कोई चिकित्सा नहीं है ।

योग की एक प्रक्रिया है, विरेचन की । प्राणायाम में अन्दर की अशुद्ध वायु को विरेचन के द्वारा बाहर में विसर्जित किया जाता है । विरेचन का अर्थ है, खाली करना । यह एक श्वास का व्यायाम है, किन्तु योग इतना ही नहीं है, जीवन में से अशुभ संकल्पों, विचारों एवं विकारों का भी विरेचन होना चाहिए । यही वास्तविक अध्यात्म-योग है । शुभ का पूरक और अशुभ का विरेचन ही जीवन में समरसता ला सकता है । शुभ का पूरक होने के साथ एक सावधानी और अपेक्षित है । वह यह कि कहीं शुभ के साथ शुभ का अहंभाव भी मन में न

प्रवेश कर जाए । यदि कभी भूल से अहं प्रवेश कर जाए तो तत्काल उसका विरेचन कर मन को खाली करो । यह शुभ की सुगन्ध के साथ अशुभ की दुर्गन्ध बड़ी ही भयंकर है । यह शुभ को चौपट कर देती है । इस स्थिति में, शुभ की सुगन्ध-सुगन्ध न रहकर दुर्गन्ध ही हो जाती है । शुभ का आनन्द तो अमृतरस है । अतः उसे तो मन में बनाए रखो, और अहं को बाहर निकाल फेंको । वैसा भी अशुभ हो, उससे मन-मस्तिष्क को खाली करते रहना ही श्रेयस्कर है ।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, चिन्तन है, मेरी समझ है, 'निसीहि' का यह सैद्धान्तिक मर्म है । अतः साधक को 'निसीहि' केवल बोलना ही नहीं है, उसके फलित रहस्य को समझना भी है । शब्द से आगे का सत्य शब्द का भाव है । उस भाव की अनुभूति ही साधना का अमृत तत्त्व है ।

मई १९७८

अनाकुलता का मूल मंत्र नियतिवाद

साप्ताहिक हिन्दुस्तान (३० अप्रैल ७७) में दिलचस्प, साथ ही मार्मिक एक लेख है, "गोली-गोली पर लिखा है खाने वाले का नाम ।"

विगत में पाकिस्तान के साथ हुए भारत के युद्ध प्रसंगों का रोमांचक वर्णन है । एक इन्फेन्ट्री यूनिट आक्रमण के लिए तैयार हो रही थी । उसमें १६ साल का एक युवक था, जो बहुत डर रहा था । उसने अपने अफसर से बहुत अनुनय-विनय के साथ हाथ जोड़कर कहा — " सर, मैं अपने माँ-बाप का अकेला लड़का हूँ । आप मुझे यहीं छोड़ दें । "

पर, ऐसा कैसे हो सकता ? क्योंकि इसका असर दूसरों पर अच्छा नहीं पड़ता । अफसर ने जवान को खूब हिम्मत बँधाई । परन्तु वह युवक तैयार नहीं था । रोने लगा । अफसर को दया आ गई, पर फिर भी उसने कहा, " चलो, जहाँ तक चल सको । जब सामने हाथों-हाथ लड़ाई का मौका आएगा, तब तुम कहीं छुप कर बैठ जाना । "

अपनी-अपनी बन्दूक लेकर रात के अंधेरे में सभी सैनिक आगे बढ़े । शत्रु की एक चौकी को हस्तगत करने के लिए लड़ाई हो रही थी । आधे घंटे तक वह युवक साथ था । बाद में एक झाड़ी की ओट में बैठ गया । बाकी सैनिक जूझते रहे । अफसर बहुत सोच-समझकर आगे बढ़ रहा था । गोलियाँ परस्पर चलती रहीं । दुश्मन के पास गोला बारूद कम था । अतः वह चौकी छोड़कर पीछे हट गया । अपनी तरफ का अभी तक कोई भी सैनिक मारा नहीं गया था । ज्यों ही चौकी पर अधिकार हुआ, फौरन लाल रोशनी का 'क्लीयर' दिया गया, जिससे आस-पास के भारतीय सैनिक टुकड़ियों को मालूम हो जाए कि चौकी पर अपना अधिकार हो गया है ।

(१९०)

अफसर ने जीत की खुशी मनाने के लिए सारे जवानों को इकठ्ठा किया, तो उसे याद आया, कि एक जवान उधर बैठा था । उसे लाने के लिए दूसरा जवान भेजा गया । करीब दस मिनट बाद अफसर को मालूम हुआ, कि जवान के प्राण पखेरू उड़ चुके हैं । उसके माथे पर, बीचों-बीच विना उसको लक्ष्य किए, रात के अंधेरे में यों ही बरसती गोलियों में से सिर्फ एक गोली लगी थी ।

यह एक उदाहरण है । ऐसे अनेक मार्मिक उदाहरण हैं, जिन पर से लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है, कि हर गोली पर खाने वाले का, उस गोली से मरने वाले का नाम लिखा है । यह नहीं, कि एक को मारने वाली गोली किसी दूसरे को मार दे ? यह भी नहीं, कि अमुक समय पर लगने वाली गोली चूक जाए, और किसी दूसरे समय पर लगे । यह भी नहीं, कि बचने का प्रयत्न करने पर गोली से कोई बच ही जाए ।

भारतीय-दर्शन में इसे नियति कहते हैं । जो भी हुआ है, वह पहले से नियत था । जो हो रहा है, वह भी नियत है, और जो होने वाला है, वह भी नियत है, अनन्त अतीत काल से नियत है । हर जड़चेतन द्रव्य अनन्त भूत, अनन्त भविष्य और अनन्त वर्तमान पर्यायों से युक्त है । भयंकर युद्ध में, मृत्यु के क्रीडांगण में भी जो मरने वाला है वही मरता है, जो बचने वाला है वही बचता है । कुछ भी उलट-फेर नहीं होता । यह नहीं, कि बचने वाला मर जाए, और मरने वाला बच जाए । जिसको जब, जिससे, जो भी प्राप्त होना है, उसको तब उससे, वह प्राप्त होना ही है । इसी को लोक भाषा में कहा जाता है—‘दाने-दाने पर लिखा है, खाने वाले का नाम ।’

विश्व में अकस्मात् जैसा, अचानक जैसा कुछ है नहीं । द्रव्य चाहे जड़ हो चाहे चेतन, जिसकी जो भी पर्याय, परिणति, गति, स्थिति, परिवर्तना जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस स्थिति में, जिस निमित्त और साधन से होनी है, वही होकर रहती है । शरीर जिस समय में, जिस क्षेत्र विशेष में और जिस निमित्त से छूटना है, वह छूटता है । न कुछ आगा-पीछा हो जाता है, न उल्टा-सीधा होता है । कोई किसी तरह की अव्यवस्था नहीं । एक-एक कदम व्यवस्थित है, नियत है अन्यथा वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा । सर्वज्ञ को भविष्य के लिए होने जैसा कुछ दिखाई दे, और हो जाए उसके विपरीत कुछ और ही, तो फिर वह सर्वज्ञ का सत्य ज्ञान कैसा ? यह तो हमारे छद्मस्थों जैसा ही हुआ,

कि कल्पित या संकल्पित, या अनुमानित किया कुछ और हो गया कुछ और ही । देखा घोड़ा, हो गया गधा, और देखा गधा, हो गया घोड़ा । यह गड़बड़ ज्ञाना सर्वज्ञ के केवल ज्ञान में कैसे हो सकता है ।

वर्तमान में हमारी दृष्टि में अनुपस्थित सर्वज्ञ की बात छोड़ भी दी जाएं, तब भी योग और ज्योतिष आदि के वे अकाट्य प्रमाण हैं, कि जो ध्याता की अनुभूति में प्रतिबिम्बित हुआ, आगे चलकर समय पर वही घटित हुआ । नाम, स्थान, काल, घटना क्रम आदि में कुछ भी तो परिवर्तन न हुआ । जो हुआ, पहले से वज्ररेखांकित ही हुआ । इन विद्याओं में जब कभी जो भूलें होती हैं, वह जांचने-परखने की भूल का परिणाम है । शास्त्र-विद्या की भूल नहीं, व्यक्ति के अपने चिन्तन की भूल है । यह व्यक्ति का बुद्धि-प्रमाद है, शास्त्र-प्रमाद नहीं ।

और तो और ! स्वप्न में भी भविष्य का पूर्वाभास हो जाता है । श्री कीर्तिस्वरूप रावत ने अपने स्वप्न-चर्चा के एक लेख (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ८ मई १९७७) में स्वप्न की अनेक सत्य घटनाओं का वर्णन किया है । एक बहुत ही दिलचस्प घटना है ।

एक महिला अपने पति के साथ छुट्टियों में कहीं सैर करने गई हुई थी । उसने स्वप्न देखा, कि उसकी लड़की का छोटा पुत्र तेज बुखार में है । और जब वह उसे गोद में लेकर झुलाने लगी, तो इतने में ही कमरे के दरवाजे पर उसे अपना लड़का दिखाई दिया । वह अपने एक हाथ को सिर पर रखे चौखट का सहारा लेकर खड़ा हुआ था । उससे पूछा गया कि क्या बात है, तो उसने बतलाया कि वह टेलीफोन के खंभे से गिर पड़ा था । उसकी आंख के ऊपर चोट आई थी और बहुत तेज खून बह रहा था ।

स्वप्न इतना प्रभावोत्पादक था, कि महिला तुरन्त अपने पति के साथ घर लौट आई । कमाल था, कि समग्र घटना उसी क्रम से और उसी रूप में घटित हुई, जिस क्रम से और जिस रूप में वह स्वप्न में प्रतिभासित हुई थी । महिला का लड़का फोन कम्पनी में लाईन मैन था और एक टेलीफोन के खंभे पर से काम करता हुआ गिर पड़ा था ।

प्रश्न बहुत गंभीर है । अभी तक घटना घटित न हुई है, तो पहले से ही

(१९२)

वह स्वप्न में किस आधार पर दृष्ट हो गई ? यहाँ कारण और कार्य का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । घटना के होने का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो वह समय से पूर्व दिखाई कैसे देती है ? इस प्रकार के परोक्ष-दर्शन का पूर्वाभास होता है ? स्वप्न काल तक, घर पहुँचने तक लड़का फोन के खंभे पर चढ़ा ही नहीं है, तो यह सब घर से इतनी दूर दीख कैसे गया ?

संभव है, अभी तक विज्ञान के पास इसका स्पष्ट समाधान न हो। किन्तु जैन-दर्शन में हर द्रव्य को, हर व्यक्ति को अनन्तानन्त गुण-पर्यायों का अखण्ड पुंज माना गया है । द्रव्य में पर्यायों का एक अनन्त स्तर है, स्तर पर स्तर या स्तर में स्तर । सब पर्याय क्रमबद्ध हैं । वे एक के बाद एक क्रम से उद्भूत होती रहती हैं । पात्र पहले से पर्दे के पीछे तैयार खड़े हैं । अपनी-अपनी बारी में क्रमशः रंगमंच पर अवतरित होते रहते हैं, अपना पार्ट अदा करने के लिए । और कार्य होने के बाद फिर पर्दे के पीछे गुप्त होते रहते हैं । दर्शन की भाषा में यह शक्ति से व्यक्ति का, तिरोभाव से आविर्भाव का एक अभेद्य क्रम है। मानना होगा, भविष्य एक पूर्णरूप से पूर्व निर्धारित, स्थिर एवं निश्चित स्थिति है। और इसका आधार नियति है, पर्यायों की क्रमबद्धता है । हम व्यवहार से काल को भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में विभक्त करते हैं । अन्यथा वह एक वर्तमान है । जो भी होने वाला है, वह पहले से ही अस्तित्व में है । श्री रावत ने इसके लिए कहा है — “ सारी घटनाएँ एक लिपटी हुई फिल्म की तरह हैं । फिल्म जब चल रही होती है, तब जो हिस्सा चल चुका होता है वह भूत, जो सामने होता है वह वर्तमान और जो चलना बाकी है लेकिन है, वह पूर्व निश्चित ही भविष्य । आप रेल से यात्रा कर रहे हैं । जो दृश्य निकल चुका है उसे आप याद कर सकते हैं, भूत काल की तरह, जो देख रहे हैं वह वर्तमान है, और जो आगे आने वाला है, पर है पहले से विद्यमान, वह भविष्य है । ” श्री रावत का यह कथन जैन-दर्शन से मेल खाता है । जैन-दर्शन प्रत्येक द्रव्य को अपने में सर्वतंत्र स्वतन्त्र मानकर चला है । उसके चिन्तन में हर द्रव्य अपने हर क्षण पूर्ण एक अखण्ड इकाई है । द्रव्य में जो कुछ भी होता है, अन्दर में अपने में से होता है । बाहर के किसी अन्य द्रव्य के द्वारा उस में गुणाधान नहीं होता है । ‘स्व’ का कर्ता ‘स्व’ है, ‘पर’ का कर्ता वह ‘पर’ है । परस्पर एक-दूसरे का कोई कर्ता नहीं है । और यह कर्तृत्व पहले से, अनन्त-अनादि काल पहले से निश्चित है ।

नियतिवाद मानव मन को निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाता है । सुख हो या

दुःख हो, यश हो या अपयश हो, जीवन हो या मरण हो, अच्छा हो या बुरा हो, साधक के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । अच्छे के राग की और बुरे के द्वेष की आकुलता साधक को तंग नहीं करती । जो कुछ भी जीवन में घटित होता है, वह उसे अपना ही, सदा काल का अपना ही मान कर चलता है । वह अन्य किसी व्यक्ति पर या निमित्त पर बुरा होने का दोषारोपण नहीं करता । और न अपने द्वारा किसी का कुछ अच्छा किये जाने पर अपने प्रति श्रेष्ठता के अहं का राग ही करता है । वह सर्वत्र सम रहता है, अनाकुल और अनुद्वेलित ! अशुभ्य और अस्तब्ध ! यही वेदान्त की ब्राह्मी स्थिति है । यही जैन-दर्शन की वीतराग स्थिति है । यही बौद्ध-दर्शन की विपश्यना स्थिति है । द्रष्टा होना है, कर्ता नहीं । देखते जाओ, देखते जाओ ! जो हो रहा है, बस, उसे देखते जाओ । यदि कोई समयानुरूप अच्छे और बुरे का प्रतिकार और स्वीकार भी करना हो, इसके लिए कुछ करने जैसा भी हो तो कर सकते हो । किन्तु इसे भी तटस्थ द्रष्टा के रूप में देखते ही रहो, मजा लेते रहो, कि यह क्या हो रहा है । कर्म के साथ कर्तृत्व के अहं से लिप्त न बनो । प्राप्त कर्म के गहरे जल में रहकर भी कमल के समान निर्लिप्त रहो । यह मानसिक तनाव से मुक्त रहने की दार्शनिक प्रक्रिया है ।

कुछ लोग कहते हैं—इस तरह के सिद्धान्त से तो मनुष्य के कर्म करने की स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाती है । मैं कहता हूँ, इस सिद्धान्त से स्वतन्त्रता मिलती है । यदि कोई बाहर का ईश्वर या अन्य कोई कर्ता माना जाता, तब तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता । यहाँ तो दूसरे के कर्तृत्व से इन्कार है । स्वयं, स्वयं का कर्ता है इससे बढ़ कर और कौन-सी स्वतन्त्रता होगी । आप दूसरों के लिए भी कुछ अच्छा कर सकते हैं । पर, शर्त है—अपने को एक निमित्त मानकर चलिए । कर्ता वह स्वयं है, और निमित्त आप हैं । बस, और कुछ नहीं हैं । तेरे मेरे का झगड़ा खत्म ! न साधक ! तुझ पर अच्छा करने की श्रेष्ठता के अहं का तनाव । और न सामने वाले पर तेरी श्रेष्ठता के अहं का दबाव ! एक तनाव से मुक्त ! दूसरा दबाव से मुक्त !

नियतिवाद के प्रति लोगों का एक तर्क है, कि जब सब कुछ होने जैसा होना ही है, तब हम क्यों सत्कर्म करें ? क्यों स्वाध्याय, ध्यान, जप, तप, दया, दान आदि करने की झंझट में पड़ें । जो होना है, अपने आप समय पर हो जाएगा ।

मैं कहता हूँ, बिल्कुल ठीक है । कुछ मत करो । कौन कहता है, तुम्हें करने के लिए । जब नियति होगी, अपने आप हो जाएगी । और यदि वह तुम से होनी होगी, तो तुम्हीं से होगी । लाख इन्कार करो, नहीं करना है नहीं करना है, फिर भी वह तुम्हीं से होगा । तुम्हें ही करना होगा । व्यर्थ ही करने और न करने के विकल्पों में क्यों उलझ रहे हो ? धारा जिस गति से बह रही है, बहने दो । न उसे जोर देकर बहावो, न रोको ।

भारत के एक महान तत्त्वदर्शी ऋषि ने कहा था प्रस्तुत सन्दर्भ में, कि सुख हो अथवा दुःख हो, प्रिय हो अथवा अप्रिय हो, जो प्राप्त होता जाए, उसे स्वीकारते जाओ । किन्तु सावधान रहिए, हृदय को पराजित न होने देना । न मन को उछलने देना और न गिरने देना ।

“सुखं वा यदि वा दुःखं,
प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत
हृदयेनाऽ पराजितः ॥”

जून १९७८

एक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

समयोचित परिवर्तन : एक जीवन्त प्रक्रिया

शासनतंत्र चाहे धार्मिक हो, चाहे सामाजिक या राष्ट्रीय, शासक को उचित समय पर उचित निर्णय लेना आवश्यक होता है। यह निर्णायक शक्ति जिस शासक में जितनी ही अधिक अच्छी होती है, वह उतना ही अच्छा और सफल शासक होता है। उसके निर्णय के परिणाम दूर-दूर तक के देश-काल पर अपना प्रभाव डालते हैं और अपनी अनुगत प्रजा का हित-साधन करते हैं।

कर्मभूमि-युग

जैन पौराणिक गाथाओं के अनुसार मानवजाति का वह भी एक युग था, जब वह आदिम या वनवासी सभ्यता में अर्धमानव या अर्धपशु का-सा जीवनयापन कर रही थी। कन्द, मूल, फल ही उसका भोजन था। नाना प्रकार के वृक्ष ही उसके एकमात्र जीवन-यात्रा के आधार थे। समय आगे बढ़ा। इधर जन-संख्या बढ़ी और उधर वृक्ष कम हुए। भयंकर दुष्काल। भूख का हाहाकार। परस्पर लड़ाई-झगड़ा। मानवजाति सर्वनाश के कगार पर। कुलकर या कुलक नेता कुछ निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि क्या करें और क्या न करें। बेचारे दिड़मूढ थे। युवक ऋषभकुमार, जो जैन-परंपरा के आदि तीर्थंकर माने जाते हैं, आगे आए। उन्होंने भोगभूमि की समाप्ति की और कर्मभूमि-युग के प्रारंभ की घोषणा की। एक एक व्यक्ति के रूप में बिखरे मनुष्यों को

परस्पर दायित्व वाले सामाजिक संगठन का रूप दिया । 'श्रम करो और श्री पाओ' का सन्देश दिया । कृषि का आदर्श उपस्थित करने वाला, कंद, मूल फलादि से अन्न पर लाने वाला यह आदि युगपुरुष था, महामानव था । यदि ऋषभदेव समय पर उचित निर्णय न लेते तो मानवजाति का धरती पर कोई अस्तित्व न रहता । एक-दूसरे को खाकर मानवजाति दानव बनती और अन्ततः धरती पर से अपना अस्तित्व समाप्त कर देती ।

असि का निर्माण आत्म-रक्षणार्थ

श्री ऋषभदेव ने असि अर्थात् तलवार का निर्माण किया । हिंस्र पशुओं एवं दुष्ट दानवरूप मनुष्यों से अपनी और समाज की रक्षा के लिए वह आविष्कार आवश्यक था । यह ठीक है कि आगे चलकर विनाश के रूप में इसका भयंकर दुरुपयोग भी हुआ, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए नरसंहार हुआ, रक्षा के स्थान पर ध्वंसात्मक नग्न आक्रमण का रूप लेकर इसने अपना मूल आदर्श ही नष्ट कर दिया । कुछ भी हुआ हो, परन्तु समय पर उसकी एक उपयोगिता थी समाज के लिए, इससे इनकार नहीं किया जा सकता । यदि असि से भविष्य में होने वाले अनर्थों के विकल्पों में ही ऋषभ उलझे रहते, तो आज मानव जाति का क्या भविष्य होता ? गुण और दोष बगलगीर युगल बन्धु हैं । समय पर अपना अपना स्थान लेते रहते हैं । 'दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन्, न निर्दोषं न निर्गुणम्।' प्रश्न वर्तमान का है । कुछ दूर तक के भविष्य का है । यदि अमुक समय या अमुक भविष्य तक किसी निर्णय की या बात की अर्थवत्ता है, तो उसका उपयोग करना चाहिए । सुदूर भविष्य के विकल्पों में नहीं उलझना चाहिए । अब की बात अब देखो । तब की बात तब देखेंगे, आने वाली तत्कालीन पीढ़ी के लोग । जूँ पड़ जाने के भय से वस्त्र न पहनकर नंगे फिरना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? जूँ न पड़ने पाएँ, इसके लिए वस्त्र प्रक्षालनपर ध्यान रखों। भोजन करेंगे तो शौच करना पड़ेगा, यह तर्क कितना मूर्खतापूर्ण है ? हालत हो तो मल की शुद्धि कर लेना भाई। अरे, तब के मल की चिन्ता में आज तो भूखे न मरो । ऋषभदेव ने वर्तमान आत्मरक्षा के प्रश्न का हल असि में सोचा, और उस करुणामूर्ति ने सर्वप्रथम मानव के हाथों में आत्मरक्षा एवं समाजरक्षा के लिए यह असि थमा दी।

जनहिताय मसि-कृषि

यही बात लेखन के सम्बन्ध में थी । लेखन का भी दुरुपयोग हुआ भविष्य में । झूठे दस्तावेज लिखे गए । मिथ्या शास्त्र लिपिबद्ध हुए । हिंसा, विग्रह, वासनावर्द्धक ग्रन्थ रचे गए । यह सब हुआ । साथ ही अच्छा भी तो हुआ । लेखन बहुत बढ़ी अपेक्षा थी मानव की । श्री ऋषभदेव ने उसकी तत्काल पूर्ति की । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके 'पयाहियाएँ उवदिसई' सूक्त के अनुसार प्रजा का हित संपादन किया । असि और कृषि आदि में हिंसा होते हुए भी मानव प्रजा का हित भी है उसमें । जहाँ हित है, हितबुद्धि है, वहाँ पाप नहीं, पुण्य है। अतः ऋषभदेव ने राज्यशासन, वाणिज्य, लुहार, कुम्हार आदि के शिल्प-कर्म तथा युद्ध कला आदि के प्रशिक्षण द्वारा पुण्यकर्म ही किया, पाप-कर्म नहीं । उनके ये तत्कालीन निर्णय विश्व-जनहित में थे, जो आज भी अमुक सीमा-रेखाओं तक हैं।

धर्म-शासन में क्रांति

भगवान ऋषभदेव ने धार्मिक शासनतंत्र के नियम भी निर्धारित किए थे । अचेल-नग्नता आदि के रूप में वे कठोर थे । उनसे दूसरे नंबर पर आने वाले श्री अजित तीर्थंकर ने सचेल-सवस्त्र आदि का कोमल एवं व्यावहारिक विधान कर अपने युग में कठोर नियमों को अपदस्थ कर दिया । थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ यह परिवर्तित रूप तेईसवें भगवान पार्श्वनाथ तक चलता रहा । प्रश्न है, अजित ने कठोर व्रतों को कोमल क्यों बनाया ? एक समय की कठोर व्यवस्थाएँ भविष्य में अव्यवहार्य होकर दंभ का रूप ले लेती हैं । लोकलाज के कारण बाहर का खोल बना रहता है, किन्तु अन्दर में बिलकुल खोखला हो जाता है। यह ढोंग पाखण्ड बनता है, और पाखण्ड धर्म एवं समाज की पवित्रता एवं प्रामाणिकता को ले डूबता है । आवश्यक हो जाता है, धर्म एवं समाज के शासकों को कि वे कसे बन्धनों को कुछ ढीला करें । यही अर्थ है, अजितनाथजी द्वारा कठोर परंपरा को कोमल बनाने का । समय के अनुरूप उनका यह उचित निर्णय था । यदि वे इस सोच-विचार में डूबे रहते कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का विधान कैसे बदला जाए । समाज में इसकी विपरीत प्रतिक्रिया होगी, यह तो भविष्य में शिथिलाचार का रूप ले सकता है, तो धर्म-संघ का क्या हाल हुआ होता ? जो आवश्यक है, उसको चालू करने का तत्काल निर्णय लो । क्या और क्यों के फेर में, यश और अपयश की उलझन में पड़े कि गए । अवसर निकल जाता है, पछतावा शेष रह जाता है ।

(१९८)

महावीर के निर्णय युगानुकूल

भगवान महावीर का युग आता है । कोमल नियम शिथिलाचार या भ्रष्टाचार का रूप लेते हैं । भगवान महावीर फिर अपरिग्रह के चरम आदर्श अचेल-नग्नता-आदि के कठोर पथ पर चल पड़ते हैं । यह परिवर्तन आवश्यक था, उन्होंने बिना किसी उलझन के किया । इस परिवर्तन में पूर्ववर्ती मध्य के तीर्थंकरों की अवज्ञा नहीं है । पार्श्वनाथ या उनसे पहले के धर्म-तीर्थंकरों का अपमान नहीं । अपने समय में उनके निर्णय सही थे और अपने युग में प्रभु महावीर के । दोनों में विरोध कहाँ है यदि सामयिक उपयोगिता को लक्ष्य में रखा जाए ।

गौतम द्वारा समन्वय

और, महावीर का ही यह निर्णय उन्हीं के ज्येष्ठ शिष्य प्रथम गणधर गौतम ने बदल डाला । श्रावस्ती में श्रमण केशीकुमार के पार्श्वसंघ और अन्य सम्प्रदायों के परिव्राजक एवं गृहस्थों के समक्ष उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि यह नग्नता आदि सब क्रियाकाण्ड युग-धर्म पर आधारित है । यह साधना का मूल अंग नहीं है । उत्तराध्ययनसूत्र में आज भी 'लोके लिंगपाओयणे' के रूप में उनका मुक्त स्वर मुखरित है । वे देश कालानुसार प्रज्ञा के आधार पर निर्णय लेने की सिफारिश करते हैं । आगे चलकर अनेक जगह वे स्वयं वस्त्रधारी स्थावरकल्पी मुनि के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं । उपासकदशांग और विपाकसूत्र आदि मेरी उक्त स्थापना के साक्षी हैं । गौतम का यह समय पर लिया गया निर्णय ही पार्श्वसंघ और महावीरसंघ को, कुछ समय के लिए, एक धारा का रूप दे सका ।

यह परिवर्तन का चक्र आगे भी उत्तरोत्तर चलता रहा । अधिक तो नहीं कुछ उदाहरण उपस्थित किए देता हूँ ।

देवर्द्धिगणी का साहस

निशीथसूत्र के अनुसार भिक्षु के लिए लिखना वर्जित है । लगभग एक हजार वर्ष तक इसीलिए आगम लिखे नहीं गए । किन्तु देवर्द्धिगणी ने आगमों

की रक्षा के हेतु, उन्हें लिपिबद्ध करने के लिए हाथ में कलम पकड़ी। जैन इतिहास के अनुसार कलम पकड़ने वाले ये पहले आचार्य हैं। अवश्य ही विरोध हुआ होगा उनका। आलोचना के कण्टक पथ से उन्हें गुजरना पड़ा होगा। हर नयी बात का विरोध करना प्रायः सर्वसाधारण जनता का स्वभाव ही है। परन्तु जनता को नेतृत्व देने वाले दिशानिर्देशक कब रुककर खड़े रह गए हैं, या चुप बैठ गए हैं? वे तो निर्द्वन्द्व भाव से गन्तव्य की ओर चलते ही रहते हैं। यदि देवर्द्धिगणी यह साहसपूर्ण निर्णय न करते तो प्रभु महावीर की वाणी का, आगम-सिद्धान्त का, संभव है एक अक्षर भी हमारे पास न होता। जैसे उनके पूर्व विशाल जैन वाङ्मय नष्ट हो गया, इतस्ततः भ्रष्ट हो गया, उसी तरह आज यह जो कुछ अवशेष प्राप्त है, वह भी नष्ट हो गया होता।

समय पीछे नहीं लौटता

पात्र के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। जैसा कि बृहत्कल्प आदि भाष्यग्रन्थों में लिखा है, आचार्य आर्यरक्षित से पूर्व भिक्षुओं के लिए एक ही पात्र विहित था। आर्यरक्षित ने बदलते देशकालानुसार दूसरे पात्र का भी विधान कर दिया। एक युग था, जब भिक्षु केवल पाणिपात्र था। दूसरा युग आया, जब एक पात्र रखा गया। विरोध इसका भी कम नहीं हुआ होगा। परन्तु आर्यरक्षित जैसे आचार्य समय की माँग को पहचानते हैं और तदनुसार परिवर्तन का निर्णय लेते हैं। और भी अनेक परिवर्तनों की गाथाएँ आगम तथा आगमोत्तर साहित्य में परिलक्षित होती हैं। दिन रात के चौबीस घंटों में एक बार आहार और वह भी दिन के तीसरे प्रहर में एवं रात्रि में तीसरे प्रहर में एक प्रहर की निद्रा आदि-आदि। यह सब कुछ शिथिलाचार नहीं है, समय की अपेक्षा है। एक समय लेखन ही वर्जित था। अब तो बड़े-बड़े धुरंधर उग्राचारी धर्माचार्यों के ग्रन्थों की हजारों प्रतियाँ घड़ाघड़ छपती हैं, जहाँ बहुत-से व्रत-नियमों का सहज ही पारणा हो जाता है। निशीथसूत्र में गृहस्थ से पढ़ने का स्पष्ट निषेध है; किन्तु अब तक काफी समय से वेतनभोगी पंडितों से पढ़ा भी जाता है, ग्रन्थ-लेखन का कार्य भी कराया जाता है। यह सब जरा तटस्थ दृष्टि से स्वयं गुरु और गुरुओं के चपरकनाती चमचे देखने का कष्ट तो करें। समय की गति को पीछे ढकेलना सहज नहीं है। वह आगे बढ़ता है, पीछे नहीं लौटता। धन्य हैं वे, जो इस गति के अनुरूप समय पर निर्णय कर लेते हैं, संघ एवं समाज को बिखरने से बचा लेते हैं।

(२००)

परिवर्तन : समाज की अपेक्षा

एक समय अपेक्षा हुई तो आचार्यों को गृहस्थों के लिए मूर्तिपूजा का निर्णय लेना पड़ा । और अनावश्यक आडंबर बढ़ा तो एक दिन उसका विरोध भी करना पड़ा । एक दिन अहिंसा के आधार पर बकरोँ और पक्षियों के संरक्षण की परंपरा चली और बकराशाला और पिंजरापोल आदि की स्थापनाएँ हुई । जब इसने, बढ़ते-बढ़ते विकट रूप लिया, यहाँ तक कि चींटी-मकोड़े-कीड़े-लट-धुन-खटमल-मक्खी-मच्छर आदि के सामूहिक रक्षा-आयोजनों में ही समाज की समग्र धनजन-शक्ति केन्द्रित हो गई, अन्य जीवनस्पर्शी उदात्त आदर्श विवेक की आँखों से ओझल हो गए, तो समय पर इसका विरोध भी हुआ । भले ही यह विरोध किसी भी रूप में किसी के भी द्वारा हुआ हो । आगे चलकर यह विरोध भी बढ़ते-बढ़ते जब आवश्यक सामाजिक सेवाओं के विरोध तक पहुँच गया, तो आज उसी समाज में वह विरोध शिथिल पड़ा और सामाजिक सेवाओं का पथ पुनः प्रशस्त हो चला । समय और समय पर लिए जाने वाले निर्णयों का ही यह सब प्रश्न है, और कुछ नहीं । एक समय का अच्छा माना जाने वाला निर्णय परिवर्तित समय में पुनः परिष्कृत या परिवर्तित होने की अपेक्षा रखने लगता है । यह तो हुआ जैन-परंपरा का रेखाचित्र ।

वैदिक परम्परा में परिवर्तनों का दौर

वैदिक या वैष्णव परम्परा के महापुरुष एवं आचार्य भी परिवर्तन के दौर में से गुजरे हैं । उन्हें भी देश-कालानुसार अनेक विकट, किन्तु उचित निर्णय लेने पड़े हैं । श्री शंकराचार्य, श्री रामानुज, श्री वल्लभाचार्य आदि की विभिन्न परम्पराएँ इसी परिवर्तन-धारा में विकसित हुई हैं । किसी समय कर्मकाण्ड का युग था । यज्ञ-याग आदि की भेरी बज रही थी और वह भी एक समय आया, जब उसी परंपरा में उसके विरोध का स्वर मुखरित हुआ । कभी ज्ञानयोग का युग आया तो कभी भक्तियोग का । भक्तियोग भी सगुण, निर्गुण, रामशाखा, कृष्णशाखा आदि विभिन्न धाराओं में शतद्वु बनकर बहता रहा ।

श्रीकृष्ण के निर्णय

महापुरुषों में श्रीकृष्णचन्द्र तो तात्कालिक उचित निर्णय लेने वाली

(२०१)

परंपरा के कर्णधार ही हैं । वस्तुतः वे दिशानिर्देशक पुरुषोत्तम हैं । उनके निर्णय बहुआयामी हैं । आभीर जाति जो महाशूद्र की संज्ञा से अभिहित थी, उसके बालगोपालों के साथ कृष्ण खाते-पीते हैं । गाएँ चराते हैं । अन्तर्दानवरूप क्रूर, अरिष्ट वृषभ और पूतना स्त्री का वध करते हैं । जो उस युग में पातक माना जाता था । अत्याचार से ग्रस्त रुक्मिणी का उसके उद्धार के हेतु अपहरण करते हैं । महाभारत-युद्ध में अर्जुन के रथ के सारथि बनते हैं, जो सूतकर्म हैं । सूतकर्म शूद्र-कर्म माना गया है, जो क्षत्रिय के लिए वर्जित है ।

महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण के अनेक निर्णय तो ऐसे हैं, जो नीति की मर्यादा के बाहर जाते हैं । भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन आदि के संहार की घटनाएँ छल से लिप्त हैं, शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध हैं । अर्जुन आदि महारथी उसी शास्त्र एवं नीति के व्यामोह में वह काम करना भी नहीं चाहते थे । परन्तु श्रीकृष्ण ने वह सब कराया । यदि ऐसा न किया या कराया जाता, तो तत्कालीन दुर्योधन जैसे उद्दण्ड मर्यादा-हीन शासकों द्वारा प्रजा का कितना भयंकर उत्पीड़न होता, जिनके हाथों अपने ही परिवार की द्रौपदी जैसी सती, साध्वी, सदाचारिणी नारियों को अपमानित होना पड़ा, भरी सभा में उन्हें नग्न करने की कुचेष्टा की गई । अत्याचार को समाप्त करना भी एक धर्म है । यदि धर्म-शास्त्र या पूर्व परंपरा की कुछ नैतिक मान्यताएँ उसमें बाधक बनती हैं, तो श्रीकृष्णचन्द्र जैसे महापुरुष उनकी उपेक्षा करते हैं और समय पर उनके विरुद्ध भी कार्यकारी आवश्यक निर्णय लेते हैं । शास्त्रों एवं धर्म-परंपराओं के कुछ विधान शाश्वत नहीं होते । उन पर भी देश-काल की छाया पड़ी होती है, जो समय पर परिवर्तन की अपेक्षा रखती है ।

सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन का चक्र

सामाजिक क्षेत्र भी परिवर्तन से अलिप्त नहीं रहा है । सुदूर अतीत में स्त्रियों में पर्दा जैसी कोई चीज नहीं थी । एक समय आया, जब पर्दा आवश्यक हो गया । और आज वह समय फिर आया कि पर्दा अनावश्यक हुआ, अतः उसका विरोध हुआ । इसी प्रकार दहेज, मृतकभोज, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, स्त्रीशिक्षा आदि अनेक जीवन-विधाएँ विधि से निषेध में, निषेध से विधि में बदलती रही हैं । ये शाश्वत नहीं, युगधर्म के तत्त्व हैं, इन्हें परिवर्तन के चक्र में यथासमय परिवर्तित होना ही होगा ।

अपेक्षाओं का पर्यवेक्षण

धार्मिक क्षेत्र के गुरु या आचार्य हों अथवा सामाजिक क्षेत्र के नेता या अग्रणी हों, उन्हें संघ एवं समाज के वर्तमान तथा भविष्य की अपेक्षाओं का सतत पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए । उन्हें निरन्तर देखना है कि क्या उचित है, क्या अनुचित है, क्या आवश्यक है, क्या अनावश्यक है, क्या उपयोगी है, क्या अनुपयोगी है । जो ठीक है, उसका संरक्षण करना है और जो ठीक नहीं है, उसे साहस के साथ काटकर साफ कर देना है । उसके स्थान पर यदि कोई अन्य उचित निर्णय अपेक्षित है, तो उसका विधान करना है । लोग क्या कहते हैं, यह नहीं देखना है । देखना है, सत्य एवं हित क्या कहता है । योग्य डाक्टर या वैद्य यह नहीं देखता है कि रोगी क्या कहता है, वह क्या खाना-पीना चाहता है । वह तो रोग और उसके प्रतिकार को लक्ष्य में रखकर कड़वी या मीठी जैसी भी औषधि हो, सुस्वादु या दुःस्वादु जैसा भी खान-पान हो, विधान कर देता है । चिकित्सक रोगी का अनुयायी बना कि सर्वनाश !

गुरु का दायित्व

गुरु गुरु है, शिष्य नहीं है । गुरु अग्रणी है, उसे शिष्यों को अनुयायी बनाकर देश-कालानुसार उचित निर्णय लेने हैं और आगे चलना है । गुरु यदि शिष्यों के पीछे चलने लगा, उन अबोध लोगों की 'हां' में 'हां' और 'ना' में 'ना' करने लगा तो उसका गुरुत्व मर गया । तब वह गुरु न होकर अबोध, नेत्रहीन अंधे शिष्यों का शिष्य बन गया, उन्हें उसने गुरु बना लिया, इस अर्थ में वह स्वयं भी अन्धा बन गया । और तब गजब हो जाता है, जब अन्धे अन्धों का पथ प्रदर्शन करने लगते हैं ।

नेता और मिथ्याचार

जब नेता और गुरु अनुयायी जनता की इच्छा पर चलने लगते हैं, तो अराजकता पैदा हो जाती है । जनता भीड़ है । उसका कोई एक मस्तिष्क नहीं होता । एक वर्ग कुछ कहता है, तो दूसरा वर्ग उसके विरुद्ध कुछ और ही राग अलापता है । अपनी-अपनी बात के लिए इतना हल्ला और शोरगुल होता है कि कुछ पूछो नहीं । आये दिन इस सन्दर्भ में जो अभद्र दृश्य देखने को मिलते

कभी इस वर्ग की ओर भागता है, कभी उस वर्ग की ओर । कभी 'गंगा गए तो गंगादास' कभी 'जमना गए तो जमनादास' की अनिश्चयसूचक लोकोक्ति का शिकार हो जाता है बेचारा नेता । सबको सब तरह खुश रखने से बढ़कर और कौन-सा मिथ्याचार हो सकता ? विभिन्न अपेक्षाओं के चक्रव्यूह में बेचारा अभिमन्यु मरेगा नहीं तो क्या होगा ?

लोकहित क्या है ?

आज लोकहित का प्रश्न है । प्रश्न ठीक है । परन्तु लोकहित क्या है, इसकी परिभाषा कौन निश्चित करेगा ? जनता में कोई एक परिभाषा निश्चित नहीं है । भिन्न-भिन्न लोकहित और लोकहित के मार्ग हैं — एक दूसरे के विपरीत जनता के पास ! कौनसा लोकहित और उसका मार्ग अपनाया जाएँ ? उक्त समस्या का समाधान तटस्थ प्रामाणिकता के साथ नेता को करना है या जनता को ? उचित दवा की तजबीज डाक्टर को करनी है या मरीज को ? घूमफिर कर क्या करना और क्या न करना, यह सब दायित्व नेता पर ही आ जाता है — क्योंकि वह नेता है, अनुयायी नहीं है, वह गुरु है, शिष्य नहीं है ।

लोकमूढ़ता

लोकमूढ़ता बहुत बड़ी मूढ़ता है । भगवान महावीर के दर्शन में यह भी मिथ्यादृष्टि का एक रूप है । अनेक लोक-परंपराएँ विवेक से परे हैं, अतः वे मूढ़ताएँ हैं । मूढ़ व्यक्ति ही उन्हें पकड़े रहते हैं । इसे ही कहते हैं—गाधे की पूँछ पकड़े रहना और दुलत्ती खा-खाकर घायल होते रहना । सम्यग्दृष्टि होने के लिए लोकमूढ़ता का परित्याग आवश्यक है । अधिकतर लोकमानस गतानुगतिक होता है । पारमार्थिक नहीं होता । हर बात के लिए वह यही कहता है कि जी, पहले से चली आ रही है, नयी तो नहीं है । इसीलिए कहा है एक मनीषी ने गतानुगतिको लोकः, न लोकःपारमार्थिकः । यह सिंहचाल नहीं, भेड़चाल है । प्रतिभ्रोतगामी नहीं, अनुभ्रोतगामी है । वेगवान् प्रवाह के प्रतिकूल तैरना प्रतिभ्रोतगामी सिंहों का काम है, अनुभ्रोतगामी भेड़ों का नहीं । बात कड़वी अवश्य है, पर है यथार्थ और साथ ही हितकर ।

देर स्वयं में एक अंधेर

अनेक धर्माचार्य तथा समाज-नेता सत्य के निर्णय पर आकर भी उसको उद्धोषित एवं क्रियान्विक करने में हिचकते रहते हैं, अतः देर करते रहते हैं । क्या जल्दी है, करेंगे करेंगे, बस वात्याचक्र में उलझे रहते हैं । वे नहीं समझते कि देर करने के परिणाम प्रायः अच्छे नहीं होते । शुभ है, तो उसे शीघ्र होना ही चाहिए । 'शुभस्य शीघ्रम् ' कोई गलत नहीं कहा है । देर करते रहने से शुभ का रस समाप्त हो जाता है - ' कालः पिबति तद्रसम् । ' लोग कहते हैं ' देर है, अंधेर नहीं । ' मैं कहता हूँ देर स्वयं में ही एक अंधेर है । जो भी करना है, समय पर कर लेना चाहिए । तारीखें डालते रहना, व्यर्थ ही केस को लंबा करते जाना, कोई अच्छी बात नहीं है । 'तुरत दान महाफल' का सिद्धान्त ही ठीक है । आज की अदालतें फैसला देने में देरी करने के कारण मजाक बन गई हैं । वर्षों के वर्ष हो गए, मुकदमों की लाखों फाईल या तो अंधेरे में दबी पड़ी हैं, या एक मेज से दूसरी मेज पर चक्कर काटती फिर रही हैं। एक बार कचहरी में प्रवेश कर जाइए, फिर प्रभु की अनन्त कृपा हो तो भले ही जल्दी वापस लौट आए, नहीं तो नहीं ही आएगी । पैसा खर्च होता रहता है, चारों तरफ से नोच-खसोट होती रहती है, वादी या प्रतिवादी घर से कचहरी और कचहरी से घर के चक्कर काटते काटते सही अर्थों में चकरधिन्नी हो जाते हैं । यहाँ तक कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह चक्र चलता रहता है, समाप्त ही होने को नहीं आता । यह देर अंधेर ही है, और क्या ? धर्म और समाज की अदालतों के भी गुरु और नेता न्यायाधीश हैं । उन्हें इस देर के अंधेर से बचना चाहिए । न हाँ और न ना, यह कैसा शासन करने का तरीका है? लोक-निन्दा से डरे-डरे से रहते हैं । दुर्भाग्य से सही निर्णय दे ही नहीं पाते । देर होती रहती है, संगठन बिखरता जाता है । उचित समय पर उचित निर्णय के अभाव में यही तो होगा । शासक में दृढ इच्छा-शक्ति का अप्रतिहत मनोबल होना चाहिए । ऐसे शासकों से ही लोक-मंगल हो सकता है । अन्यथा..... । जो शून्य को तोड़ कर नवसृजन करता है, वही सृष्टिकर्ता ईश्वर है ।

वह सांस्कृतिक गरिमा आज कहाँ है ?

भारतवर्ष की चिरागत महत्ता और गरिमा आज धूल में मिलती जा रही है । मनुष्य के मन का स्वार्थ आज सर्वग्रासी ऐसा राक्षस बन गया है कि जिसकी दृष्टि में अच्छे-बुरे का, पुण्य-पाप का सारा भेद की खत्म हो गया है । हर मूल्य पर स्वार्थसिद्धि होनी चाहिए, बस, इस बात के सिवा उसे न कुछ सोचना है, और न कुछ करना है । यही कारण है कि सब ओर हत्या, लूट, बलात्कार और भ्रष्टाचार आदि कुकर्मों का साम्राज्य स्थापित होता जा रहा है । समाचार पत्रों के पृष्ठों पर, आये दिन घटित होने वाली हजारों घटनाओं में से जो चन्द घटनाएँ अंकित होती हैं, वे आज के विकृत हुए जन-मानस का वह धिनौना चित्र उपस्थित करती हैं कि शर्म से आँखे नीची हो जाती हैं ।

देश में उत्थान, उन्नति और प्रगति के नाम पर बहुत कुछ हुआ है, और हो रहा है । नगरों में आकाश चूमते बीस-बीस मंजिल के भव्य भवन बन रहे हैं, सागर जैसे हिलोरे लेते बांध बनाये गए हैं । भास्कर, रोहिणी और आर्य भट्ट जैसे उपग्रह पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर रहे हैं और वे ऋतु परिवर्तन आदि की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अपने केन्द्रों को दे रहे हैं । भविष्य में कब कहाँ क्या तूफान, कम्पन और वर्षा आदि हो सकते हैं, इसकी सूचना भी समय से पहले मिल जाती है । विराट यंत्रों का निर्माण इतने ऊँचे स्तर पर हो रहा है कि अनेक बाह्य देशों को विपुल मात्रा में निर्यात किया जा रहा है । अरब और एशिया के अनेक राष्ट्रों में विशाल कल-कारखानों का निर्माण भारतीय प्रतिभाएँ कर रही हैं । यह सब कुछ हो रहा है, विज्ञान के भौतिक चमत्कारों का आज धरती पर जाल बिछ रहा है । परन्तु, खेद है, आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्तर पर वह पतन की ओर खिसक रहा है । नैतिक मूल्यों का ह्रास इतनी तीव्रगति से हो रहा है कि सँभाले संभल नहीं पा रहा है ।

नैतिकता :

भारतवासी बात-बात पर अपनी नैतिकता के ऊँचे मानदण्डों की प्रायः जय घोषणाएँ करते रहते हैं। दूर के दूसरे राष्ट्रों को नैतिक दृष्टि से तुच्छ, क्षुद्र एवं नीच समझते हैं। समुद्र पार के अनेक राष्ट्रों में स्त्रियों से हाथ मिलाने की और परस्पर चुंबन आदि की कुछ खुली परम्पराएँ हैं। इसे हम घृणा से देखते हैं और कहते हैं— वे जंगली हैं, जानवर हैं। यह कैसी सभ्यता? यह तो नारी क्या, वेश्याएँ हैं, वेश्याएँ। और हम नाक-भौंह सिकोड़ते हैं, और अपनी उच्च सभ्यता एवं नैतिकता के नगाड़े बजाने शुरू कर देते हैं। मैं इन सब बातों के समर्थन में नहीं हूँ। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि यह पापाचार उतना नहीं है, जितना कि वहाँ का लोकाचार है। माना कि यह सब है। पर दूसरी ओर यह भी तो देखिए कि नारी जाति का वहाँ समादर भी कितना उदात्त है। हर जगह नारी को पहले बैठाने का और काम करने का अधिकार है। 'लेडी इज फर्स्ट' वहाँ का नारी के प्रति उदात्त व्यवहार सूत्र है। और भारत में क्या है? नारी को पैरों का जूता कहा जाता है, जब चाहा फेंक दो, बदल दो। वह अतीत में काफी लम्बे समय से बाबा तुलसीदास के शब्दों में ढोल, गँवार, शूद्र और पशु के समान ताड़ना देने की पात्र है — 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' और, आज तो हालत इतनी खराब है कि कुछ पूछो मत। नारी आज इतनी असुरक्षित है, कि दिल काँप जाता है। दहेज के नाम पर उसे मारापीटा जाता है, जलाया जाता है। कभी-कभी अत्याचारों से तंग आकर स्वयं उसे जलना पड़ता है। उसे विष खाकर आत्महत्या करनी पड़ती है। फाँसी के फन्दे पर झूलकर मरना होता है। और आश्चर्य तो तब होता है, जब ये घटनाएँ कीड़े-मकोड़ों और वनस्पति जीवों तक की रक्षा के लिए दया-धर्म का गगन भेदी उद्घोष करने वालों के घरों में घटित होती हैं।

काम-वासना का तूफान तो इधर प्रबल वेग से उमड़ पड़ा है। बलात्कार की बात एक साधारण-सी प्रासंगिक बात हो गई है, सामूहिक बलात्कार। मूर्च्छित अवस्था तक नारी के शरीर से दस-दस, पंद्रह-पंद्रह नर-पिशाच चिपके रहते हैं। नारी बेचारी इस बीच मर भी जाती है। और अनेक बार तो वासना की पूर्ति के बाद नर-राक्षस स्वयं ही मार देते हैं। इन घटनाओं में अबोध बालिकाओं तक का शिकार किया जाता है। स्नेह-भरी माँ के सामने बेटी का, और मासूम बेटी के सामने माँ का, भाई के समक्ष

बहन का और पति की हाजिरी में पत्नी का शील हरण करना और वह भी घातक शस्त्रों की नोक पर सामूहिक, यह कैसा अनैतिक एवं पाशविक दुराचरण है? क्या यही नैतिकता है, सभ्यता है, जिसके समक्ष हम विदेशियों की नैतिकता एवं सभ्यता की आए दिन खिल्ली उड़ाते हैं। यह मत समझिए कि इन दुष्कर्मों में साधारण धुद्रजन ही लिप्त हैं। शिक्षित कहे जाने वाले सरस्वती-पुत्र तक भी इसके लिए कलंकित हैं। अभी-अभी अलिगढ़ विश्वविद्यालय में क्या हुआ है, मालूम है न?

प्रामाणिकता :

दूसरी बात प्रामाणिकता की है। यहाँ बात-बात में झूठ बोला जाता है, एक-दूसरे को छला जाता है। नकली दवाइयाँ बनती हैं, जिनसे हजारों रोगी जीवन की आशा में मौत के घाट उतर जाते हैं। नकली सीमेन्ट के निर्माण से बड़े-बड़े विशाल पुल, नदी-बाँध और भवन सहसा ध्वस्त हो जाते हैं, और हजारों लोगों के प्राण यों ही कीड़े-मकोड़ों की तरह चले जाते हैं। अस्पतालों में घावों पर बाँधने के काम में आनेवाली मरहम-पट्टियाँ तक भी निम्न स्तर की होती हैं, जिनके कभी-कभी भयंकर दुष्परिणाम बेचारे रोगियों और अभिभावकों को भोगने पड़ते हैं। पत्रकार मनोरमा दीवान ने एक समाचार में इस सम्बन्ध में लिखा है कि ब्रिटिश सरकार ने अपने सभी अस्पतालों को यह निर्देश दिया है कि “भारत से आयात किए गए सामान को, जिसमें घावों पर बाँधी जाने वाली पट्टियाँ, रूई और गाज सम्मिलित हैं, तुरन्त नष्ट कर दिया जाए। क्योंकि उनका निर्माण उचित ढंग से नहीं हुआ है। उनके प्रयोग से टेटनस और गैंगरिज जैसी जानलेवा बीमारियाँ होने की आशंका है।” इसी सन्दर्भ में भारत के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री भी आए दिन बोलते हैं कि निर्माण की क्वालिटी गिरने नहीं पाए, पर कौन ध्यान दे रहा इस पर। ये अर्थ पिशाच तो जो कुछ भी कर लें, वह सब थोड़ा ही है। मिलावट की तो कोई सीमारेखा ही नहीं है,। दूध में, घी में, मिठाई में, मशाले में, तेल में सब ओर जीव-लेवा मिलावट का बोलबाला है। लगता है, ईमानदारी नाम की कोई चीज कहीं रह नहीं गई है। भगवान महावीर के शब्दों में सत्य कभी भगवान था—‘सच्चं खु भगवं।’ पर अब वह भगवान मर चुका है। खेद है, उसके मरने का कहीं मातम भी नहीं मनाया जा रहा है।

और तो और, सत्य के पक्षधर धर्मपुत्र तक भी अपने विरोध पक्ष पर मनगढ़ंत झूठे दोषारोपण करते रहते हैं, अनर्गल कीचड़ उछालते रहते हैं। चरित्र हनन का ऐसा कुचक्र चला है कि साधु नामधारी महान पुरुष भी इससे बचे नहीं हैं, अपितु उनमें तो यह रोग महामारी की तरह कुछ अधिक ही फैलता जा रहा है। क्रियाकाण्ड के नाम पर अधिकतर दम्भ का प्रदर्शन है—नीचे गारा ऊपर चूना है। और यह इसलिए है कि निन्दा-आलोचना के इस गन्दे व्यापार के माध्यम से अपनी क्षण जीवी प्रतिष्ठा का अन्ध श्रद्दालु भक्तजनों में मर्यादाहीन प्रसार किया जाए, तथा भिन्न सम्प्रदाय के साधुजनों को या अपने विरोधियों को बदनाम किया जाए। उन्हें पता नहीं, यह नकली साधुता, उग्र क्रिया-काण्डिता स्वर्ग का पथ नहीं, नरक का पथ है। स्वर्ग भी गए तो वे मायाचारी साधु, किल्बिषक नामधारी नीच देव ही होंगे, शास्त्र प्रमाणतः। मैं लेख की ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, दि. १२ जून ८२ की दुपहरी में और अभी ही दक्षिण प्रदेश मद्रास से श्री सुगन चन्दजी नाहर का एक दर्दभरा पत्र है कि “आजकल साधु सिर्फ वेष में ही दीखते हैं, साधु देखने की तमन्ना रह गई है।” यह एक नाहरजी का ही दर्द नहीं, यह तो अनेक गुमसुम नाहरों का जिन भक्तों का दर्द है। क्यों है यह दर्द? यह इसलिए है कि आजकल साधु धर्म का नहीं, सम्प्रदाय का प्रचार करता है। प्रेम, सद्भाव का नहीं, परस्पर में घृणा, दुर्भाव और फूट का प्रसार करता है। वह आग बुझाता नहीं है, अपितु हरेभरे मानव-मन के शान्त उपवन में आग लगाता है। अमृत के नाम पर विष-वृक्षों का बीजारोपण करता है।

यह स्थिति केवल साधारण साधुओं की ही नहीं है, बड़े-बड़े नामधारी धर्माध्यक्ष तक इस मायाजाल से मुक्त नहीं हैं। वे साधारण जन की अपेक्षा अधिक ही साम्प्रदायिक मान्यताओं की कठपुतली बन गए हैं। सत्य को समझ कर और मानकर भी बाहर में मुक्तरूप से उसे स्वीकार कर लेने की उनमें क्षमता नहीं है। अनेक बार मान्यताओं के मोह से अन्दर में समझते हुए भी वे बाहर में सत्य को असत्य और असत्य को सत्य के रूप में प्रचारित करते हैं। धर्म-सम्मेलनों के अनेक प्रसंगों पर मुझे इस बात का अनेक बार कटु अनुभव हुआ है। क्या उन्हें पता नहीं कि यह गृहीत मिथ्यात्व का उन्मार्ग है। शास्त्र पढ़ते हैं, पता तो होगा ही। पर, ‘दृष्टि रागो हि पापीयान्’ इतना भयंकर है कि अच्छे-से-अच्छे विद्वान भी उसके समक्ष पराजित हो जाते हैं।

जीवन की एकरूपता :

किमधिकम्? भारतीय जीवन का हर अंग दूषित हो गया है, और हो रहा है । परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी अंश में कोई-न-कोई विकृति प्रवेश कर गई है । और उसका मूल बीज है—स्वार्थपरता और अप्रामाणिकता । इसी में सभी दोष प्रायः आ जाते हैं । अतः सुधार का एक ही हेतु है कि मानव अपने को स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठाए और अपने विचार एवं आचार को प्रामाणिकता की ज्योति से प्रकाशमान बनाए । स्वार्थमुक्त प्रामाणिकता ही वह ज्योति है, जिसके समक्ष अन्धकार का कुछ भी अस्तित्व नहीं रह सकता । स्वार्थ का अर्थ लोभ है, भोगासक्ति है । और इसके लिए भगवान महावीर का सूत्र है—‘लोभो सव्व विणासणो ।’ लोभ सभी सद्-गुणों को नष्ट करने वाला है । अतः लोभ-मुक्ति विकारविमुक्ति का सर्वोत्तम सोपान है । और इसी लोभ में अन्तर्निहित है—अप्रामाणिकता । मनुष्य अप्रामाणिक किसी-न-किसी इच्छा, लोभ एवं मोह के कारण ही होता है । अप्रामाणिकता है—जीवन को दो विरोधी खण्डों में विभक्त कर देना । अन्दर कुछ और, और बाहर कुछ और, यही है अप्रामाणिकता । भगवान महावीर ने कहा था—जैसे अन्दर में हो, वैसे ही बाहर में रहो—“जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।” इसी सन्दर्भ में संस्कृत-साहित्य का भी एक विचारसूत्र है—“मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।” महान आत्माएँ मन, वाणी और कर्म में एक स्वरूप रहते हैं । अतः महान होने का, पतन से बचने का वस्तुतः एक ही सूत्र है—जीवन में प्रामाणिकता का प्रामाणिकता से आचरण । ईमानदारी से ईमानदारी का स्वीकार।’

अगस्त १९८२

विचारों के बीज

अनेक प्राचीन ग्रन्थों में शरीर को क्षेत्र कहा है, परन्तु चिन्तन की धारा में यदि गहरे उतरें तो पता लगेगा कि वस्तुतः शरीर क्षेत्र नहीं, शरीर में छिपा हुआ मन ही क्षेत्र है । क्षेत्र का अर्थ खेत है, खेत में कुछ-न-कुछ बोया जाता है, जिसकी उपज पर बोनेवाले के भविष्य का अच्छा-बुरापन निर्भर है । शरीर में क्या बोया जाता है, और उसमें बोने के अनुरूप क्या उपज होती है ? कुछ भी तो नहीं होती । शरीर में से भोजन बोया जाता है, और उससे रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि और मल-मूत्र की ही उपज होती है, जिसका प्रस्तुत चिन्तन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

आप देखते हैं, खेत में जैसा भी बीज बोया जाता है, तदनुरूप ही उसमें गेहूँ, चना, जौ आदि के पौधे लगते हैं और उन्हीं जैसा धान्य पैदा होता है। क्षेत्र की प्रकृति इसमें जरा भी भूल नहीं करती, ऐसा कभी नहीं होता कि बोया जाए गेहूँ और उसके बदले खेत में जौ या चना आदि की विपरीत फसल खड़ी हो जाए । यही स्थिति हमारे मन के खेत की है । हम इसमें जैसे विचारों एवं भावों के बीज बोएँगे, उसके अनुरूप ही तो हमारे भविष्य की परिणति होगी ।

मन का क्षेत्र विशाल है । उसके सम्बन्ध में हमें निर्णय लेना है कि यहाँ कौन-सी फसल उगानी है । सुख की, शान्ति की उगानी है, या दुःख की ? उत्थान की उगानी है, या पतन की । प्रगति की उगानी है, या अवगति की ? जो भी है, हमारे विचारों के बीजों पर निर्भर है, हिंसा, घृणा, वैर, लोभ-लालच, दुर्वासना आदि के बीज अशुभ हैं । यदि इन्हीं विचारों का बीजारोपण मनोभूमि में किया गया, तो अत्यन्त कांटों भरी दुःखों, पीड़ाओं की फसल पैदा होगी । और, यदि प्रेम, सद्भाव, सहयोग, उपकार एवं मैत्री आदि के शुभ बीज बोए गए, तो उससे सुखशान्ति और आनन्द-मंगल की वह उत्तम फसल पैदा होगी कि जन्म-जन्मान्तर के लिए अपार सुख-समृद्धि के अंبار लग जाएँगे । और यह

समृद्धि वह समृद्धि होगी, जो स्व और पर अर्थात् सभी के लिए दूर-दूर तक धरती पर स्वर्ग का अवतरण कराएगी ।

अच्छा हो, हम बुरे विचारों के बीज बोने से बचें । अन्धे होकर, जो भी हाथ आए, वही बीज खेत में नहीं फेंक देना है । बहुत बड़ी सतर्कता की अपेक्षा है इस वपन क्रिया में । मूर्ख किसान जैसे भूमि पर के खेत में अनावश्यक बीज बोकर पछताता है, वैसे ही मानव भी अपनी मनोभूमि में व्यर्थ के अनावश्यक एवं अभद्र विचार-बीजों को बोकर परिणाम स्वरूप फसल पकने पर सिर पीट कर पछताया करता है ।

शुभत्व के विचार-बीजों को वपन करते समय भी जागृत रहना चाहिए। शुभ-विचार योंही सड़े गले एवं शक्तिहीन न हों । अच्छा बीज भी जैसे सड़ा, गला, घुना, पुराना एवं शक्तिहीन होता है, तो उससे कभी अच्छा अंकुर पैदा नहीं होता, लहलहाती हरी-भरी सुखद फसल नहीं होती, वैसे ही शुभ-विचार के बीज भी संकल्पहीन निर्बल, कमजोर हों, तो उनसे कैसे अभीष्ट अच्छे परिणाम आएँगे । समर्थ एवं सक्षम विचार ही समय पर अच्छे परिणाम ला सकते हैं ।

प्रस्तुत खेत और बीज की तुलना के साथ इसी से सम्बन्धित एक और बात भी ध्यान में रखने जैसी है । अच्छे से अच्छे अन्न के सशक्त बिना घुने और बिना सड़े गले बीज बोने पर भी खेत में असावधानी से इधर-उधर खर-पतवार खड़ा हो जाता है, कँटीली झाड़ियाँ उग आती हैं, और फसल का शोषण करनेवाला व्यर्थ का घास उग आता है । चतुर और उद्यमी किसान-बीच-बीच में समय-समय पर इन अवरोधक खर-पतवारों को उखाड़ फेंकता है । इसकी निरन्तर सावधानी रखता है । विचारशील पुरुषार्थी मानव भी मनोभूमि की खेती के लिए यही मार्ग अपनाता है । शुभ विचारों के बीजों के साथ कभी-कभी असावधानता के अंधेरे क्षणों में अशुभ विचारों के बीज भी आ पड़ते हैं । ये इतने मौनरूप में गिरते हैं, कि मानव को ठीक तरह पता भी नहीं लग पाता कि क्या-कुछ हुआ ? यदि कभी पता होता भी है, तो उनकी नगण्यता इतनी अधिक होती है कि व्यक्ति उपेक्षा कर जाता है । कि अरे यह तो कोई खास बात नहीं है । जाने दो, जो हुआ सो हुआ । इससे क्या हानि होने वाली है । परन्तु, वह यह नहीं सोचता कि ज्ञात या अज्ञात किसी भी रूप में मनोभूमि पर पड़े हुए दुर्विचारों के नगण्य एवं उपेक्षित बीज भी समय पर कितने भयंकर

परिणाम के जनक होते हैं। सर्प के काटने पर विष की एक साधारण-सी बून्द ही रक्त में प्रवेश करती है, परन्तु कुछ ही देर में वह समग्र शरीर में फैल जाती है, सारा-का-सारा शरीर विषाक्त हो जाता है। और, यदि समय पर कोई कारगर यथोचित उपचार न किया जाए, तो अन्ततः मानव के प्राण भी समाप्त हो सकते हैं। पुष्प-वाटिका में पड़ा हुआ जंगली-झाड़ी का एक नन्हा-सा बीज कंटीली झाड़ी के रूप में जब अंकुरित होता है, तो हजारों नुकीले तीखे काँटों से वह झाड़ी लद जाती है। धुन का कीड़ा कितना सूक्ष्म होता है। वह चुपचाप अदृश्य रूप से काष्ठ में लगा रहता है, ओर एक दिन मकान की छत के आधारभूत विशाल सहतीरों को भी पूरी तरह खोखला कर डालता है।

दुर्विचार की भी यही स्थिति है। प्रारंभ में साधारण, तुच्छ, अर्थहीन लगने वाले कुविचार समय पाकर विस्तार पाते हैं, और जीवन को सब ओर के सद्गुणोंसे खोखला करके दुर्गुणों एवं दोषों से भर देते हैं। भगवान महावीर ने कहा है — बाहर के देहधारी सशस्त्र क्रूर शत्रु भी उतने भयंकर नहीं होते, जितने कि मानव के अपने मन के अन्दर के कुविचार भयंकर होते हैं, सर्वनाश के हेतु बनते हैं। मन के कुविचार आस्तीन के साँप हैं, घर के ही भेदिए विभीषण हैं। इनकी मार से बच पाना सहज नहीं है। अतः प्रबुद्ध मानव को चाहिए की वह आत्मालोचन के द्वारा निरन्तर शुभाशुभ विचारों का विश्लेषण करके अशुभ एवं अभद्र विचारों का परिमार्जन करता रहे, पश्चात्ताप की गंगा में मन के मैल को धोता रहे। जैनपरम्परा का प्रातः एवं सायं उभय-कालीन किया जाने वाला प्रतिक्रमण इसी दोषपरिमार्जन का प्रतीक है। पक्खी, चौमासी एवं संवत्सरी-पर्व पर की जाने वाली आलोचना, प्रतिक्रमण तथा क्षमापना की क्रियाएँ भी दोषों के परिमार्जन के लिए ही हैं।

महापर्व पर्युषण तो आत्म-निरीक्षण का पर्व है। मन को माँजने का, मन पर जमे हुए मल को धोकर साफ करने का पुनीत दिवस है। जिससे मनोभूमि में शुद्ध विचारों के बीज अंकुरित हो सकें, शुद्ध भावों की ज्योति प्रज्वलित हो सके और साधक निर्बाध गति से जीवन की सही दिशा में प्रगति कर सके।

सितम्बर १९८२

यह है मानवता !

मानव जाति में ऐसे उदाहरण तो लाखों ही नहीं, करोड़ों मिलेंगे, जिनमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के व्यामोह में मानव ने अपने प्राणों का बलिदान दिया है । अनादिकाल से मानव अपने क्षुद्र परिवार के लिए, यश-प्रतिष्ठा के लिए, धन-संपत्ति के अर्जन एवं रक्षण के लिए अपने प्रिय प्राणों को मृत्यु की आग में होमता आया है, साथ ही दूसरों के प्राणों का भी हनन करता रहा है । परन्तु, ऐसे विरले ही मानव मिलेंगे, जो दूसरों के प्राणों की रक्षा के लिए, कर्तव्य की वेदी पर अपने प्रिय प्राणों को निछावर करने के लिए साहस के साथ मौत के सामने आकर खड़े होते हैं, और प्रसंग आगे बढ़ता है, तो हँसते-हँसते अपना सर्वाधिक प्रिय जीवन निछावर कर भी देते हैं । ऐसे बलिदानी दधीचियों के उक्त दान में प्रतिदान की कहीं भी कोई गन्ध नहीं होती— न ऐश्वर्य की, न यश की और न इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में नाम अंकित कराने की । उन्हें तो अज्ञात एवं अपरिचित रहने में जितना आनन्द आता है, उतना ज्ञात एवं परिचित होने में नहीं आता, जय-जयकार पाने में नहीं आता ।

सत्य-युग की बात छोड़िए । वहाँ तो अनेक पौराणिक गाथाएँ ऐसी मिलती हैं, जो हमारे आज के तन-मन को रोमांचित कर देती हैं । आज का सब ओर से निन्दित कलि-युग भी ऐसी दिव्य-ज्योतिर्मय किरणों से वंचित नहीं है । मानवता सत्य-युग या कलि-युग आदि के काल-खण्डों में कभी धूमिल नहीं होती है । सघन अंधकार के क्षणों में भी सहसा स्वर्णिम ज्योति-किरणें प्रज्वलित हो जाती हैं, जिनके फल-स्वरूप मानवता जगमगा उठती है । मानव में दिव्यता के विश्वास का आधार इन्हीं घटनाओं पर खड़ा है, जो युग-युगान्तर तक मानव-जाति के सुप्त एवं मूर्च्छित होते हुए परोपकार-प्रवण, करुणार्द्र मन को जगाए रखता है ।

‘अमर उजाला’ दैनिक, आगरा (१२ अप्रैल १९८१) का एक पृष्ठ

आँखों के सामने आ जाता है । 'कर्तव्य की पूर्ति' के शीर्षक से, श्री दिनेश वैजल का, एक लेख पढ़ता हूँ, तो अन्तर्मन एक अनिर्वचनीय भाव-ज्योति से आलोकित हो उठता है । लेख किसी पुरा-काल की पौराणिक कथा का अंकन नहीं कर रहा है । जीवन के सामने घटित आँखों देखी घटना का वर्णन है । वर्णन क्या है? मानव के रूप में एक देवतात्मा की कर्तव्य गाथा है ।

असम में काफी समय से बंगाली व विदेशी लोगों के अवैधानिक असम-प्रवेश पर उग्रतम आन्दोलन चल रहा है । असमी जनता के मन इन प्रवासी बंगालियों के विरुद्ध कटुता एवं घृणा से कितने भरे हुए हैं, यह आज कोई गुप्त रहस्य नहीं है । आन्दोलन चल रहा है, ओर उसमें असामाजिक तत्व किस रूप में हिंसा, हत्या एवं लूट-मार के जघन्य काण्डों पर उतर आते हैं, यह आज के समाचार पत्रों की आये दिन की सुर्खियाँ हैं । चर्चित घटना, इसी से सम्बन्धित है ।

दोपहर के समय स्त्री-पुरुषों, बच्चों, बूढ़ों, नौजवानों से खचाखच भरी हुई एक बस तेज गति से गन्तव्य स्थान की ओर दौड़ती जा रही थी कि एक सुनसान जगह पर बदमासों-लुटेरों एवं हत्यारों के एक सशस्त्र समूह ने उसे रोक लिया । हत्यारों के सरदार ने कड़कती क्रूर आवाज में कहा— 'बस में जो भी बंगाली यात्री हों, वे सब-के-सब तुरन्त नीचे उतर आएँ ।'

सहसा यात्रियों पर मौत का भयानक सन्नाटा छा गया । स्त्रियाँ और बच्चे चीखने लगे, अब क्या होगा ? किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था । लुटेरों-हत्यारों के रूप में यमदूत सामने खड़े थे । तभी एक सांवले रंग का साहसी युवक बस से नीचे उतरा और बंगाली भाषा में बोला— " बासे शुधु अभिई बंगाली जात्री आछि । — बस में, केवल मैं ही एक बंगाली यात्री हूँ ।" युवक ने साहस के साथ आगे बढ़ कर सरदार से कहा — " आप जैसा भी चाहें मेरे साथ व्यवहार कर सकते हैं । मैं आपके सामने खड़ा हूँ, बस को जाने दें ।"

लुटेरे चकित रह गए । युवक के निर्भीक चेहरे और स्पष्ट वाणी पर से उन्हें यही आभास हुआ कि वह बंगाली नहीं, असमी है । और बस, वे आगे कुछ भी हिम्मत न कर सके । किसी भी यात्री को कुछ भी हानि पहुँचाये बिना वे सब वापस लौट गए ।

बस पुनः अपने पथ पर बढ़ चली । यात्रियों के मन में खुशियाँ उछल रही थीं, सभी कृतज्ञता की भाषा में एक स्वर से युवक को धन्यवाद दे रहे थे । अनेक बंगाली परिवार उस असमी युवक को उपहार भी अर्पण करने लगे थे । किन्तु, युवक ने इससे इन्कार कर दिया । और तो क्या, बार-बार साग्रह पूछने पर अपना नाम, धाम, पता तक भी न बताया । वह शान्त स्वर से एक ही बात कहता रहा — “मैं भारतीय हूँ । और मैंने मानवता के कर्तव्य का पालन किया है । इसमें यशप्रतिष्ठा या ऐसा ही और कुछ पाने का कोई प्रश्न ही नहीं है।”

यह है वह मानवता, जो मिट्टी के मानव को ज्योतिर्मय देवत्व के शिखर पर पहुँचाती है । सही और शुद्ध मानवता वही है, जो जाति, समाज, धर्म-ग्रन्थ और राष्ट्र आदि की क्षुद्र वृत्तियों से ऊपर उठकर मानवीय संवेदना की अमृत वर्षा करती है ।

अक्टूबर १९८२

मातृजाति की गरिमा का प्रश्न ?

मातृजाति की महिमा के गुणगान तो भारत के प्राचीन साहित्य में खूब धड़ल्ले से मिलते हैं । उसे देवी जैसे गौरवशाली पद से सम्बोधित भी किया है । परन्तु, उसके साथ उसके गौरव के अनुरूप न्याय बहुत ही कम प्राप्त हुआ है, उसका उपयोग एक साधारण भोग्य वस्तु के रूप में होता रहा । इसके सम्बन्ध में अभी दुर्भाग्य से कुछ कम ही सोचा गया है, दो-चार भूले-बिसरे अपवादों को छोड़कर ।

वेद जैसे पवित्र शास्त्र वह पढ़ नहीं सकती । पवित्रता का प्रतीक यज्ञसूत्रयज्ञोपवीत वह पहन नहीं सकती । गायत्री जैसे मंत्र का वह उच्चारण कर नहीं सकती । आज के विकासशील युग में भी शंकराचार्य जैसे धर्मगुरु उक्त निषेधों की खुले आम घोषणा करते हैं । खेद है, जैन-धर्म जैसा उदार कहा जाने वाला धर्म भी धीरे-धीरे नारी-जीवन के प्रति संकीर्ण एवं अनुदार मनोवृत्ति का शिकार होता गया । उसने भी दृष्टिवाद जैसे उच्च आगम का स्त्री के लिए निषेध कर दिया । स्त्री आचार्य और उपाध्याय जैसे उत्कृष्ट पद भी प्राप्त नहीं कर सकती । जैन-धर्म का एक वर्ग तो स्त्री को मुनि धर्म का अधिकारी भी नहीं मानता । और जब मुनि धर्म नहीं, तो मोक्ष भी नहीं । निषेधों की शृंखला इतनी दूर तक पहुँच गई है ।

हजारों सीताएँ लोकापवाद के झूठे लांछनों पर निर्जन वनों में छोड़ दी गई हैं । जिनके प्रति वे समर्पित थीं, उन पतियों के द्वारा ही ये लोम-हर्षक काण्ड हुए हैं । सतीत्व की परीक्षा देने के लिए वे दहकते अग्नि कुण्ड में भी कूदी हैं । हजारों अंजनाएँ रोती-बिलखती हिम्र वनों में भटकती रही हैं । कलावती जैसी पवित्र नारियों के हाथ काट डाले गए हैं । पाँच-पाँच सौ के समूह में उन्हें एक साथ अग्नि में जलाकर भस्मसात् कर दिया है । साधारण

(२१७)

परिवारों की क्रीत दासी के रूप में जीवन जीने वाली नारियों की तो कोई बात ही नहीं, उनका मूल्य ही क्या है ? द्रौपदी जैसी महारानी हजारों उच्च-वर्ग के लोगों से खचाखच भरी सभा में नंगी की जाती है, और विरोध में किसी का मुख नहीं खुलता है, जीभ नहीं हिलती है । नारी है, उसके साथ कहीं भी, कैसा भी व्यवहार हो सकता है । कौन पूछने वाला है कुछ ?

भारत का इतिहास लाखों ही वर्षों की लम्बी यात्रा कर चुका है । पर, नारी के प्रति यह अत्याचारों की शृंखला नहीं टूटी है । आज के विकसित युग में भी भारत की नारी प्रायः वही यंत्रणाएँ भोग रही है । उसके आँसू अब भी उसी तरह बह रहे हैं । आज भी वह असहाय है, न्यायोचित स्वतंत्रता के अधिकारों से भी एक तरह से वंचित है ।

मैं हैरान हूँ, आज भारत को हो क्या गया है ? भारतीय तरुणाई की गरिमा क्यों लुप्त हो गई है ? अब तो उक्त अतीत से भी स्थिति बहुत ही खतरनाक मोड़ पर पहुँच गई है । आए दिन अखबारों के पृष्ठ, जो खबरें लेकर जनता तक पहुँचते हैं । उनमें और तो अभद्र जैसा कुछ होता ही है, किन्तु सबसे अधिक लज्जा-जनक वे पृष्ठ होते हैं, जिन पर नारियों के अपहरण, बलात्कार के साथ हत्याओं के कुरूप काले अक्षर अंकित होते हैं । अबोध बालिकाओं तक को नहीं छोड़ा जाता । पिता के द्वारा पुत्री के और भाई के द्वारा बहन के अपमान की, शील भंग की घटनाएँ पढ़ने में आती हैं, तो रोम-रोम जल उठता है मेरा । लोग वर्तमान चालू युग को कलियुग कहते हैं । मैं कहता हूँ, ये दुर्घटनाएँ, नारी के प्रति यह अशोभन आचरण तो डंके की चोट घोषणा करते हैं, कि कलि-युग ही नहीं, यह नरक-युग है । मानवता की ज्योति विलुप्त हो रही है, निशाचर राक्षसों की अँधेरी कालरात्रि का सब ओर क्रूर अदृष्टास हो रहा है ।

आत्मवाद, आत्मवाद ही नहीं, परमात्मवाद का पक्षधर भारत आज कैसे दिग्-भ्रान्त हो गया है । प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का दर्शन करने वाला भारत, आज अपनी जन्मदाता मातृ-जाति में परमात्मा तो क्या, आत्मा के भी दर्शन क्यों नहीं कर रहा है ? मिट्टी के पिण्ड से आगे, उसकी दृष्टि क्यों नहीं जा रही है ? नारी में से माता, बहन एवं पुत्री आदि के पवित्र भाव क्यों लुप्त हो गए हैं ? नारी के दिव्य शरीर में भी सब ओर से हटकर केवल एक ही अंग पर पुरुष की दृष्टि केन्द्रित हो गई है ? ये वे जलते प्रश्न हैं, जो आज समाधान

की प्रतीक्षा में हैं , यदि इन प्रश्नों का निकट भविष्य में सही समाधान न मिल सका, तो सर्वनाश द्वार पर खड़ा ही है ।

भारत के पुरुष वर्ग को नारी के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना ही होगा। नारी को उसका अपना न्यायोचित गौरव देना ही होगा । मातृ-शक्ति को भी चाहिए कि वह अधिकार या सुरक्षा के प्रश्न पर परमुखापेक्षी न रहे । अपने अंदर में दुर्गा को जगाना ही होगा अब उन्हें । जिस दिन उनके अन्दर की सोई हुई दुर्गा शक्ति-भवानी जगेगी, उस दिन उनका कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकेगा, उनकी इज्जत के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकेगा, कभी नहीं कर सकेगा ।

नवम्बर-दिसम्बर १९८२

नए वर्ष की आवाज

नया वर्ष आपके द्वार पर खड़ा है । वह आवाज दे रहा — आपका पिछला जैसा था, वह चला गया । अब आप लौटकर न उसके पास जा सकते हैं और न वह आपके पास आ सकता है । उसमें अच्छा या बुरा जितना जीवन जीना था, जी लिए । लाख प्रयत्न करें, विगत विगत है, उसमें जीवन का पुनः प्रवेश संभव नहीं है, अतीत को किसी भी मूल्य एवं स्तर पर लौटाया नहीं जा सकता ।

अतएव विगत को भूल जाइए । विगत के सुख को भूल जाइए और भूल जाइए विगत के दुःख को भी । सुख को न भूलेंगे, तो वह अब भी आपको अपनी स्मृति दिला कर परेशान करता रहेगा, आसक्ति के जाल में फँसाये रखेगा । और विगत के दुःख को न भूलेंगे, तो वह भी अपनी कटु स्मृतियों से आपके मन को कुरेदता रहेगा, भोगी हुई पीड़ा और वेदना के घावों को भरने न देगा, अपितु उन्हें और अधिक चौड़ा और गहरा करता रहेगा । विगत के सुख-दुःखों की स्मृतियों से शान्ति नहीं, अधिकतर अशान्ति ही मिलती है । यदि आप मेरा जीवन का अनुकूल विकास-यात्रा में यथोचित सही उपयोग करना चाहते हैं, तो मेरे साथ विगत को न जोड़िए । मैं जीवित हूँ, और विगत मृत है, शव है, निष्प्राण है । जीवित और मृत की सहयात्रा कैसे संभव है ?

हाँ अतीत की अच्छी अनुभूतियों, विचार और आचार की विशिष्टताओं के जो अंश जीवित हैं, सप्राण हैं, अभी तक जिनकी उपयोगिता समाप्त नहीं हुई हैं, उन्हें यदि साथ लेकर चलते हैं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि मैं तो आग्रह करूँगा कि अवश्य ही मेरे साथ उनका भी अनुसरण करते रहिए । मुझे नफरत है अनुपयोगिता से, फिर भले वह अनुपयोगिता व्यक्तिगत हो, या सामाजिक, धार्मिक हो या और कुछ । मैं हर कली के खिले हुए महकते पुष्पों को पसन्द करता हूँ, मुरझाए हुए मरणोन्मुख या मृत पुष्पों को नहीं । मैं पूछता

हूँ आप से कि आप ताजा अभी का बना भोजन पसन्द करते हैं , या दस-पाँच दिन का बासी, सड़ा-गला, दुर्गन्ध मारता भोजन पसन्द करते हैं। आपको नये स्वच्छ वस्त्र पसन्द हैं, या फटे-पुराने, मैले जीर्ण-शीर्ण । निवास के हेतु स्वयं के या परिवार के लिए नये उपयोगी भवन अच्छे हैं या जीर्णशीर्ण खण्डहर, जिनकी हर ईंट गिरती हुई आपकी और आपके बालबच्चों की कपाल क्रिया करने को प्रस्तुत है ? स्पष्ट है, आपको इनमें से हर वस्तु नयी और उपयोगी ही पसन्द है, पुरानी और अनुपयोगी नहीं । फिर क्या बात है, आप अतीत के मोह में, परम्परा के दुराग्रह में, तथाकथित सामाजिक तथा धार्मिक आदि के रूप में प्रचारित अनेक अर्थहीन अनुपयोगी मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों के मुद्दों को अपने मन मस्तिष्क पर द्रोये जा रहे हैं । जितनी भी जल्दी हो सकती है, आप मुद्दों को जला देते हैं, दफना देते हैं । घर में पड़ा हुआ मुर्दा सड़ता है, साथ ही अनेक जीवितों को भी अपने जैसा मुर्दा बना डालता है । अतः सावधान रहिए, समयोचित साहस कीजिए, अतीत की जो भी मान्यताएँ, परम्पराएँ अपनी उपयोगिता खो बैठी हैं, उन्हें विसर्जित कर दीजिए । उन्हें बनाये रखने में, उनसे चिपटे रहने में, आपका ही नहीं, किसी का भी भला नहीं है। हाँ, यह बात में पहले कह चुका हूँ कि जो अतीत जीवित है, उपयोगी है, उसे अवश्य साथ लेकर चलिए । जो जीवित है, उपयोगी है, वह सही अर्थ में अतीत है भी नहीं । अतीत का अर्थ ही अनुपयोगिता है ।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से पूर्व मानवजाति चिरातिचिर काल से वन्य जीवन यापन करती आ रही थी । वह जीवन सभ्यता की दृष्टि से एक संस्कार हीन, प्रगति शून्य अर्ध-मानव सा जीवन था । प्रकृति से प्राप्त कन्दमूल, फल आदि पर ही जीवन-यात्रा चल रही थी । भोग तो था किन्तु भोग के लिए उत्पादन के रूप में श्रम एवं पुरुषार्थ जैसा कुछ नहीं था । और, जब भोग सामग्री का अभाव हुआ, दुष्काल पड़ा तो असहाय मानव प्रजा विनाश के कगार पर पहुँच गई । भगवान् ऋषभदेव ने तब उस अनुपयोगी हुई जीवन पद्धति को ध्वस्त किया, और योग्य कर्म एवं पुरुषार्थ के द्वारा जीवन संरक्षण एवं विकास की समयोचित शिक्षा दी, साथ ही दीक्षा भी । यदि भगवान् समय के परिवर्तन को न पहचानते, और पुरातन जीवन चर्या को बदलकर उसे युगानुरूप नया रूप न देते, तो आज धरती पर मानव-जाति का कोई चिह्न न रहता । अनन्तर समय-समय पर अन्य समागत युगनेताओं तथा महापुरुषों ने भी मानवजाति के उत्थान हेतु मानव सभ्यता की धारा को अनेक नये मोड़ दिए हैं । इतिहास को ध्यान में रखिए, मृत अतीत का, मृत परम्पराओं एवं मान्यताओं का, दुराग्रह पर

आधारित मोह छोड़िए, और जो वर्तमान तथा भविष्य के लिए उपयोगी आदर्श हों, उन्हें अन्तर्विवेक से परीक्षित कर आदर भाव से अपनाइए । पुरातन का संशोधन अपेक्षित है । आँख मूंद कर कुछ नहीं होना चाहिए । 'बुद्धे फलं तत्त्वविचारणं च ' का बोध-सूत्र आप के हर विचार और आचार के परीक्षण की कसौटी है । अतीत का उपयोगी अंश सुरक्षित रखिए, युगानुरूप अपेक्षा हो, तो नयी परंपराओं एवं मान्यताओं की स्थापना कीजिए । मैं नया वर्ष हूँ मुझे ताजगी चाहिए । समय की मार से अनुपयोगी हो जानेवाली बासी बातें मुझे कतई पसन्द नहीं हैं ।

स्पष्ट है, अब आपको पुरातन में नहीं, मुझ नये में जीना है । नये में ही सोचना है, समझना है, सांस लेना है, चलना है, घूमना है, खड़े होना है, कर्म करना है, ओर कृत कर्म का फल भोगना है । अतः अपने मन-मस्तिष्क को सृजनशीलता के पथ पर सक्रिय रखिए । कुछ ऐसा नया सोचिए, जो वर्तमान में से भविष्य की ओर जीवन-यात्रा करती हुई प्रजा के मंगल-कल्याण के लिए हो, किसी एक व्यक्ति का सबसे पृथक् अपना कोई वैयक्तिक हित नहीं है । हित ही नहीं, अस्तित्व भी नहीं है । सबके हित में ही सबका हित है, सबके अस्तित्व में ही सबका अस्तित्व है । समष्टि की दृष्टि से ही सोचिए, विचारिए, और कर्म कीजिए ।

अतीत के अनेक काल खण्डों से मानव, से कटकर अलग-थलग पड़ गया है । सामूहिक सुख-दुःख का, उत्थान-पतन का विचार ही भूल गया है । यही कारण है कि कभी धर्म के नाम पर, तो कभी जाति-वर्ण के नाम पर, कभी क्षुद्र क्षेत्रीयता के नाम पर, तो कभी प्रान्तीयता के नाम पर मानव एक-दूसरे से घृणा, विद्वेष करता रहा है, निरपराध स्त्री-पुरुषों का खून तक बहाता रहा है । यह संकीर्ण मनोवृत्ति मेरे यहाँ नहीं चलेगी । खबरदार, लूट-पाट, हत्या, अन्ध-विश्वास, कदाचार, छल-कपट, नारी जाति पर क्रूर अत्याचार, बलात्कार जैसे अपकर्मों से मुझे कलंकित किया, तो उसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे । इन काले कर्मों से किसी का भी भला नहीं है । अपने मन को उदात्त बनाये रखना, उसे दया, करुणा, प्रेम, सद्भावना, पारस्परिक रचनात्मक सहयोग आदि से रसस्निग्ध बनाए रखना । धरती को नरक बना दिया है तुम लोगों ने अतीत के कुछ वर्षों में । वह नरक अब ध्वस्त करना है, और धरती पर स्वर्ग उतारना है । स्वर्ग उतार लाना असंभव या अशक्य नहीं है । अपेक्षा है, प्रामाणिकता के

साथ जन-मंगल की दिशा में सत्कर्म करते रहने की । जीवन एक यात्रा है । यात्रा में कठिनाइयाँ, विघ्न-बाधाएँ आ सकती हैं । पर उनसे घबराइए नहीं, थककर बैठिए नहीं । आपका अदम्य धैर्य, सत्साहस, प्रगतिशील चिन्तन और विवेकयुक्त कर्म बना रहा, और आपके मन, वाणी और पुरुषार्थ का तेज अपराजित रहा तो, कुछ भी असंभव नहीं है । विघ्न बाधाएँ शीघ्र ही दूर होंगी, कांटे फूलों में बदलेंगे । जीवन महकेगा, धरती पर स्वर्ग उतरेगा ।

जनवरी १९८३

सिद्धगिरि वैभार का गरिमामय इतिहास

वर्तमान कालचक्र के चरम तीर्थंकर महाश्रमण महावीर, भारत की पुण्य भूमि पर विश्व के अनन्त ज्योतिर्मय आलोक रहे हैं, जिनके प्रकाश में लाखों-लाख नर-नारियों ने, अंधकार में भटकते व्यक्तियों से सही रास्ता पाया । महाप्रभु महावीर अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्ष तक निरन्तर ज्ञानामृत की वर्षा करते रहे । महाश्रमण महावीर की पीयूषवर्षी धर्म-देशना के लिए आचार्यों ने कहा है — “प्रभु की यह अमृत वाणी प्रारंभ में भी मंगलमय है, मध्य में भी मंगलमय है और अन्त में भी मंगलमय है ।” वस्तुतः प्रभु की दिव्य वाणी का एक-एक शब्द जीवन के लिए मंगलमय है । और वह सिर्फ वर्तमान जीवन के लिए, इस लोक के लिए ही नहीं, परलोक के लिए भी मंगलमय है, आनन्दमय है ।

भगवान महावीर अपने साधना-काल में और केवल ज्ञान होने के पश्चात् अर्हन्त अवस्था में बार-बार मगध की राजधानी राजगृह में आते रहे हैं । राजगृह अंचल के पन्द्रह वर्षावास में से ग्यारह वर्षावास राजगृह के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सिद्ध-पर्वत वैभारगिरि और उसकी उपत्यका में स्थित गुणशील उपवन के हैं, तीन नालन्दा के हैं और अन्तिम वर्षावास पावापुरी का है । यह वैभारगिरि पर्वत, जो आपके सामने विराट् रूप लिए खड़ा है, अपने में मंगलमय इतिहास की अनेक गौरवमयी गाथाओं को संजोये हुए है । इस पर्वत की विशाल उपत्यका में जिसमें आज आपका वीरायतन रूपायित हो रहा है, भगवान महावीर के समय में गुणशील उद्यान था । उसमें भगवान के अनेक समवसरण लगे हैं । इस पावन पर्वत के शिखरों पर एवं उसकी तलहटी में अभी तक महाप्रभु की वाणी का अमर ब्रह्मनाद गूँज रहा है । यह, वह दिव्य-नाद है, जिसे सुनने के लिए स्वर्ग से देवेन्द्र एवं देव-देवियाँ धरती पर उतर कर प्रभु चरणों में उपस्थित होते रहे हैं । पाताल लोक से धरणेन्द्र जैसे नागराज, चमरेन्द्र जैसे असुर आदि आते रहे हैं । धरती के अनेक सम्राट् और धनकुबेर श्रेष्ठी जनों से लेकर

(२२४)

झोंपड़ियों में रहनेवाले सामान्य जन, जंगलों में विचरण कर रहे वनवासी जन भी, उनके चरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पण करते रहे हैं । इस प्रकार तीनों लोक उनके चरण-कमलों में उपस्थित होते रहे हैं । वैदिक पुराणों के कथनानुसार जिस स्वर्ग को पाने के लिए बड़े-बड़े तपस्वी अपने आपको प्रज्वलित अग्नि में होम देते थे, गंगा की तेज-धारा में छलांग लगाकर अपने प्राणों का विसर्जन कर देते थे, हिमाद्रि आदि पवित्र पर्वतों के उत्तुंग शिखरों से कूदकर मौत के घाटियों में शरीर के खण्ड-खण्ड कर डालते थे । और ज्येष्ठ की भीषण गर्मी और तपती दुपहरी में महीनों तक सूर्य की प्रचण्ड अतापना लेते रहे थे तथा पंचाग्नि तप तपते रहे थे वही स्वर्ग इस पावन-धारा पर मंगलमय महाप्रभु के चरणों का स्पर्श कर अपने को धन्य मानता रहा है ।

अस्तु, सिद्धगिरि वैभार एवं उसकी उपत्यका में स्थित गुणशील उपवन की वह पवित्र पुण्य-भूमि है, महान् तीर्थ भूमि है, जिसकी यात्रा के लिए, जिसके दर्शन के लिए हजारों वर्षों से भक्तों का प्रवाह गंगा की धारा की तरह निरन्तर प्रवहमान रहा है, निष्ठा एवं श्रद्धा-भक्ति के साथ आता रहा है । भारत का कोई देश एवं प्रदेश भाग्येन ही ऐसा होगा, जहाँ से भक्त-गण श्रद्धा के प्रज्वलित दीप लिए यहाँ न पहुँचे हों । अनेक ऐसे भक्तराज भी यहाँ आये हैं जो अपने से दूर प्रदेशों एवं क्षेत्रों से यहाँ तक पैदल चलकर आये हैं । यह वैभारगिरि २३ तीर्थकरों के समवसरणों की शोभा से मण्डित रहा है । इस पर्वतराज को अतीत में श्री ऋषभदेव आदि २३ तीर्थकरों के चरण स्पर्श का सौभाग्य मिला है। यह पर्वत महाश्रमण महावीर की साधना और तप का पर्वत रहा है, और धर्मदेशना का पर्वत भी रहा है ।

महाश्रमण भगवान् महावीर साधना-काल में इस देवतात्मा वैभारगिरि के विशाल शिखरों पर एवं उसकी सप्तपर्णी गुफा में ध्यान-साधना में, आत्मचिन्तन में स्थित रहे हैं । साधना काल का आठवा वर्षावास इसी पर्वत तथा गुहा में गुजरा है, उसके पश्चात् केवलज्ञानी अर्हन्त होने पर वैभारगिरि एवं विपुलाचल के शिखरों पर उनके समवसरण लगे हैं, उनकी धर्म-देशना सुनकर हजारों व्यक्तियों ने अन्तर्-दृष्टि प्राप्त की है, जीवन को ज्योतिर्मय बनाया है इस सिद्धगिरि पर्वत पर । इसलिए यह भूमि सिर्फ भूमि ही नहीं है, यह पर्वत मात्र पत्थरों का ढांचा ही नहीं है । इसके कण-कण में पवित्र इतिहास की स्वर्णिम रेखाएँ सन्निहित हैं । हजारों साधु-साध्वियों की दीक्षा इसी पर्वत पर हुई है ।

भगवान महावीर के महामनीषी गौतम आदि ग्यारह गणधरों का निर्वाण स्थल भी यही गिरिराज है । राजगृह के धनकुबेर धन्ना तथा शालिभद्र के ज्योतिर्मय समुज्ज्वल इतिहास से आप परिचित हैं । इन दोनों युवकों ने अपरिमित वैभव एवं ऐश्वर्य का त्याग करके इसी वैभारगिरि पर्वत पर, महाप्रभु महावीर के चरणों में वीतराग-पथ पर कदम बढ़ाए थे । शालिभद्र का ऐश्वर्य कोई साधारण नहीं था । जैन-इतिहास साक्षी है, एक बार मगध सम्राट श्रेणिक शालिभद्र के भव्य प्रासाद में प्रविष्ट हुआ, तो सहसा असमंजस में पड़ गया कि वह अपने राज्य के एक नागरिक के प्रासाद में आया है या स्वर्ग में पहुँच गया है । ऐसे विपुल ऐश्वर्य एवं भोगों का त्याग धन्नाशालिभद्र ने जीवन की अन्तिम साँसों को गिनते समय, या यौवन के ढल जाने के बाद जर्जर बुढ़ापे में नहीं किया है, उन्होंने उसका त्याग खिलती तरुणाई में किया है ।

इसी पर्वत पर साकार हुई है श्रेष्ठी पुत्र जम्बूकुमार की अद्भुत प्रेरणादायक कथा । स्नेहमूर्ति ममतालु माँ के मन को रखने के लिए आठ अप्सरोपमा कन्याओं के साथ विवाह करके, और दहेज में अपार सम्पत्ति लेकर घर आया है । पूरे मगध देश में, राजगृह में उसके विवाह और दहेज की चर्चा है । दहेज में मिले अपार धन-वैभव की बात सुनकर उस समय के दस्युराज प्रभव का मन ललचा उठा और वह अपने पाँच सौ खूँखार दस्यु साथियों को लेकर जम्बू के भव्य भवन में आ घमका । प्रभव वह दस्युराज है, जिसे मगध सम्राट की सेना वर्षों के प्रयत्न के बाद भी परास्त एवं समाप्त नहीं कर सकी । वही दस्युराज जम्बू के त्याग-वैराग्य की उच्चतम निष्ठा एवं ज्ञान-ज्योति से आलोकित जीवन से प्रभावित होकर स्वयं उसके चरणों में झुक गया और अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर दिया । इतना ही नहीं, उसके पाँच सौ साथी भी दुष्कर्मों को छोड़कर जम्बू के चरणों में समर्पित हो गए । महाश्रमण भगवान महावीर की धर्म-देशना एवं गणधर सुधर्मा की वाणी का प्रकाश जम्बू के अन्तर् में जगमगा रहा था । उस ज्योति का पुण्य स्पर्श पाकर अन्धकार में भटकते दस्युराज प्रभव एवं उसके साथियों की अन्तर्ज्योति प्रज्वलित हो उठी । और जम्बू की आठ पत्नियों, उनके माता-पिता तथा अपने माता-पिता के जीवन में भी त्याग-भाव की, साधना की ज्योति प्रज्वलित हो गई । एक ज्योतिर्मय आत्मा में ऐसी दिव्य ज्योति प्रज्वलित हुई कि उसने अपने सम्पर्क में समागत ५२७ व्यक्तियों के जीवन को ज्ञान ज्योति से प्रज्वलित कर दिया ।

(२२६)

श्रेष्ठी पुत्र जम्बू के वैराग्य के सम्बन्ध में एक रूपक दिया जाता है — जैसे किसी वृक्ष की सघन एवं शीतल छाया में विश्राम कर रहा यात्री जब तक बैठा है तब तक छाया का आनन्द ले रहा है, और जब उसे छोड़कर यात्रा-पथ पर कदम बढ़ा देता है, तब उसके मन में वृक्ष के प्रति कोई आसक्ति नहीं रहती, किसी तरह का लगाव नहीं रहता । इसी प्रकार जम्बू के अन्तर्-मन में अध्यात्म-साधना की ज्योति जगी, अपने लक्ष्य पर पहुँचने की भावना जागृत हुई, तो वह तत्काल अपार वैभव एवं ऐश्वर्य छोड़कर अध्यात्म-साधना के पथ पर बढ़ चला । उनकी इस यात्रा ने अनेक सुषुप्त व्यक्तियों के जीवन को जागृत किया है, उन्हें साधना-पथ पर बढ़ने की प्रेरणा एवं स्फूर्ति दी है । और-तो-और, दस्युराज प्रभव, जिसके आतंक से राजगृह ही नहीं, पूरा मगध काँपता था और सम्राट श्रेणिक स्वयं चिन्तित था, जम्बू के साथ अपने पाँच सौ साथियों को लेकर चल पड़ा गणधर सुधर्मा के चरणों में दीक्षित होने । इसी वैभारगिरि के पावन शिखरों पर प्रभव की अन्तर्-यात्रा प्रारम्भ हुई । यह उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण मोड़ था । भगवान महावीर ने तो इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रबुद्ध एवं विद्वान मनीषियों को बोध दिया था, दीक्षित किया था । परन्तु आर्य जम्बू ने तो सब ओर धूल उड़ते जीवन के रेगिस्तान में करुणा, अहिंसा एवं क्षमा की सरिता बहा दी । जहाँ मद्य, मांस, चोरी, लूट-पाट, हिंसा, मानव-हत्या तक करना साधारण बात थी, वहाँ प्राणीमात्र के प्रति करुणा की धारा बह निकली, सदाचार की ज्योति प्रज्वलित हो गई । जम्बू के ज्योतिर्मय जीवन-स्पर्श से प्रभव का जीवन ज्ञान की ज्योति से आलोकित हो गया और यही प्रभव आर्य जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी युग प्रधान, श्रुत-केवली आचार्य बना । कितनी अद्भुत एवं विलक्षण जीवन-गाथा है आचार्य प्रभव की, दस्यु के रूप में शुरू हुआ जीवन महान ज्योति-पुरुष जम्बू के सम्पर्क से एक अध्यात्मयोगी प्रतिभासम्पन्न महान आचार्य के रूप में परिवर्तित हो गया ।

हाँ तो, यह वैभारगिरि पर्वत भगवान महावीर के जीवन की ज्योतिर्मय गाथाओं से गौरवान्वित रहा है । इस पर्वत के शिखरों पर एवं इसकी उपत्यका में जैन-परम्परा का गरिमामय इतिहास अंकित है । सिद्धगिरि वैभार की पुण्य-भूमि में वीरायतन, पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के उस प्राचीन इतिहास को पुनः साकार रूप दे रहा है (**History repeats again**) । वह प्राचीन इतिहास, जो सुप्त पड़ा था, जिसे जनता भूल चुकी थी, वीरायतन के माध्यम से पुनः जागृत हो रहा है । सेवा, शिक्षा एवं साधना के द्वारा अनन्त ज्योतिर्मय महाप्रभु की दिव्य धर्मदेशना को क्रियान्वित किया जा रहा है ।

यदि आप इतिहास की गहराई में उतरकर देखेंगे, तो मगध, अंग, विदेह, लिच्छवी, गणतन्त्र आदि तात्कालिक नामों से पहचाना जानेवाला भूभाग हजारों जैन साधु-साध्वियों एवं बौद्ध-भिक्षुओं के सत्य-अहिंसा के प्रचार के लिए किए जाने वाले विहार (यात्रा) के कारण बिहार नाम से प्रसिद्ध हुआ । परन्तु, आज सिर्फ नाम की ऐतिहासिकता रह गई है । आज एक भी बिहारी नहीं मिलेगा, जो जैन हो या बौद्ध हो । प्राचीन युग की सारी स्मृतियाँ लुप्त हो गई । यहाँ महाश्रमण महावीर का इतिहास भी सो गया और तथागत बुद्ध का भी । वीरायतन उन सुप्त स्मृतियों को उजागर करने का संकल्प लेकर आगे बढ़ रहा है। सेवा एवं साधना के माध्यम से उसने काफी प्रगति की है और वह निरन्तर आगे बढ़ रहा है — भगवान महावीर के ज्योतिर्मय दिव्य-सन्देश की ज्योति को जन-जन के मन में जगाने के लिए, जन-जन के मन में विश्व-बन्धुत्वं एवं मैत्री-भाव तथा अहिंसा की ज्योति जगाने के लिए ।

जनवरी १९८३

अहिंसा : एक अनुचिन्तन

महाश्रमण भगवान् महावीर की धार्मिक एवं दार्शनिक भाषा में अहिंसा 'भगवती' है । आज भी यह दिव्य वचन 'प्रश्न-व्याकरण' नामक दशम अंग श्रुत में देखा जा सकता है । भारतीय एवं जैन-दर्शन के स्वर्णिम क्षितिज के महान् प्रभाकर सूर्य आचार्य श्री समन्तभद्र महाप्रभु के उक्त दिव्य वचन को शब्दान्तर में अवतरित करते हुए अहिंसा को 'पर ब्रह्म' कहते हैं - " अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।"

अहिंसा साधना का आदि व्रत है । इसलिए कि इसी पर सत्य आदि अन्य सभी व्रत आधारित हैं । यह सभी नियमोपनियमों की आधारशिला है । अहिंसा से अनुप्राणित होने पर ही सत्य आदि व्रतों में व्रतत्व है । अहिंसा की दिव्य-भावना से रिक्त सत्य न सत्य है, न अचौर्य अचौर्य है, न ब्रह्म ब्रह्म है, और न अपरिग्रह अपरिग्रह है । अहिंसा मूल है, व्रत-साधना रूप कल्पवृक्ष का । अतः मूल नहीं, तो स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि के रूप में वृक्ष का अस्तित्व ही कहाँ रहता है । " मूलं नास्ति कुत शाखा ? नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम् ।" स्पष्ट है - अहिंसा में सभी व्रत निहित हैं । अहिंसा की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ही व्याख्या रूप हैं अन्य व्रत । लोकोक्ति है - हाथी के पैर में सभी पैर हैं- सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नः । अहिंसा महत्ता, व्यापकता एवं विराटता की दृष्टि से सब व्रतों को अपने में समाहित करने वाला 'हस्तिपद' है ।

अहिंसा जितनी महान है, विराट् है, उतना ही उसका स्वरूप भी विचार की व्यापक दृष्टि से विचारणीय है । अहिंसा के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक प्रश्न-पर-प्रश्न उठते रहते हैं, और वे परस्पर उलझते भी रहे हैं । इन्हीं उलझते प्रश्नों में से वैदिक, बौद्ध आदि परम्पराओं में यथाप्रसंग अनेक मत-मतान्तर प्रचार एवं प्रसार पाते गए । अहिंसा का सर्वतोमहान सूत्रधार जैन-धर्म भी अहिंसा के प्रश्न पर विघटन से अछूता नहीं रहा है । उसमें भी

अनेक मत-मतान्तर अहिंसा की मीमांसा में से ही पल्लवित हुए हैं । अनेक मत भूतकाल में उद्भूत हुए और महाकाल में विलीन हो गए । उनमें से कुछ बचे हुए आज भी विद्यमान हैं और वे अहिंसा के प्रश्न पर किस प्रकार परस्पर कलहायमान हैं, यह सर्वसाधारण जनता की आँखों के सामने है ।

जीवन की अनेक वृत्तियाँ हैं, तदनुसार अनेक प्रवृत्तियाँ हैं । एक पक्ष जिस प्रवृत्ति में अहिंसा देवी के दर्शन करता है, दूसरा पक्ष उसी में हिंसा की क्रूर राक्षसी को देखता है । एक पक्ष जिसमें हिंसा का नग्न रूप देखता है, उसी में दूसरा अहिंसा के दिव्य रूप का अवलोकन करता है । विचित्र स्थिति है लोकजीवन की और धर्म-जीवन की भी । धार्मिक क्रिया-काण्ड भी इस विवाद से अस्पृष्ट नहीं हैं । एक पक्ष अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में जिस क्रिया-काण्ड को, उपासना को या साधना को धर्म मानता है, उपादेय मानता है, दूसरा पक्ष उसे ही हिंसा के परिप्रेक्ष्य में अधर्म एवं अनाचरण मानकर सर्वथा हेय अर्थात् त्याज्य मानता है । साधारण जन ही नहीं, उच्चकोटि के विद्वान के रूप में सुप्रसिद्ध मनीषी भी अहिंसा और हिंसा की परस्पर विरोधी मान्यताओं के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की भाँति घिरे हुए हैं । उन्हें यथार्थ की दिशा में तटस्थ भाव से बाहर निकलने का कोई द्वार नहीं मिल रहा है ।

उपर्युक्त रूप में हिंसा और अहिंसा का प्रश्न जो उलझ रहा है, उसका कारण है, द्रव्य और भाव की सही स्थिति को न समझना । हिंसा हो या अहिंसा, अपने मूल रूप में वह मन का, अन्तश्चेतना का एक भाव है । किसी को पीड़ा देने का या मार डालने का विचार, भाव हिंसा है और किसी को सुख पहुँचाने का या बचाने का भाव, भाव अहिंसा है । और, बाहर में व्यक्ति के द्वारा किसी प्राणी का उत्पीड़न हो जाना या मर जाना अपने में द्रव्य हिंसा है और किसी का बच जाना एवं सुखी हो जाना द्रव्य अहिंसा है । द्रव्य और भाव दोनों में भाव की ही प्रधानता है । ज्ञानी हो या अज्ञानी, प्रत्येक प्राणी निश्चय नय की दृष्टि से मूलतः अपने भावों का ही कर्ता है, और अपने भावों का ही भोक्ता है । बाह्य पदार्थों का या परिस्थितियों का कर्ता और भोक्तापन व्यवहार है, निश्चय नहीं । एक छोटे-से उदाहरण के द्वारा उक्त स्थापना को सही रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है । आप एक अति-मधुर फल या मिष्ठान्न का भोजन कर रहे हैं । जब आपका मन भोजन के क्षणों में भोजन की वृत्ति में होता है, तो आपको

भोजन के माधुर्य का स्वाद अनुभूति में आता है । और, यदि आपका मन भोजन करते समय अन्य किसी चिन्तन में लग गया है, तो आप भोजन करते हुए भी भोजन के अभीष्ट स्वाद का अनुभव ही नहीं कर पाते । यदि आप यथार्थ में सचमुच ही पदार्थ के कर्ता और भोक्ता होते तो, भोजन काल के हर क्षण में आपको भोजन के स्वाद का पता लगना चाहिए था । पता लग नहीं रहा है, अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व बाहर में नहीं, अन्दर में है । यही बात स्वप्नजगत् पर से भी प्रमाणित होती है । स्वप्न में जड़ या चेतन जैसे कोई पदार्थ या व्यक्ति उपस्थित नहीं होते । वहाँ समग्र सृष्टि भाव की होती है । उसी भाव-सृष्टि से सुख-दुःख आदि का भोग होता रहता है । स्वप्न का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व स्वप्न-द्रष्टा व्यक्ति की भाव-धारा में ही सन्निहित है । पाप, पुण्य, बन्ध, मोक्ष भी भावना के ही रूप हैं । महाप्रभु भगवान महावीर का आचारांग सूत्र में इसी सन्दर्भ में एक बोध वचन है — “ अज्ज्ञत्थेव बन्धप्पमोखो ।” व्यक्ति का बन्ध और मोक्ष व्यक्ति के अन्दर में ही है, बाहर में नहीं । इसी भाव को एक अन्य विचार सूत्र में यों अंकित किया गया है— “ परिणामे बन्धः, परिणामे मोक्षः ।” व्यक्ति के अपने स्वयं के आन्तरिक परिणाम में अर्थात् भाव में ही बन्ध और मोक्ष है । इसीलिए धार्मिक परम्पराओं में चित्त-शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया है । वैदिक परम्परा के अध्यात्मवादी ऋषि का यह बोध सूत्र भी भाव-पक्ष की महत्ता को ही प्रमाणित करता है — “ मनएव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।” मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का हेतु है । बौद्ध दर्शन तो भाव-पक्ष पर बल देनेवाला एक महान सर्वविदित दर्शन है ही । भगवान बुद्ध का ‘धम्मपद’ में वचन है — “ मनो पुव्वंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया” जितने भी शुभ या अशुभ धर्म अर्थात् कर्म हैं, वे सर्व प्रथम मन में ही जन्म लेते हैं, अतः मन ही मुख्य है । व्यक्ति का अच्छा-बुरा सब-कुछ मनोमय है । भारत के तत्त्व-द्रष्टा ऋषियों ने मनुष्य शब्द का निर्वचन ही मन के आधार पर किया है — “ मननात् मनुष्यः ।” अर्थात् जो मन से मनन, चिन्तन करता है, वह मनुष्य है । जैन-दर्शन में चेतना की अशुभ, शुभ और शुद्ध नामक तीन ही स्थितियाँ हैं और वे उपयोग हैं, अर्थात् भाव हैं । इसीलिए उन्हें अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की सार्थक संज्ञा से अभिहित किया गया है । हिंसा, असत्य, चौर्य आदि तथा क्रोध, मान आदि वृत्तियाँ अशुभोपयोग हैं, पापाश्रव हैं । इसके विपरीत दान, दया, सेवा, परोपकार आदि की सूक्ष्म रागात्मक वृत्तियाँ शुभोपयोग हैं, पुण्याश्रव हैं । और इन दोनों से भिन्न राग-द्वेष-मुक्त, सर्वथा वीतराग भावरूप शुद्ध-चेतना, शुद्धोपयोग है । किंबहुना, सारा खेल मन का है, भाव का

है । अच्छा-बुरा जो भी कुछ है, वह मन है । मन से ही तन का मूल्यांकन है । वृत्तियाँ ही प्रवृत्तियों के अच्छे-बुरे पन की परख-कसौटी है । अतः हिंसा और अहिंसा के प्रश्नों का यथार्थ समाधान भी मुख्यतः भाव में है ।

एक व्यक्ति किसी को मारने का विचार करता है, हत्या का आयोजन करता है, परन्तु वह मरता नहीं है, बच जाता है । इस प्रसंग में बाहर की हिंसा तो न हुई । तो प्रश्न है कि मारने का विचार तथा आयोजन करने वाले व्यक्ति को हिंसा का पाप लगा या नहीं ? एक मुख से सभी शास्त्रकारों, विचारकों का उत्तर है कि यहाँ हिंसा हुई है और व्यक्ति को उसके मारक भावों के अनुरूप तीव्र या मन्द पाप-कर्म का बन्ध हुआ है । आपका अन्तर्मन भी सूक्ष्म चिन्तन के घरातल पर यही साक्षी देता है । यही क्यों, कभी-कभी तो विचित्र ही परिणाम आ जाते हैं । मारने के विचार हैं, तदर्थ विष आदि का प्रयोग किया है और प्रसंगवश वह व्यक्ति किसी ऐसे रोग से ग्रस्त था, जो विष-चिकित्सा से ही ठीक हो सकता था । फलतः मरने के बजाय बच गया, बच गया ही नहीं, स्वस्थ भी हो गया । वह विष देनेवाले व्यक्ति को हजार-हजार साधुवाद एवं धन्यवाद देता है । बताइए यहाँ मारने के इरादे से विष देने वाले व्यक्ति को क्या हुआ ? पाप हुआ या पुण्य ? बाहर में भले ही पुण्य हुआ-सा लगता है, परन्तु अन्तरंग में एकान्त रूप से पाप का ही बन्ध हुआ है । पुण्य का यहाँ कुछ भी अंश नहीं है । क्यों नहीं है, इसलिए कि मारक व्यक्ति का तो मारने का ही भाव था । बचने वाला या स्वस्थ हो जाने वाला व्यक्ति अपने आयु-कर्म के उदयाधीन बचा है और विषप्रयोग होने पर भी जो मरने के बदले स्वस्थ हुआ है वह अपने सुख हेतुक सात-वेदनीय कर्म के उदय के कारण हुआ है । स्पष्ट है, यह हिंसा-अहिंसा और तज्जन्य पाप-पुण्य सब भाव की लीला है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति किसी प्राणी को बचाने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में आयु निःशेष हो जाने के कारण वह बचता नहीं, अपितु मर जाता है । उदाहरण है, एक योग्य भावनाशील डाक्टर किसी मुनि का बिना किसी लोभ के मात्र भक्ति प्रेरित होकर ऑपरेशन करता है, किन्तु सावधानी रखते हुए भी भूल से कोई नस ऐसी कट जाती कि रक्त प्रवाह बन्द नहीं होता, फलतः मुनि की मृत्यु हो जाती है । यहाँ डाक्टर को पुण्य का बन्ध माना जाए, या पाप का ? निश्चित ही पुण्य का बन्ध है । भले ही बाहर में मृत्यु हुई है उसके निमित्त से, परन्तु डाक्टर के अन्तर्मन में बचाने के भाव हैं,

मारने के नहीं । इसलिए यह बाहर में हिंसा होते हुए भी अन्दर में अहिंसा और तज्जन्य शुभाश्रव है तथा अशुभ की निर्जरा का क्षेत्र है ।

एक व्यक्ति प्यास से मर रहा है । दो घूँट पानी न मिले तो मर ही जाए । इसी समय करुणा से द्रवित कोई व्यक्ति उसे एक गिलास पानी पिला देता है । फलस्वरूप वह बच जाता है । पानी की नन्हीं-सी फुहार तक में असंख्य जलीय जीव होते हैं, अनन्त निगोद के भी प्राणी हैं । जलाश्रित दृष्टिगोचर न होने वाले अनेक कीटाणु रूप त्रस जीव भी होते हैं । इतने जीवों की हिंसा होने पर भी इस अशुभ में शुभत्व कहाँ से आता है, हिंसारूप पाप क्रिया में भी पुण्य कैसे हो गया ? इसलिए हो गया कि पानी पिलाने का भाव जलीय तथा अन्य जीवों को मारने का नहीं, अपितु प्यासे को अनुकम्पा भाव से बचाने का है । पुण्य-पाप की सृष्टि व्यक्ति के शुभाशुभ भावों की नींव पर निर्मित होती है ।

एक व्यक्ति क्रोध में है, वैर-विरोध के तीव्र दुर्भावों में है । अपने विरोधी को मार तो नहीं रहा है, किन्तु मुख से अनर्गल बोल, बोल रहा है । कह रहा है, मैं तुझे कच्चे को खा जाऊँगा, तेरी टांग तोड़ दूँगा, तेरी जीभ खींच लूँगा । यह सब क्या है ? बाहर में प्राण-वधरूप हिंसा न होते हुए भी मन और वाणी की क्रूरता से हिंसा ही है । हर प्रमत्त योग हिंसा है । प्राण-व्यपरोपण मात्र हिंसा नहीं है । प्रमत्त योग की स्थिति में किया गया प्राण-व्यपरोपण हिंसा है । प्राण-व्यपरोपण प्राण-हरण भले ही परिस्थिति विशेष से न भी हो, यदि अकेला प्रमत्त-योग है, क्रोध आदि का वैर-विद्वेषात्मक भाव है, तो वह हिंसा की कोटि में आ जाता है । अतएव आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा की अतीव सटीक व्याख्या करते हुए एक सूत्र उपन्यस्त किया है — “ प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । ” प्रमत्त योग से किया गया प्राण-वध ही हिंसा है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा और अहिंसा में सिर्फ प्राणियों के प्राणों का नाश होना या प्राणों का नाश न होना मुख्य नहीं है, मुख्य है प्रमत्त और अप्रमत्त-भाव । विवेक के प्रकाश में यतना पूर्वक किया गया कार्य अहिंसा है और अविवेक एवं अयतना से किया गया कार्य हिंसा है ।

लेख विस्तृत होता जा रहा है, इधर समय कम है । अतः विराम दे रहा हूँ लेख को । यों तो ज्ञातव्य एवं मीमांसा योग्य बहुत-कुछ है । चिन्तन की
(२३३)

कोई खास प्रतिबद्ध सीमा नहीं है । फिर भी ऊपर की पंक्तियों में अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध में जो भावात्मक पक्ष पर विवेचन किया है, वह प्रस्तुत में अहिंसा पर स्पष्टता से काफी प्रकाश डाल देता है ।

जीवन-यात्रा में व्यवहार का भी काफी महत्त्व है । उसे सर्वथा ही अपदस्थ कर देना, लेखन का उद्देश्य नहीं है । उद्देश्य है भावात्मक निश्चय दृष्टि की तुला पर व्यवहार की उपादेयता एवं अनुपादेयता को तोलना, परखना । निश्चय के अभाव में व्यवहार व्यवहार नहीं, मात्र व्यवहाराभास रह जाता है । अतः गमन-आगमन, भोजन, स्व-पर-हित में किए अन्य निर्माण कार्य, किसी आवश्यक वस्तु का उठाना-रखना, शयनाशन, बोलना, लिखना-पढ़ना आदि कोई भी कार्य हो, यदि वह विवेक के प्रकाश में यतना की भावना से किया जाता है, तो वह साधक के लिए निरन्तर अहिंसा की ही साधना है, उपासना है । हर कर्म की पृष्ठभूमि में विवेक एवं यतना का सम्यक्-प्रकाश अपेक्षित है ।

फरवरी १९८३

साध्वियों की पद-यात्रा

साधु-साध्वियों द्वारा वाहन प्रयोग के सम्बन्ध में आपके विचार अवगत हुए । अभी निकट में साधुओं द्वारा रोगादि कारण सापेक्ष वायुयान एवं कार आदि की अनेक यात्राएँ हुई हैं । आपके तथाकथित श्रमण संघ में भी । वैसे वाहन-यात्रा क्या है और उससे क्या हानि या लाभ है, इस पर गहराई तक विचार करने की अपेक्षा है । प्राचीन आचारसूत्र आचारांग आदि आगमों में कहाँ हैं शब्दशः वाहन का निषेध, यह तलाशना है । क्या नौकाएँ वाहन नहीं हैं ? जिनका उपयोग तीर्थंकर काल से होता आ रहा है । वह भी बिना किसी विशेष कारण के । भगवान महावीर द्वारा बार-बार गंगा पार करने में रोगादि या तथाकथित उपद्रव आदि अन्य कोई कारण मिला नहीं है । मिला हो, तो शीघ्र ही समाज के गद्दीनशीन गुरुजनों से मालूम कर लीजिए । प्राचीनकाल के लब्धि प्रयोग से व्योम-विहार करने वाले मुनि, कहाँ पादविहारी थे ? पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज और पूज्य श्री मुन्नालालजी महाराज जैसे उत्कृष्ट संयमी डोली से वर्षों ही ग्रामानुग्राम विहार करते रहे हैं । क्या डोली वाहन नहीं है ? यह तो पुरातन युग से ही राजा-रानी, श्रेष्ठी और दुल्हा-दुल्हन आदि की शानदार सवारी रही है । इस पर तो दीक्षार्थियों की भी शोभा-यात्राएँ निकलती रही हैं । आज भी श्रमण-संघ के महान आचार्य, वर्षों हो गए, डोली से लंबे विहार कर रहे हैं । डोली साधु उठाते हैं, इससे क्या ? कोई भी उठाए, डोली के वाहन होने में क्या फर्क पड़ता है ? यदि कुछ फर्क पड़ता है तो शीघ्रगामी यांत्रिक वाहन में भी वह पड़ सकता है । डोली में साधु के विहार करने का कहाँ विधान है, जरा बताएँ तो सही ? क्या इसमें सुविधाभोग का भाव नहीं है, जिसका कि आपने वाहन की चर्चा में जिक्र किया है ? जिस साधुसाध्वी के पास शिष्यादि नहीं हैं, बताइए, वह क्या करे ? क्या सत्ताधारी बड़े लोग ही यह सब लाभ उठाने के लिए हैं, साथ ही सुविधाभोगी बनकर भी उग्र क्रिया-काण्डी के रूप में जय-जयकार पाने के लिए हैं । समाज का नया मस्तिष्क आज गणित लगाने

लगा है, अन्दर ही अन्दर । जरा समय आने दीजिए । विस्फोट होने में कुछ ही देर है ।

पाद-विहार से धर्म-प्रचार होता है, या हुआ है, आपकी यह बात परख पर ठीक नहीं उतर पा रही है । क्या प्रचार हुआ है ? जैन-धर्म का जन-संख्या की दृष्टि से निरन्तर द्वास ही होता आ रहा है । इसका एक कारण है, ठीक तरह जनसंपर्क ही नहीं हो पाता है, इन तथाकथित विहारों से । सुदूर गान्धार और ब्रह्मदेशवर्मा आदि से सिमटते-सिमटते जैन धर्म भारत के बीच के कुछ प्रदेशों में ही सीमित हो गया है । क्यों ? क्योंकि अनजान दुर्गम प्रदेशों की लम्बी पद-यात्राएँ भिक्षु-भिक्षुणी सहन नहीं कर पाए । गाँवों की सर्व-साधारण जनता में भिक्षु क्यों न रह सके ? इसलिए कि वहाँ का साधारण रहन-सहन एवं खान-पान रास नहीं आया उन पुराने आपके उग्र-क्रिया-काण्डी, साथ ही सुविधा-भोगी साधु-साध्वियों को भी । व्यापारी संपन्न वर्ग है । बस, अच्छे रहन-सहन और खान-पान की सुविधा के लोभ में, आज के ही नहीं, आपके पुराने महारथी भी सिमटते-सिमटते पहुँच गए सर्वसाधारण जनता को छोड़कर सेठों के रंग महलों में। पाद-विहार के कुछ कष्ट ही थे ऐसे, जिनसे कि जैन साधु सर्व-साधारण जनता में अपने पैर न जमा सका, न बढ़ा सका । अपनी ही बात कहता हूँ, सन १९६२-६३ में मैं उड़ीसा, बंग, उत्तरी बिहार, और पूर्वी उत्तरप्रदेशों के सैकड़ों गाँवों में घूमा हूँ । सैकड़ों ही लोगों से मद्य-मांस का त्याग कराया है, उनको नमस्कार मंत्र, जैनत्व का बोध दिया है, पर अब क्या है वहाँ ? मुझे कुछ पता नहीं । दुबारा कहाँ छू सका हूँ उन क्षेत्रों को । दूसरा भी कोई साधु वहाँ नहीं पहुँच पाया । पाद-विहारी साधु सुदूर प्रदेशों को बार-बार स्पर्श भी कैसे कर सकता है । भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक एकबार आनेजाने में ही जीवन का अधिकांश काल समाप्त हो जाता है। बताइए, क्या धर्म-प्रचार होता है इस तरह, जिसकी आप और आपके साथी वकालत करते हैं ?

विदेशों में हमारा प्रचार क्यों न हुआ ? क्योंकि हमारा आचार दूसरों से बहुत उत्कृष्ट था । यह कोरी अहंलिप्त लप्फाजी के सिवा क्या है ? यों कहिए कि पाद-विहार के कारण प्रतिदिन यात्रा में आनेवाले कष्टों को सहन करने की क्षमता नहीं थी, उन भिक्षुओं में भी । बहाना कुछ भी बनाएँ, उससे यथार्थ का अपलाप नहीं हो सकता । विदेश तो दूर, भारत के ही अनेक सीमावर्ती भाग हमसे अस्पृष्ट रहते आए हैं चिर अतीत से । ऐसा क्यों ? क्या यहाँ भी आचार की उत्कृष्टता बाधक रही है । जहाँ जैन-धर्म का एक समय विशाल साम्राज्य

रहा है । अंग-बंग, कलिंग, मगध असम आदि में वहाँ से क्यों भाग खड़े हुए हम ? दुष्काल पड़ते रहे, इसलिए न ? स्पष्ट है, भूखे पेट ने सारा टाट उलट दिया। विरोधी राजाओं के आक्रमणों ने भी । साफ बात है, शरीर से परे विचरने का सिद्धान्त बघारने वाले अध्यात्मवादी त्यागी वर्ग को भी, जिजीविषा ने मृत्यु भय से कातर बना दिया और अपने जिरागत मूल केन्द्र से, जन्मभूमि से उसे भगा दिया । कोई कब तक जीवन और उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं को अहं भरे मन से नकारता रहेगा । पाद-विहार एक समस्या है, जैन-धर्म के लिए । दीन-हीन स्थिति में भूखे पेट गाँव-गाँव में घूमना, भला किसे रास आयेगा। कहाँ है आदर उन अनजान गाँवों में, घरों में, जैन-भिक्षुओं का ? आदर या निरादर के कष्ट एवं पीड़ा के प्रश्न उपेक्षित भी किए जा सकते हैं, उपेक्षित किए भी हैं, पर उनकी कोई उपलब्धि भी तो होनी चाहिए । इतिहास साक्षी है, अब तक इन से क्या कुछ मिला है जैन-धर्म को ? मिला कुछ नहीं । खोया ही है और वह भी साधारण नहीं, असाधारण ।

आपने वाहन-यात्रा के कारण साधु-समाज का, समाज और देश में जो आदर और श्रद्धा है, उसे खो देने की बात की है । मैं पूछता हूँ साधारण जन-समाज में और देश के अनेक प्रदेशों में आपका यह तथाकथित आदर कहाँ है? क्या चन्द निमन्त्रित नेता और सम्बन्धित अन्य समाज के लोग आपके मुख पर आपकी प्रशंसा करके चले जाते हैं, यही वह आदर है ? क्या आप अनुभव नहीं करते, यह केवल सामने की मुख-मंगलता है, आज का हृदय से दूर सिर्फ दिखावे का शिष्टाचार है । ये ही लोग पीठ पीछे आपकी मुख-वस्त्रिका, केश-लोच का, शौचादि क्रियाओं का भद्दा मजाक उड़ाते हैं । परोक्ष में कोई आपका आदर से नाम तक नहीं लेता । गत १५ अगस्त को ही प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने, जो आपकी सभाओं में प्रायः आपकी प्रशंसा करती रहती हैं सर्वप्रथम भगवान बुद्ध को याद किया और सीधे गुरु नानकजी आदि की ओर ढल गई । बीच में भगवान महावीर का नाम तक नहीं लिया गया । राष्ट्रपति भवन में विराजित बुद्ध प्रतिमा की तो गौरव-चर्चा की भारतीय आकाशवाणी ने, किंतु महावीर की कहीं चर्चा नहीं । आपकी यह देश में आदर की बात, महज अपने भोले मन की खुशफहमी है और कुछ नहीं । गाँवों में जैन-साधु की क्या स्थिति होती है, आपको पता है ? जो पथ बराबर साधुओं के आनेजाने के हैं, उन्हें छोड़ दीजिए । पथ छोड़कर थोड़ा भी इधर-उधर जन-पद में जाइए पता चलेगा, क्या आदर है? क्या श्रद्धा है ? पचासों वर्षों से मैं सुनता आया हूँ-क्यों भीख माँगने पर कमर

बाँध रखी है, कमाकर नहीं खाया जाता ? मुँह बाँध लिया, पेट नहीं बाँधा गया । आया कहीं का साधु ! आपके राजस्थान के ही परिचित गाँवों की चर्चा की है कविता में एक पुराने जैन मुनि ने । भोजन माँगने पर जो उत्तर मिलता है वह उसी अनुभवी के शब्दों में ' म्हां के कांई माथे मांगो घर जावो ओसवाल के ।' यह है देश की ओर का आदर । सन् १९७४ में आगरा से राजगृही तक उत्तर-प्रदेश और बिहार में जिन साधारण गाँवों से मैं गुजरा हूँ, यही प्रश्न पूछे जाते रहे हैं-कौन हैं आप ? किस देश के हैं ? महावीर कौन है ? मुँह क्यों बाँधा है ? और भी कितने अभद्र प्रश्न । और मेरे मुँह से तब सहसा एक बोल निकल पड़ता ' अरे अपने ही देश में, अपनी ही जन्म-भूमि में इतने अपरिचित !' इस अपरिचितता का दोष किस पर ? जनता पर या हम पर ?

आज के बदलते युग मानस में पाद-विहार या वाहन जैसा कोई खास प्रश्न नहीं है । उसकी जिज्ञासा कुछ और है, उसकी समस्या कुछ और है। आपके धर्म के पास उसका शब्दों के सिवा कोई और कारगर समाधान है या नहीं? जाने माने विद्वानों की पाठ्य पुस्तकों के रूप में मान्य अनेक पुस्तकों में पढ़ा है जैन धर्म व्यवहार्य नहीं है । वह आज के युग में व्यवहार्य आचार संहिता कैसे और क्या दे सकता है । बंगाल आदि कुछ प्रदेशों में तो मारवाड़ियों के गुरु के रूप में घृणा के साथ हम जैन साधुओं का परिचय दिया जाता है । आज हम एक तरह काले और चोर बाजारी शोषक वर्ग के साथ जोड़ दिए गए हैं । जन-मानस में कोई श्रद्धा नहीं, कुछ अपवादों को छोड़कर । आदर और श्रद्धा के नैतिक मानदंड कुछ और हैं । ये नहीं, जिन्हें आप मान रहे हैं । यदि ये ही आदर और श्रद्धा के मूलाचार होते, तो श्री कानजी स्वांमी आप में से ही निकलकर, आपके ही हजारों परिवारों को तोड़कर, वाहन विहारी होते हुए भी श्री गुरुदेव के रूप में समादर न पाते, पूजे न जाते । लगता है समाज साधु से कुछ और अपेक्षा रखता है, जिसकी हम ठीक तरह से पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं । कोई भी धर्म हो, सम्प्रदाय हो, गुरु हो, साधु हो, क्रियाकाण्ड हो, उसमें तेजस्विता चाहिए, चमकता हुआ ऊर्जस्वल व्यक्तित्व चाहिए । इसके अभाव में आपके स्थानकवासी समाज के ही अनेक साधु और साध्वी साधारण-सी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी हैरान, परेशान होते देखे हैं । आपका तथाकथित पाद-विहार अर्थात् अवाहन आदि का आचार पालते रहे हैं, फिर भी कुछ नहीं है समय पर उनके लिए ।

आपने वाहन प्रयोग के कारण कुछ समस्याएँ उपस्थित होने की चर्चा की है । हो सकती हैं समस्याएँ । समस्या-शून्य जीवन ही क्या ? जब समस्याएँ आएँगी, तो उनका तत्कालीन समाधान भी किया जाएगा । वर्तमान का समाधान वर्तमान में और भविष्य का भविष्य में । आज का भोजन कल शौच जाने के लिए मजबूर कर देता है । इस पर आज का भोजन तो नहीं छोड़ा जाता । आज का पहना वस्त्र कल मैला होगा, तो क्या वस्त्र न पहना जाए, नंगा ही रहा जाए ।

वाहन की चर्चा मैं यों ही लम्बी कर गया हूँ । आपने प्रश्न छोड़ा तो उत्तर लंबा हो गया । आप मिलेंगे, तब खुलकर चर्चा कर लेंगे । फिलहाल साधु के द्वारा वाहन प्रयोग के सम्बन्ध में मेरे मन-मस्तिष्क में कोई प्रश्न नहीं है । वाहन संबंधी मुख्य प्रश्न है साध्वी संघ के लिए । गाँवों के लम्बे विहारों में असुरक्षित साध्वी-वर्ग की, आज के बिगड़े हुए माहौल में क्या बुरी गत हो सकती है, यह सोचते ही काँप जाता है मेरा मन । कोई भी संवेदनशील मानव हृदय अवश्य कांप जाएगा, आज की सामाजिक दुःस्थिति पर । आज का प्रायः हर समाचार पत्र, मातृ-जाति का अपहरण, बलात्कार, सामूहिक बलात्कार और तदनुसार हत्याओं की दिल दहलाने वाली खबरों से कलंकित रहता है । समाचार पत्रों के सिवा आए दिन जनमुख से सुनते भी यही है । गाँवों में साध्वी-वर्ग की सुरक्षा का क्या प्रबन्ध है, समाज की ओर से ? अमर भारती में इस सम्बन्ध में जो मेरा लेख है, वह ऐसे ही नहीं लिखा गया और छपा गया । वह लेख एक वर्ष तक तो स्थिति में सुधार होने की आशा में यों ही पड़ा रहा । अन्ततः कुछ ही हेर-फेर न हुआ, तभी मैंने उसे प्रकाशन की भूमिका दी । बलात्कार की घटनाएँ साधारण नहीं हैं । संसद तक में उनकी गूँज पहुँच गई हैं और अलग से एक नया कानून बनाने तक की नौबत आ गई है और इस भीषण स्थिति में भी हम एक परंपरा से चिपटे हुए हैं और सामने उपस्थित भयंकर समस्या पर ध्यान नहीं दे रहे हैं । यह हमारा बौद्धिक दिवालियापन नहीं तो क्या है ? मैं ही नहीं, इस सम्बन्ध में श्रमण-संघ के युवाचार्य श्री मधुकरजी ने भी जैन प्रकाश और तरुण जैन आदि में विहारों में साध्वी-वर्ग की रक्षा के लिए अपील की है । उनकी एक विशिष्ट साध्वी श्री उमरावकुंवरजी क्षेत्र दूर होने के कारण सन्ध्या समय जंगल में ही कहीं ठहर गईं । आ गया सशस्त्र बदमाशों का दल । वह तो खैर हुई कि योगानुयोग पुलिस दल की जीप आ गई । बदमाश भाग गए । अन्यथा, लूटमार और शीलभंग जैसा

कुछ भी हो सकता था । पंजाब का वातावरण कितना दूषित है, आत्मरश्मि मासिक (जून १९८२) में उपप्रवर्तिनी श्री अभयकुमारीजी का विचार प्रकाशित हुआ है कि पंजाब का ग्रामीण वातावरण इतना खराब है कि गाँव के किसी अनजान घर में आहार के लिए प्रवेश करते हुए डर लगता है कि पता नहीं, संयम भंग की वहाँ क्या बात हो जाए । उन्होंने भी समाज से सुरक्षा की माँग की है । प्रश्न है क्या सुरक्षा हो ? क्या सशस्त्र श्रावक दल रखा जाए या पुलिस दल ? दोनों ही असंभव । शीघ्र यान ही एक सहज उपाय है, जो समय पर अभीष्ट केन्द्र पर पहुँचा दे । साथ में श्रावक भी रह सकते हैं एक-आध दिन के लिए । पद-यात्रा में लंबे समय तक कौन भाई-बहन साथ रह सकते हैं । वेतन-भोगी संस्कारहीन नौकर, तो उनका तो स्वयं का भरोसा नहीं है ।

आपका तर्क है, हवाई जहाज आदि में भी सुरक्षा नहीं है । यों तो घर में भी सुरक्षा नहीं है, तो क्या अन्य जगहों की अपेक्षा घर की सुरक्षा को महत्त्व न दिया जाए । कुछ भी हो घर अधिक सुरक्षित है । इसी प्रकार पद-यात्रा आदि की अपेक्षा शीघ्र चालित वाहन अधिक सुरक्षित है । हवाई जहाज आदि में लूटमार हो सकती है, पर सबके सामने बलात्कार जैसी बात तो न होगी । बस, इसी की सुरक्षा का प्रश्न है, आपके मस्तिष्क में सुरक्षा का कोई और विकल्प हो, तो बताइए । केवल किसी बात को परंपरा के नाम पर यों ही नकारते रहने का कोई अर्थ नहीं है ।

मार्च १९८३

अंधविश्वासों की सघन अंध रात्रि क्यों ?

मानव ने अपनी जीवन-यात्रा के इतिहास में जहाँ अनेक सुविचारित, महत्त्वपूर्ण, जीवनोपयोगी, स्व-पर हितकर सैद्धान्तिक धारणाओं एवं स्थापनाओं का सृजन किया है, वहाँ भ्रान्त धारणाओं के अन्ध-विश्वासी अँधेरे में अनेक अर्थहीन मान्यताओं की कल्पनाएँ भी की हैं । जातियों के नाम पर, पारिवारिक तथा सामाजिक धारणाओं के आधार पर ऐसी अनेक मान्यताएँ प्रचलित हो गई हैं, जो मानव की प्रगति के पथ में कदम-कदम पर अवरोधक चट्टानें बनकर खड़ी हो गई हैं । मकड़ी, जैसे अपने ही द्वारा बुन गए जाल में उलझ जाती है, त्रास पाती है, ऐसी ही स्थिति मानवजाति की अपने ही द्वारा बुनी हुई मान्यताओं के जाल में हो गई है । जिधर भी नजर डालिए, मान्यताओं का एक सघन दुर्गम जंगल खड़ा हो गया है, और भद्र मानव उसमें भटकता, ठोकरें खाता आ रहा है हजारों वर्षों से। महापुरुषों द्वारा समय-समय पर मान्यताओं से मानव की मुक्ति के लिए इतने प्रयत्न किए जा चुके हैं, फिर भी स्थिति प्रायः ज्यों-की-त्यों है । कुछ खास फर्क पड़ा नहीं है । अपितु कुछ मान्यताओं ने तो धर्म और सिद्धान्त का ऐसा रूप ले लिया है कि वह छोड़े से भी छूटती नहीं हैं । उनका छुड़ाना या छूटना अधर्म समझा जाने लगा है । परंपरागत मान्यताओं में जहाँ कहीं थोड़ा सा भी हेर-फेर होता है, तो समाज में प्रलयकाल जैसा तूफान उठ खड़ा होता है ।

जातीय या सामाजिक मान्यताओं की बात एक ओर छोड़िए मैं यहाँ धार्मिक मान्यताओं की ही चर्चा कर रहा हूँ । ईश्वर, खुदा और अन्य देवताओं की प्रसन्नता के लिए निरीह मूक पशुओं का वध आखिर है क्या ? मान्यता ही तो है, जो अमुक भय या प्रलोभन के क्षणों में कल्पित कर ली गई है । महादेव शिव, जो शिवत्व का, मंगल-कल्याण का पौराणिक देव है, नेपाल में उसकी मूर्ति के समक्ष हजारों बकरे और भैंसे निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिए जाते हैं। जगदम्बा जगद्धात्री कही जानेवाली दुर्गा या काली आदि देवियों के समक्ष पूजा के नाम पर जो प्रतिदिन बकरों की, मुर्गों की हत्याएँ हो रही हैं, वह भी एक

अन्ध मान्यता है, जिसकी पूर्ति कर मानव-हर्षोन्मत्त हो नाचता है, और अपने को धन्य-धन्य समझता है। जीवन के अन्य क्षेत्र में यदि कोई हिंसा या हत्या हो जाती है, मांस आदि खाया जाता है, तो मानव हृदय को कभी ग्लानि भी होती है, कुछ बुरा भी महसूस किया जाता है, परन्तु उक्त धार्मिक मान्यताओं के रूप में जो हत्याएँ की जाती हैं, उनके लिए तो ग्लानि की अपेक्षा हर्ष ही अधिक अनुभव किया जाता है। आप देखते हैं, जो जितना बड़ा घनी आदमी होता है, वह उतनी ही अधिक संख्या में पशुओं की बलि देता है, कुर्बानी करता है और वह व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा बहुत बड़ा धार्मिक समझा जाता है।

पुराने युग में तो नरबलि तक की मान्यताएँ प्रचलित थीं। शुनः शेष आदि की कथाएँ रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में आज भी पढ़ने में आती हैं। अब भी कभी-कभी समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति ने देवी के समक्ष अपने अबोध पुत्र की तथा अन्य किसी के प्रिय बालक की हत्या कर दी। कुछ धर्मान्ध मूर्खों ने अपनी जीभ तक काटकर देवी को चढ़ा दी, इस आशा में कि देवी कटी हुई जीभ को पुनः जोड़ देगी। कुछ लोगों ने तो अपने सिर तक काट डाले हैं। रावण की कल्पित कथा उनके सामने रही है न। रावण ने शिव को प्रसन्न करने के लिए एक के बाद एक अपने दश मस्तक काट डाले थे, जो शिवजी के प्रभाव से बार-बार जुड़ जाते थे। कहाँ तक कहा जाए, लिखा जाए, अन्ध-विश्वासों की अँधेरी रातें, भ्रान्त मान्यताओं के कृष्ण-पक्ष में ही जन्म लेती हैं।

किसी एक नदी का जल पवित्र है, पापों को धो डालता है, तो दूसरी नदी का जल अपवित्र है वह मानव के पूर्व पुण्यों को नष्ट कर डालता है, और उसे जन्मजन्मान्तर के लिए अपवित्र बना देता है। गंगा और कर्मनाशा आदि नदी-जलों के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताएँ, इस बात की साक्षी हैं। भूमि को माता के रूप में अंकित किया था हमारे पूर्वजों ने। प्रातःकाल शय्या से उठकर मानव जब भूमि पर पैर रखे, तो सर्व प्रथम पादस्पर्श के अविनय के लिए क्षमा-याचना करे माँ से कि “पादस्पर्श क्षमस्व मे।” आज भी बोलने के लिए तो सब-कुछ बोला जाता है, पर इसके मार्मिक मूल बोध का भाव कहाँ है? पृथ्वी माता के राष्ट्र, प्रान्त आदि के नाम पर खण्ड-खण्ड कर दिए हैं और ये खण्ड एक-दूसरे की प्रजा का, अबोध बालकों से लेकर वृद्धों तक का, निरपराध महिलाओं तक का खून बहा रहे हैं। पृथ्वी माँ का हिमालय आदि भाग पवित्र

है, पापहारी है । और दूसरी ओर उसी माँ के अन्य भाग अपवित्र हैं, पापकारी हैं, जैसा कि पुरा काल में अंग, बंग, कलिंग और मगध आदि प्रदेशों के सम्बन्ध में मान्यताएँ थीं जिसकी साक्षी ये भ्रान्त श्लोक दे रहे हैं — “अंग-बंग-कलिंगेषु, सौराष्ट्र-मगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन्, पुनः संस्कारमर्हति ॥”

ऐसी ही साम्प्रदायिक मान्यताओं के कारण एक दिन भारत का ही अंग रहा हुआ सिन्धु, पंजाब आदि प्रदेश पाकिस्तान बन गया है, अर्थात् वह पाक है, पवित्र है और दूसरे बस समझ लीजिए विपरीत भाषा में जो हैं, सो हैं ।

प्राचीन काल में मान्यताओं का जो धार्मिक उन्माद था, वह तो था ही परन्तु, आज विकसित कहे जाने वाले युग में भी वह कम नहीं है । अपितु अमुक अंशों में वह बढ़ा ही है । रोजे के दिन हैं, सिनेमा नहीं देखना चाहिए और बस धर्मोन्माद के फल स्वरूप ईरान में सिनेमा हॉल में आग लगा दी गई और सैकड़ों ही बालक, युवा, बूढ़े, स्त्री, पुरुष चिल्लाते-चीखते जलकर भस्म हो गए । देश-कालानुसार स्थापित एवं परिवर्तित होने वाले राज्य-कानून नहीं, धार्मिक कानून चलाए जा रहे हैं, जिनके द्वारा सार्वजनिक रूप से किसी के कोड़े लगाए जा रहे हैं, किसी के हाथ, तो किसी के पैर काटे जा रहे हैं । सिनेमा देखने पर किसी की आँखें फोड़ी जा रही हैं । किसी को पत्थरों की मार से लहलुहान किया जा रहा है, धर्मरक्षा के नाम पर धर्म-धुरन्धरों द्वारा । लगता है, सृष्टि का सर्वाधिक बुद्धिमान कहा जाने वाला मानव-प्राणी पागल हो गया है ।

औरों की क्या चर्चा करूँ, अपने जैन-समाज की स्थिति भी, मान्यताओं के भ्रमजाल से कितनी विचित्र है । दिगम्बर और श्वेताम्बर लगभग अढ़ाई हजार वर्ष हो गए, अभी तक वस्त्र का फैसला न कर सके । एक पक्ष तार मात्र वस्त्र के रहने पर भी साधु में साधुत्व नहीं मानता और इसीलिए स्त्री को भी साधुत्व एवं अर्हत्व की भूमिका से वंचित रखता है । दूसरा पक्ष वस्त्र धारण के लिए आवश्यकता से अधिक बल देता है । अर्हन्त प्रतिमाओं पर इसी नग्नता और अनग्नता के नाम पर भयंकर मारा-मारी है। अन्तरिक्ष के पार्श्वनाथ इसी के फलस्वरूप वर्षों से तालों बन्द हैं और कोटों में मुकदमे चल रहे हैं । दोनों ही पक्षों के लाखों का धन जनहित में न लगकर व्यर्थ ही अन्यत्र लग रहा है, इसे पाप-पुण्य या धर्म क्या कहा जाए, बुद्धिमान

स्वयं निर्णय करें ? बीसपंथी, तेरापंथी आदि के दिगम्बर-परम्परा में अनेक भेद-प्रभेद हैं । कौन कैसे पूजा करे, प्रश्न सुलझ नहीं रहा है । एक ही तीर्थ क्षेत्र में अलग-अलग मन्दिर हैं, अलग-अलग पूजा पाठ हैं, और इन भेदों की जड़ों को सींचने वाले अलग-अलग मान्यता वाले धर्मगुरु मुनि हैं । श्वेताम्बर-परम्परा की स्थिति भी कम चिन्तनीय नहीं है । खरतरखच्छ, तपगच्छ आदि कितने अधिक भेद हैं जिनमें पर्युषण पर्व के महीनों का द्वन्द्व है, पर्व-तिथियों का और तीर्थकरों के कल्याणकों का झगड़ा है । मुनियों के पात्रों का लाल और काला रंग भी कम विवादास्पद नहीं है और भी तीन थुई-चार थुई आदि के छोटे-बड़े अनेक मतभेद हैं, जो इन पक्षों को आपस में मिलने नहीं देते, एक नहीं होने देते हैं ।

स्थानकवासी परम्परा की भी बात कर लें । ऊपर में भले ही यह एक रूप में परिलक्षित होती है, परन्तु अन्दर में वह बहुत दूर तक बिखरी हुई है । पर्युषण पर्व के महीनों का यहाँ भी चक्र है । उदय या अस्त की तिथि का विवाद भी चलता ही रहता है । मुखवस्त्रिका किसी संप्रदाय की अधिक लंबी-चौड़ी है, तो किसी की छोटी है । मुखवस्त्रिका का आग्रह तो इतना उदग्र है कि सारा धर्म इसी पर केन्द्रित होकर रह गया है । जैन धर्म की अन्य परंपरा के साथ जो मुखवस्त्रिका नहीं रखती या मुख पर नहीं बाँधती हैं उन्हें साधु तक मानने को तैयार नहीं हैं, मुखवस्त्रिका के एक पक्षी आग्रह । अनेक स्थानों से दीक्षा पत्रिका एवं पर्युषण पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें भगवान महावीर का चित्र, जो इनकी मान्यता के अनुसार मिथ्यात्व है, फिर भी भगवान का चित्र है और मुख पर मुखवस्त्रिका अंकित है । भगवान महावीर का धर्म एवं दर्शन तो इतना उदात्त एवं विराट है कि उन्होंने अन्य मत-मतान्तरों के साधकों को, यहाँ तक कि गृहस्थों को भी वीतराग-भाव अर्थात् समत्व की पूर्णता होने पर मोक्ष की उपलब्धि निरूपित की है और आज के मान्यतावादी जैन हैं कि उन्होंने मुक्ति को, मुक्ति के लिए प्रयुक्त साधना को भी अमुक वेषभूषा एवं अमुक बाह्याचार आदि में केन्द्रित कर दिया है । समत्व के पक्षधर विषमताओं की दल-दल में फँसे पड़े हैं ।

ध्वनिवर्धक में बोलना या नहीं, केला खाना या नहीं, मिट्टी का पात्र रखना या नहीं, मलिन वस्त्र धोना या नहीं, धोना तो साबुन आदि लगाना या नहीं—इस प्रकार हों और ना दोनों ही पक्ष हैं और इसी अपनी हों और ना पर सही साधुता का मूल्यांकन करते हैं । यहाँ तक कि उक्त हों और ना को लेकर

महाव्रतों की भूमिका तक में पहुँच गए हैं । साम्प्रदायिक मान्यताओं का यह धर्म-पाखण्ड इतना क्रूर एवं निर्दय हो चुका है कि और मतों की बात तो छोड़ो, अपनी जैन परम्परा के ही भिन्न संप्रदायी प्यासे साधु को पानी तक पिलाने को तैयार नहीं होते हैं, अनेक उग्रतावादी धर्मध्वजी । तेरापंथ आदि भी इन्हीं मान्यताओं के व्यामोह में पड़े हैं और भिन्न परम्परा के किसी साधक को आहारादि के दान में पाप की परिकल्पना रखते हैं । यदि कहीं कुछ बदलाव आ भी रहा है, तो वह युगानुरूप मात्र ऊपर में शब्दों का बदलाव है । अन्दर में मान्यताओं की तो वही स्थिति है, उनमें कुछ भी हेर-फेर नहीं है ।

धर्मों को यदि धर्म रहना है, सम्प्रदाय नहीं बनना है, सम्प्रदाय का कैदी नहीं होना है, तो अपेक्षा है सत्यानुलक्षी मुक्त चिन्तन की । पक्ष-मुक्त तटस्थ चिन्तन ही साम्प्रदायिक मान्यताओं के मायाजाल से मानव को मुक्ति दिला सकता है । धर्म, स्वार्थ और अहं से जन्य द्वन्द्वों को , कलह और विग्रहों को, घृणा और वैर विद्वेषों को समाप्त कर परस्पर प्रेम, सद्भाव और सहयोग का सर्वमंगलकारी शान्तिराज्य स्थापित करने के लिए है । किन्तु, हो रहा है इसके सर्वथा विपरीत और ऐसा क्यों हो रहा है ? इसलिए हो रहा है कि हमारे विवेकहीन अन्ध श्रद्धालु मस्तिष्कों ने धर्म के पवित्र आसन पर मान्यताओं को बैठा दिया है । उन्हें सिद्धान्तों का रूप देकर भगवद् वाणी बना दिया है । प्रायः हर धर्म में गुरु-शिष्यों के, भगवान और भक्तों के अनेक ऐसे कल्पित संवाद हैं, जो आज मानव-जाति को बुरी तरह पकड़े हुए हैं । तत्त्व-प्रधान वैज्ञानिक दृष्टि से ही उक्त पकड़ से मुक्ति हो सकती है । तत्त्व-चिन्तकों को साहस के साथ आगे आना चाहिए, और इन-धर्म विरोधी मान्यताओं के विरोध में सार्वजनिक रूप से अपनी आवाज बुलन्द करनी चाहिए । मान्यताओं के दण्डप्रहार के भय से भेड़-बकरियों की तरह सिर नीचा किए भागते रहना मानसिक नपुंसकता है । यह सत्य का अपलाप है, भयंकर अपराध है, जो कभी क्षम्य नहीं हो सकता।

प्रस्तुत लेखन का मेरा एकमात्र उद्देश्य सर्वसाधारण धर्मभीरु जनता को, धर्म और सिद्धान्त के नाम पर प्रचलित अन्ध-मान्यताओं की विकृतियों का परिदर्शन कराना है, ताकि धार्मिक कठमुल्लापन निरस्त हो, तथा धर्म का सही रूप उजागर हो सके । किसी सम्प्रदाय-विशेष का न मुझे खण्डन करना है और न मण्डन । असत्य के खण्डन और सत्य के मण्डन में ही मेरी लेखनी की गति है । संभव है भावना के प्रवाह में मुझसे कुछ कटूक्तियाँ हो गई हों, हो गई

क्यों, हो ही गई हैं । मैं उनके लिए हृदय से क्षमा प्रार्थी हूँ । फिर भी सत्य के लिए प्रबुद्ध पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे व्यर्थ की कुछ कटूक्तियों की ओर ध्यान न देकर शान्त-चित्त से लेख को पढ़ें और मनन करें । सिद्धान्त के नाम पर जनसमाज में कटुता का अनर्गल विष फैलाने वाली मान्यताओं के मायाजाल से खुद भी मुक्त हों और दूसरों को भी मुक्त करें ।

मैं जीवन के अस्सीवें वर्ष में यात्रा कर रहा हूँ । मेरे कुछ स्नेही संगी साथी कहते हैं, आप चुप होकर बैठिए । इस तरह के बेलाग लेखन से आपके श्रद्धालु भक्तों की संख्या कम होती जा रही है । मुझे भी मालूम है कम हो रही है । प्रशस्ति पत्र देने वाले इधर-उधर हो रहे हैं । परन्तु, सत्य का तकाजा है, मैं इस गिनती के फेर में न पड़ूँ, जहाँ तक हो सके निर्द्वन्द्व भाव से सत्य को उजागर करता रहूँ । ' सत्यमेव जयते, नाऽनृतम् । '

अप्रैल १९८३

भक्ति प्रदर्शन नहीं, दर्शन है

भक्ति केवल संस्कृत, प्राकृत या हिन्दी आदि में दो-चार स्तोत्र पढ़ लेना, पूजा-पाठ कर लेना मात्र ही नहीं है। यह तो अपनी-अपनी धर्म-परम्पराओं के अनुसार केवल वातावरण का निर्माण करना मात्र है।

सही और यथार्थ भक्ति तो अपने आराध्य देव से एकाकार हो जाना है, किसी भी सुख-दुःख आदि की स्थिति में उससे विभक्त अर्थात् पृथक् न होना है। हर क्षण प्रभु के साथ रहो, अर्थात् उसे मन में विराजित रखो, उसकी पुण्य-स्मृति में रहो। जब भी और जो भी निज या पर के हित की दृष्टि से काम करना हो, अपने आराध्य को स्मरण करते हुए करो। भगवत्स्मृति के साथ किया जाने वाला कार्य पवित्र होता है, उसमें से अमंगल एवं विक्षेप के दोष दूर हो जाते हैं। भक्ति को यथाप्रसंग योग्य शक्ति एवं विवेक बुद्धि प्राप्त होती रहेगी, जिससे प्रारब्ध कार्य सुचारु रूप से सफलता के साथ संपन्न होगा। यदि दुर्दैव से कभी कार्य संपन्न न भी हो, तब भी भक्त के हृदय का आनन्द तो कहीं न जाएगा, उसका समत्व अबाधित बना रहेगा।

अनन्त असीम भगवज्ज्योति की स्मृति में ज्ञान-चेतना बनी रहेगी, इसलिए कि भगवान् ज्ञान स्वरूप हैं। सुख और दुःख से परे एक अनिर्वचनीय आनन्द है। प्रभु की दिव्य भक्ति एवं उपासना में वह आनन्द बना रहेगा इसलिए कि भगवान् अखण्ड अनन्त आनन्द स्वरूप हैं। अन्तर्मन विकारों की मलिनता से मुक्त होकर शुद्ध, निर्मल एवं निर्विकार होगा, इसलिए कि भगवान् स्वयं पूर्ण शुद्ध, निर्मल एवं निर्विकार हैं। मनोविज्ञान का युग-युग से परखा हुआ यह त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है कि जो जैसा स्मरण करता है, जो जिसकी भावना करता है, वह वैसा हो जाता है। होने में देर-सबेर व्यक्ति की अपने अन्दर की भावात्मक तीव्रता एवं मन्दता पर आधारित है।

भक्ति का फल अन्ततोगत्वा भगवान होना है । इससे नीचे के जो भी स्थान हैं, प्राप्तव्य हैं, वे मात्र बीच के विश्राम हैं, पड़ाव हैं । वे अन्तिम नहीं हैं, साध्य नहीं हैं । अन्तिम तो भक्ति के माध्यम से भक्त का भगवत्स्वरूप हो जाना है । इसकी एक निश्चित प्रक्रिया है । शुद्ध एवं सात्त्विक मन में से ही शुद्ध भक्ति की धारा प्रवाहित होती है । मन को पवित्र बनाये रखने के लिए उसे काम-वासना से, भोगासक्ति से, दुर्व्यसनों से मुक्त रखना होता है । संयम एवं सदाचार में एकाग्रभावना से लीन करना होता है । विकृत अर्थात् विकारग्रस्त कदाचारी मन में भगवान का कैसे निवास हो सकता है ? उसमें तो शैतान का ही वास होता है । राम और रावण एक आसन पर न कभी बैठे हैं और न बैठेंगे । दिन और रात का, अन्धकार और प्रकाश का एकत्र समवाय कैसे हो सकता है ? भगवान की शुद्ध मन से निष्काम भक्ति करने वाला कभी कोई पापाचार नहीं कर सकता । यदि कोई पापाचार, दुराचार करता है, वह भक्ति नहीं, भक्ति का दम्भ करता है । दम्भ भक्ति का घोर शत्रु है । साधना में दम्भ आया नहीं कि साधना का अमृत, अमृत न रहकर विष हो जाता है, विष हलाहल विष, जो जन्म-जन्मान्तरों तक साधक को अज्ञान, मोह, माया और इनके फल स्वरूप त्रिविध ताप के नरक कुण्ड में डाल देता है । अतः भगवद् दर्शन के लिए प्रदर्शन से दूर रहो, अपने को लोक दिखावे से अलग रखो । जो भी हो, जितना भी हो, सरलभाव से हो, निश्चल मन से हो । दम्भ भक्ति भक्ति के पवित्र भावदेह में कैसर है, विष ग्रन्थि है । शुद्ध, सरल एवं स्वच्छ मन से अल्प से अल्प भी, क्षणभर भी यदि भगवल्लीनतारूप भक्ति हो जाए, तो वह अन्तर्जीवन को दिव्य आलोक से प्रकाशमान कर देती है । अनन्त काल से गहराती आई अमारात्रि सुप्रभात में बदल जाती है । अपेक्षा है निष्ठा की, विवेक की, सांसारिक सुखों में अनासक्ति की, अविचल धैर्य की, सर्वतोभावेन भगवद्भावना में निमज्जित होने की ।

राजमहल में हो या झोंपड़ी में हो, नगर में हो या निर्जन वन में हो, अकेले में हो या हजारों में हो, जिसके अन्तर्मन की भाव-वीणा पर भक्ति का स्वर संकृत रहता है, भक्ति का ब्रह्मनाद अनुगुंजित रहता है, वह प्रदर्शन का नहीं, प्रभु-दर्शन का सच्चा भक्त है । प्रभु प्रेम की लौ उसके मन की दीवट पर सदाकाल जलती रहती है । सुख दुःख की, यश-अपयश की, हानि-लाभ की तूफानी आँधियाँ आती हैं, चली जाती हैं । किन्तु, प्रभु प्रेम की लौ को कभी बुझा नहीं सकती । यही वह लौ है, जो आगे चलकर अनन्त

ज्योति का अविनाशी रूप लेती है और संसारी क्षुद्र आत्मा महतोमहीयान्
अनन्त-अक्षय-अव्याबाध परमात्मा हो जाता है ।

जून-जुलाई १९८३

यह सत्य की पूजा नहीं, हत्या है

सत्य का सबसे बड़ा भयंकर घातक शत्रु प्रलोभन है, फिर भले वह सत्ता का हो, सम्पत्ति का हो, यश का हो, रोटी-रोजी का हो, जीवन का हो या और किसी तरह का हो । जो व्यक्ति, फिर भले वह धर्मगुरु ही क्यों न हो, सत्य का ठेकेदार ही क्यों न हो, प्रलोभन की चौहद्दी से, घेराबन्दी से बाहर नहीं आता है, सुविधाभोगी मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाता है । वह बात-बात पर सत्य की हत्या करता है, असत्य को सत्य के रूप में प्रतिष्ठा के सिंहासन पर बैठाता है, भद्र जनता को धर्म, सभ्यता, संस्कृति या पुरातन गौरव के नाम पर छलता है। वह संघर्ष से डरता है, सोचता है— यदि मैंने सत्य को सत्य के रूप में और असत्य को असत्य के रूप में स्पष्ट रूप में उद्घोषित कर दिया, तो मेरा क्या होगा, मेरी प्रतिष्ठा का क्या होगा ? फिर कौन पूछेगा और पूजेगा मुझे सार्वजनिक क्षेत्र में ?

प्रलोभन का शिकार व्यक्ति, पुरातन परम्परा का अनुवर्ती होता है, नई परम्परा का प्रवर्तक नहीं । वह बाहर में सत्य का अमुक शानदार मुखौटा लगाये रखता है, जिसके आवरण में उसके असत्य एवं दंभ की कुरूपता छिपी रहती है । वह सत्य का अग्रणी सूत्रधार नहीं होता, जो असत्य से टकराए । वह तो मान्यताओं का और मान्यताओं के पक्षधरों का पिछलग्गू होता है । भले ही परम्परागत मान्यताएँ कितने ही जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हों, अपनी अर्थवत्ता खो चुकी हों, हित की जगह जनता का अहित ही क्यों न कर रही हों । प्रलोभन के जाल में फँसा व्यक्ति उनकी उपादेयता का स्तुति पाठ ही करता रहेगा, उनका गुणगान ही गाता रहेगा, वह जी-हुजूर होगा । हाँ में हाँ और ना में ना का स्वर मिला देना ही उसका अपना एक काम है । प्रलोभन में उसी अन्तरात्मा की सही आवाज कैद हो जाती है । वह यथार्थ को जानकर भी, समझकर भी यथार्थ नहीं कह सकता । उसकी अपनी कोई आवाज ही नहीं होती । गुलामों की अपनी कोई आवाज होती है ? नहीं होती । उसकी वही आवाज होती है, जो उसके

आकाओं की, मालिकों की, रोटी-रोजी देने वालों की आवाज होती है । वह संसार का सबसे अधिक डरा हुआ व्यक्ति होता है । न उसे राम से कोई मतलब है, न रावण से । उसे तो अपने स्वार्थ से मतलब है । वह अपनी एक ही जबान से राम और रावण दोनों का एक समान जय-जयकार कर सकता है, इसमें उसे तनिक भी संकोच नहीं होता ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक लोक कथा है । एक राजा के दरबार में एक पण्डितजी आया करते थे । पूजा-पाठ करते, राजा के लिए स्वस्ति वाचन करते और यथाप्रसंग राजा की स्तुति भी । एक दिन राज-दरबार में बैंगन की चर्चा चल पड़ी । राजा ने कहा —“ बैंगन बहुत अच्छी चीज है, स्वास्थ्य के लिए गुणकारी है ।” सबसे पहले पण्डितजी ने हाँ में हाँ मिलाई और विनम्रता के स्वर में कहा — “ राजासाहब, आप बिल्कुल ठीक कहते हैं, इसी लिए तो बैंगन के सर पर मुकुट रखा है सृष्टिकर्ता ईश्वर ने।” बैंगन के ऊपर वृंत से लगी जो टोपी-सी होती है, उसे पण्डितजी ने बैंगन का ईश्वर प्रदत्त मुकुट बताया ।

चर्चा आगे चली, गुण-दोष की विचारणा होती रही । राजा का विचार पलट गया और बोला—“अरे बैंगन तो बहुत ही खराब फल है । वात और पित्त बढ़ाता है, स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हानिकर है । इसमें कुछ भी तो गुण नहीं ।”

और कोई बोले कि न बोले । पण्डितजी झट बोल उठे “श्रीमान् जी, ठीक कहते हैं, शत-प्रतिशत ठीक । बैंगन में दोष-ही-दोष हैं, कोई एक भी तो गुण नहीं । इसीलिए तो भगवान ने इसका नाम ही बेगुन रखा है ।” पण्डितजी ने बैंगन को बेगुन का अपभ्रंश रूप कर डाला।

सभा विसर्जन के बाद पण्डितजी ज्योंही सभाभवन से बाहर आए, एक मुँह लगे साथी ने झट पण्डितजी को पकड़ा और कहा—‘ वाह पण्डितजी, आज तो आपने कमाल कर दिया । एक ही मुँह से बैंगन की प्रशंसा भी और निन्दा भी। बात बदलते कुछ भी तो देर न की आपने।”

पण्डितजी कहाँ चूकनेवाले थे । बोले—“भइया, मुझे बैंगन की निन्दा या प्रशंसा से क्या लेना-देना है । मैं राजाजी का नौकर हूँ या बैंगन का ? राजा

साहब खुश होने चाहिए, बैंगन की प्रशंसा से खुश हों तब ठीक, निन्दा से खुश हों तब ठीक । अपने को तो हर हालत में राजाजी को खुश रखना है ।”

विचार कीजिए, “ पण्डितजी जैसे लोगों की प्रलोभनप्रधान मनोवृत्ति के गुलाम सत्य के कैसे पक्षधर हो सकते हैं ।” उन्हें सत्य से कोई मतलब नहीं, उन्हें मतलब है एकमात्र रोटी-रोजी से, हलवे-मांडे से । उनकी पाँचों अंगुलियाँ धी में होनी चाहिए, फिर उनसे कुछ भी कहा लो, करा लो ।

जाटों का गाँव था । गाँव का मुखिया जाट गप्प मारने का आदि था । गाँव के सब लोग उसकी हाँ में हाँ और ना में ना एकस्वर से मिलाया करते थे । एकदिन उसने कुछ लोगों में गप्प हाँकी — “ भई, गजब हो गया । आज रात तो हमारे ऊँट को बिल्ली भगाकर ले गई ।” सब जी हुजूर चिल्लाए—“चौधरी साहब, नालायक बिल्ली ऐसा ही करती है । एक बार वह हाथी को भी भगाकर ले गई थी ।”

एक जाट की पत्नी यह सब गप्पबाजी सुन रही थी । उसने अलग में अपने जाट से कहा—“कुछ तो सोचो, जरा-सी बिल्ली और इतने बड़े ऊँट को भगाकर ले जाए ? असंभव ! तुम कैसे मूर्ख हो, कुछ भी सोच-विचार नहीं करते। चौधरी की आधारहीन बेसिर-पैर की झूठी बातों को बढ़ावा देते हो, व्यर्थ का झूठ बोलते हो ।”

जाट ने कहा — “पागल है तू । कुछ भी नहीं समझती । अरी, हमें चौधरीजी के गाँव में रहना है न ? बस, जो भी वह कहे, उसकी हाँ-में-हाँ मिलाना है । सच हो या झूठ हो, हमें उससे क्या लेना देना ।”

नीचे का दोहा इसी जी-हुजुरी मनोवृत्ति को उजागर करता है—

“जाट कहे सुन जाटनी, इसी गाँव में रहना ।
ऊँट बिलैय्या ले गई, हाँ जी हाँ जी कहना ॥”

साधारण लोग तो इस मनोवृत्ति के प्रायः शिकार होते ही हैं । प्रलोभन का छूटना मुश्किल है । उनके लिए यही कारण है कि आज सब ओर

जन-जीवन पर असत्य, दंभ, छल-कपट और भ्रष्टाचार आदि के काले बादल छाये हुए हैं । सत्य अंधेरी गलियों में मारा-मारा फिर रहा है उसे कोई पूछने वाला नहीं । पूछना क्या, कदम-कदम पर बुरी तरह ठुकराया जा रहा है । ठकुरसुहाती के युग में सत्य को भला कहीं कोई जगह मिल सकती है ? नहीं मिल सकती है ।

दुनियादार लोग हैं, उनसे क्या आशा रखी जाए । परन्तु, खेद तो तब होता है, जब सत्य के नाम की माला जपने वाले धर्मगुरु भी सत्य की अवहेलना करते हैं । अनेक साम्प्रदायिक मान्यताएँ गलत हैं, गलत साबित हो चुकी हैं, परन्तु ये तथाकथित धर्म गुरु अब भी उन्हीं पुराने शब्दों में उनकी सत्यता के फूटे ढोल बजा रहे हैं । अब भी उनका चाँद, सूरज के ऊपर है । अब भी सूरज और चाँद ऊपर हैं, तारे नीचे हैं । अब भी लाख योजन का ऊँचा सोने का सुमेरु भूतल पर खड़ा है, जिसकी सूरज और चाँद दिन-रात परिक्रमा कर रहे हैं । अब भी उनके सूरज और चाँद के विमानों में हजारों अश्व, हाथी, सिंह और बैल जुते हुए हैं, जो अधर आकाश में बिना सड़क के ही उन्हें खींच रहे हैं । आज भी उनके स्वर्गीय विमानों की छतों में ६४ मन के मोती लटक रहे हैं । आज भी गंगा का पाट (प्रवाह की चौड़ाई) बासठ योजन का है, एक योजन चार हजार कोश का होता है । कहाँ बह रही है यह गंगा ? मत पूछो, शास्त्र में लिखा है न ? स्पष्ट है यह गंगा भूतल पर नहीं, शास्त्र के शब्दों में बह रही है । आज भी उनकी भूगोल विद्या में पृथ्वी स्थिर है और सूरज पूरब-पश्चिम घूम रहा है । वैज्ञानिकों द्वारा अबों की लागत से तैयार किए गए उपग्रह चाँद पर नहीं, पृथ्वी के ही किसी पहाड़ पर उतरे हैं और उसी के चित्र भेजते हैं । चाँद पर से वापस लौटे हुए प्रत्यक्ष द्रष्टा आदमी भी इनकी नजरों में पागल हैं, निरे बुद्ध हैं, जो चाँद पर उतरने की बात कहते हैं। विद्युत् एक अदृश शक्ति है, पर वह आज भी इनके दिमाग में आग है और इन्हें ध्वनिवर्द्धक-माईक पर बोलने से इन्कार करती है । प्रत्यक्ष में ही कितना झूठ बोला जा रहा है, इसकी सत्य के महाव्रती इन धर्म गुरुओं को कोई चिन्ता नहीं है । यह बात नहीं कि इनमें से कुछ महानुभाव सही स्थिति समझते नहीं हैं । समझते हैं, पर स्पष्ट कुछ कह नहीं सकते । क्यों नहीं कह सकते ? यश के लोभी हैं ये । प्रतिष्ठा चाहिए इन्हें । हर कीमत पर वाह-वाह । प्रतिष्ठा को जरा भी कहीं चोट लग जाए, कि बस ये मरे ! इनका सत्य अपने तथाकथित संप्रदायों का सत्य है, अपनी मान्यताओं का सत्य है । यथार्थ सत्य से इन्हें

कुछ नहीं लेना-देना है । साम्प्रदायिक मान्यताओं के लिए ये धर्मगुरु आए दिन शास्त्रीय शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं, झूठे भावार्थ लगाते रहते हैं । इसके लिए हजारों वर्षों से पुरातन भाष्य एवं टीका आदि में प्रचलित होते आये सही अर्थों को भी झूठा कहने में इन्हें कोई संकोच नहीं है । और तो और, जहाँ अर्थ नहीं बदले जा सके, वहाँ कुछ अन्ध सम्प्रदायी गुरुओं ने शास्त्रों के पाठ ही बदल दिए हैं, अपनी ओर से मनगढ़ंत नए पाठ भी जोड़ दिए हैं । जिन शास्त्रों पर जी रहे हैं, उनके साथ भी कम खिलवाड़ नहीं की है इन लोगों ने । अतीत के राम-लक्ष्मणों ने, कहते हैं शूर्पणखा के नाक-कान काट डाले थे और आज के धर्मगुरु कहे जाने वाले ये कलियुगी राम धड़ल्ले से अपने ही शास्त्रों के नाक-कान काट रहे हैं, उनका छविच्छेद कर रहे हैं और यह सब किया जा रहा है उन शास्त्रों के सर्वज्ञ द्वारा प्रमाणित श्रद्धा के नाम पर । दुनियादार लोगों ने कहाँ इतना झूठ बोला होगा, जितना कि सत्य के नवकोटि प्रतिपालक इन तथाकथित सत्य-भक्तों ने बोला है ।

क्रिया-काण्ड की स्थिति भी विचित्र है । केला आदि अनेक भोज्य फल हैं, जिनके खाने और न खाने में महाव्रतों के प्रश्न अटककर रह गए हैं। केला खाने वाले को एक धर्म गुरु साधु तक मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि केला खाने से इनकी दृष्टि में पहला अहिंसा महाव्रत भग्न हो जाता है । यही हाल माइक पर बोलने के सम्बन्ध में है । उपाश्रयों में ठहरने आदि पर भी झगड़े होते रहते हैं । विहार-यात्रा में रहन-सहन और खान-पान आदि की अनेक छूटें ले ली जाती हैं, परन्तु उन्हें स्वीकार किए जाने का नैतिक साहस प्रायः कम ही दिखाई देता है ।

रात्रि में शौच जाना है, परन्तु शुद्धि के लिए रात्रि में पानी तो नहीं रखना है । डर है यदि कोई पी ले तो ? गृहस्थ दशा में अनेक भाई-बहन चौबिहार रखते हैं । कहीं प्यास लगने पर पानी न पी लें, उस डर से क्या ये व्रती लोग घर का सारा पानी बाहर फेंक देते हैं ? कितनी विचित्र बात है, एक साधारण गृहस्थ का जितना भी आत्म-विश्वास एवं मनोबल धर्मगुरुओं में नहीं है। सारी रात गन्दगी में पड़े रहना, शुचि न करना, कौन-सा महान धर्म है ? आखिर इस अशुचि की कौन-सी आध्यात्मिक उपलब्धि है ? कुछ सन्त रात में शौच-शुद्धि के लिए पानी रखते भी हैं, पर छुपाकर रखते हैं । लोगों में नहीं रखने का झूठ बोलते हैं । क्यों बोलते हैं ? और क्या, प्रतिष्ठा भंग के भय से ।

शौच जाने के, मलमूत्र विसर्जन के ढंग तो इतने विचित्र हैं कि नागरिक परेशान हैं, इन क्रिया-काण्डी साधुओं की नाजायज हरकतों से । कुछ स्थानों पर तो उपाश्रयों तथा गृहस्थों के मकानों की छत पर मलमूत्र विसर्जन करते हैं । सड़ता हुआ, कीड़ों से कुलबुलाता हुआ मल, दूर-दूर तक वातावरण में दुर्गन्ध फैलाता है, भद्र जनता के स्वास्थ्य को वायु-प्रदूषण से खराब करता है। अनेक स्थानों पर तो सड़कों पर ही यह परिष्ठापन धर्म क्रिया की जाती है, जिससे आम जनता में धर्म के प्रति घृणा ही पैदा होती है । बम्बई आदि की तो समाचार पत्रों में खबर है कि नई बसने वाली कोलोनियों में अन्य लोग उपाश्रय ही नहीं बनने दे रहे हैं । यह नहीं कि उनका साम्प्रदायिक आधार पर कोई धर्मद्वेष है । पत्र लिखता है कि साधुओं द्वारा आस-पास की आम सड़कों पर मलमूत्र की गन्दगी फैलाना ही उनके विरोध का एकमात्र हेतु है । जनता का यह विरोध सही है । धर्म के नाम पर किए जाने वाले धर्मध्वजियों के इस कदाचार का विरोध होना ही चाहिए । बहुत अधिक तो नहीं, पिछले अनेक वर्षों से नगरों में यह अन्ध आचार वस्तुतः जनता के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ कर रहा है और जिन शासन को बदनाम कर रहा है । शौचालय के अन्य आधुनिक अच्छे साधन मौजूद रहते हुए भी इस प्रकार नागरिकता की भावना के विपरीत कर्म करते रहना, यथार्थ चिन्तन का दिवालियापन तो है ही, साथ ही असाधुजनोचित हृदयहीनता भी है । कोई भी मानवतावादी सहृदय एवं करुणाद्रि व्यक्ति ऐसी गन्दी हरकतें नहीं कर सकता, जो ये पवित्र गुरुपद पर आसीन, दया-करुणा के मूर्तिमान धर्मदेव सन्तजन कर रहे हैं । उन्हें पता होना चाहिए, इस अप-कर्म में भगवान की परिष्ठापन समिति से सम्बन्धित आज्ञा का उल्लंघन है, साथ ही नगरपालिका के जनस्वास्थ्य सम्बन्धी कानून का भंग भी है । इस अर्थ में आज की यह परिष्ठापन पद्धति कानून भंग के रूप में चोरी भी है, जो अपने में एक भयंकर अनैतिक अपराध है ।

कहाँ तक लिखा जाए, स्थिति यह है कि सब ओर सत्य का हनन है, असत्य का पूजन है । उर्दू का शायर ठीक ही कहता है — “ बादल फटे हुए हैं, सिलाएँ कहाँ कहाँ ? ” मैं नहीं चाहता कि इतनी दूर लिखूँ और साथियों के मन को पीड़ा दूँ, परन्तु अन्तर्मन इन सब बातों से इतना अधिक पीड़ित रहता है कि लिखे बिना रहा नहीं गया । सत्य कड़वा है, पर इस कड़वेपन को स्वीकारना ही होगा । मेरी मार्मिक अपील है, अपने परिचित तथा अपरिचित सभी साथियों से कि यश और प्रतिष्ठा के प्रलोभनों के मायाजाल से अपने को साहस के साथ

मुक्त करो और जो सत्य तथा हितकर है उसे सार्वजनिक घोषणा के साथ स्वीकार करो । आज नहीं तो कल, तुम्हें अपने उक्त समयोचित परिवर्तनों से प्रतिष्ठा मिलेगी ही । यदि प्रतिष्ठा न भी मिले, तब भी तुम्हारा क्या बिगड़ता है। तुम कोई प्रतिष्ठा पाने के लिए और उसके आधार पर रोटी का जुगाड़ करने के लिए तो साधु नहीं बने हो । मैं मानता हूँ, कुछ योग्य परिवर्तनों के फलस्वरूप अज्ञानग्रस्त रूढ़िचुस्त जनता में तुम्हारी निन्दा होगी, तुम्हारी पूर्वाजित प्रतिष्ठा को चोट भी लगेगी, और उसके फलस्वरूप, संभव है, साधुता के नाम पर चालू तुम्हारी सुख-सुविधाओं की प्रक्रिया में भी कभी कुछ अन्तराय पड़े परन्तु सत्य के साधक को यह सब चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है । उसे तो बेलाग सत्य के पथ पर चलना है, इसके लिए ही तो अपना घरबार त्यागा है, प्रिय परिवार छोड़ा है । मीरा के शब्दों में सत्य के साधक की तो सूली ऊपर सेज है । खबरदार, किसी भी रूप में, किसी भी अंश में तुम्हारे द्वारा सत्य की हत्या नहीं होनी चाहिए । ‘सत्यमेव जयते नाऽनृतम्’ का उद्धोष हम सत्य के सेवकों का मूल मंत्र है। मैं स्वयं अस्सीवें वर्ष में हूँ । मैं जानता हूँ, मेरे इस तरह के खुले लेखों से हजारों लोगों के श्रीमुख निन्दा का, अभद्र आलोचना का विष उगलने लगेंगे और मेरे अब तक के अनेक प्रशंसक भी मुझसे विमुख हो जाएँगे । उन्हें जो होना है, होते रहें, मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं । मेरे अब तक के गहन अध्ययन और चिन्तन-मनन से जो मुझे यथार्थ की अनुभूति हुई है, हो रही है, उसे मैं मुक्त-भाव से प्रकट कर देता हूँ । मैं सत्य को प्रतिष्ठा आदि के क्षुद्र व्यामोह में, असत्य एवं दंभ के काले पर्दे में छुपाना नहीं चाहता । महाप्रभु महावीर का यह धम्म सूत्र मेरा एकमात्र संबल है—

“ सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ ।”

अगस्त १९८३

साधु-साध्वियों द्वारा यान-प्रयोग : एक स्पष्टीकरण

धर्म एक अन्तरंग पवित्र भाव है, वह आत्मीय चेतना की एक निर्धूम एवं निष्कलुष ज्योति है । अतः वह न शरीराश्रित है, न इन्द्रियाश्रित है और न साम्प्रदायिक मत-पंथों के विविध वेषों एवं विधि-निषेधों पर ही आधारित है । धर्म मोहक्षोभ से विहीन शुद्ध वीतराग भाव है, अतः उसमें उक्त शारीरिक एवं साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताएँ कहाँ हैं ? ये सब देशकालानुरूप नैतिक व्यवस्थाएँ हैं, अतः सहकारी होने से उपधर्म तो अमुक अंश में हो सकते हैं, किन्तु आध्यात्मिक मूल धर्म नहीं । यदि ये एकान्ततः धर्म होते या धर्म के साथ इनका अविनाभावी अभेद्य सम्बन्ध होता, तो न माता मरुदेवी को गजराज पर चढ़े मुक्ति होती और न आद्य चक्रवर्ती भरत को आदर्श भवन में केवलज्ञान ही होता । दो-चार क्या, कूर्मपुत्र, इलापुत्र जैसे अनेकों उदाहरण हैं, जहाँ साम्प्रदायिक धर्म का, साम्प्रदायिक वेष-भूषण एवं विधिनिषेधों का दूर तक भी कहीं अस्तित्व नहीं है। धर्म का एक ही शुद्ध सनातन स्थिर रूप है, जबकि साम्प्रदायिक उपधर्म देशकालानुसार परिवर्तनशील हैं, यही कारण है कि एक ही धर्मशासन में अनुशास्ता आचार्यों का ही नहीं, स्वयं तीर्थंकरों का भी शासन-भेद है । उदाहरण के रूप में, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का ही अढ़ाई सौ वर्षों के छोटे-से अन्तराल में ही हुए विधि-निषेधों का भेद, इतिहास के पृष्ठों पर आज भी उपलब्ध है ।

मैं जो परिवर्तन की बात कहता हूँ, वह धर्म के लिए नहीं है । वह तो त्रिकालाबाधित है, उसमें तो कोई परिवर्तन हो ही नहीं सकता, जो किया जाए । क्योंकि धर्म आत्मगत है, अध्यात्म है, अतः उस पर न देश का प्रभाव पड़ता है, न काल का, न किसी परिस्थिति विशेष का । वह तो इन सब बाह्य प्रभावों से अतीत है । अतः मेरे कहे गए परिवर्तन का सम्बन्ध साम्प्रदायिक उपधर्मों से है । साम्प्रदायिक नियमों के परिवर्तन की बात नई नहीं है । यह परिवर्तन पहले भी होता रहा है, अब भी हो रहा है और भविष्य में भी (२५७)

यथावश्यक होता रहेगा । भले ही प्रारंभ में कितना ही विरोध हो, शोर-शराबा हो, निन्दा हो, अपयश हो । जो भी होने जैसा है, वह देर-सबेर होकर ही रहता है । मेरे पास पुराने और नये परिवर्तनों की एक अच्छी खासी लंबी सूची है, किन्तु उसके प्रकाशन का अभी प्रस्तुत में प्रसंग नहीं है । यदि ईमानदारी से सोचेंगे और विचारेंगे, तो प्रबुद्ध पाठकों को, धर्म-संघ में हुए नए-पुराने अनेक परिवर्तन , स्वतः ही परिलक्षित हो जाएँगे ।

परिवर्तनों की इसी चिन्तन धारा में मैंने साध्वियों के वर्तमान पद-विहार की चर्चा की थी । आज क्या स्थिति है समाज की । नारी-जाति पर अत्याचारों की एक भयंकर शृंखला ही बन गई है । आए दिन उस पर अन्य अत्याचार जो होते हैं, वे तो होते ही हैं । उसके पवित्र शील के भंग की दुर्घटनाएँ भी कम घटित नहीं हो रही हैं । बलात्कार की मर्माहत करने वाली कितनी अभद्र घटनाएँ घटित हो रही हैं, इन दिनों । काँप जाता है अन्तर्मन । यदि कोई सच्चे अर्थ में मानव है और उसके पास सही अर्थ में मानव का हृदय है, तो वह कम्पित हुए बिना नहीं रहेगा । यदि वे और कोई हैं, तो उनको दूर का धक्का दो, मैं उनकी बात नहीं करता ।

छोटी-छोटी बच्चियों से लेकर प्रौढ़ महिलाएँ तक इस राक्षसी अत्याचार की शिकार हैं । नारी का शरीर ही ऐसा है कि वह इन कामान्ध दुर्नाम दानवों से बच नहीं सकता । अब तो बलात्कार ने सामूहिक बलात्कार का भीषण रूप भी ले लिया है । पिस्तौल तथा छुरे की नोक पर नारी का अपहरण किया जाता है । दो-चार ही नहीं, पाँच-पाँच, दस-दस राक्षस उस अबला के शरीर को नोंच डालते हैं, शील भंग करते हैं । नारी पीड़ा से छटपटाती रहती है, चीखती रहती है, बेहोश हो जाती है, फिर भी ये तन के मानव और मन के दानव उसका पीछा नहीं छोड़ते । दैनिक आज की खबर है, अभी रक्सौल (बिहार) में एक नव-विवाहिता ब्राह्मण पुत्री का दुष्टों ने प्राण-घातक छुरे के बल पर अपहरण किया और सारी रात बारी-बारी से चौदह व्यक्ति दुराचार में लगे रहे । आज वह बेहोशी की दशा में अस्पताल में है और जीवन-मरण के बीच झूल रही है । अखबारी रिपोर्ट है डाक्टरों की, वह खतरे से बाहर नहीं है । यह एक क्या, अनेक घटनाएँ इसी तरह की हैं, अन्त में पीड़ा से मर जाने की और बलात्कारियों द्वारा मार देने की भी । राज्य सरकारों से लेकर केन्द्रीय सरकार तक, विधान सभाओं से लेकर संसद तक चिन्तित है इस दुःस्थिति पर, फिर भी कुछ हो नहीं पा रहा है ।

इन्हीं दुःखद क्षणों में मेरे अन्तर्मन में साध्वियों के पद-विहार का प्रश्न उभर आया । जैन साध्वी ग्रामानुग्राम पदयात्रा करती हैं । अनेक असुरक्षित पथों से उन्हें गुजरना पड़ता है और अनेक बार अज्ञात गाँवों के बाहर ही असुरक्षित स्थानों में रात को रहना पड़ता है । उनके ऊपर क्या गुजर सकता है, कुछ सोचा है ठण्डे दिमाग से । शायद नहीं सोचा है । साम्प्रदायिक कट्टरता के मानस का तो सोच-विचार के साथ अहि-नकुलवत् शाश्वत वैर है न? यदि सोचा गया होता, तो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सुरक्षा की दृष्टि से, समय पर सुरक्षित स्थान में जल्दी से पहुँच जाने के विचार से, मैंने जो शीघ्रगति के यानों का उपयोग करने का सुझाव दिया था, उस पर धर्म के ठेकेदारों का इतना होहल्ला नहीं होता । धर्म-संघों के उच्च पदस्थ अधिकारी फिर भी कुछ मौन हैं, किन्तु छुटभैय्ये धर्मनाश का काफी बेतुका शोर मचा रहे हैं । उनमें से बहुतों को मैं जानता हूँ, क्या हैं वे? पर्दे के पीछे वे क्या-क्या गुलछरें उड़ाते हैं । प्रमाण हैं मेरे पास परन्तु मैं जानता हूँ, धर्म के नाम पर रोजी-रोटी का धंधा करने वालों के पास इस ढोंग और नटविद्या के सिवा और हो भी क्या सकता है?

कुछ अधिकचरे मुखर लोगों ने जैन पत्रों में लेख लिखे हैं, लिखाए भी गए हैं । काफी भला बुरा लिखा गया है भला क्या, बुरा ही लिखने के बाद दो-चार ने पूछा है—‘आखिर अमरमुनिजी इससे क्या चाहते हैं ।’ मैं क्या चाहता हूँ, मातृ-जाति की, उसमें भी सब ओर से असुरक्षित पद-यात्री साध्वी वर्ग की सुरक्षा चाहता हूँ । जरा सोचे कोई, अस्सी वर्ष जैसी किनारे की उम्र में मेरे जैसा और कुछ चाह भी क्या सकता है ? जानता था, जानता हूँ कि इस बात पर मुझे यश नहीं, अपयश ही मिलने वाला है । फिर भी मैंने इस निन्दा-अपयश-अपभ्राजना का हलाहल विष पीकर भी जो साध्वियों के लिए यान-विहार का समर्थन किया है, उसके पीछे मेरी वह मानसिक पीड़ा ही है, जिसका सम्बन्ध साध्वियों पर होने वाले संभावित अत्याचार से है । संभावित क्यों ? अत्याचार हो ही रहे हैं । दूर क्यों जाएँ ? राजस्थान (मेवाड़ मारवाड़) जहाँ जैन साधु-साध्वी अपरिचित नहीं हैं, सहस्राधिक वर्षों से उनका इधर-उधर गमनागमन है, अपेक्षया कुछ शिष्ट समाज भी है, जैन समाज का गौरव एवं प्रभुत्व भी है, वहाँ भी इन महीनों में साध्वियों के साथ अभद्र व्यवहार हुआ है, जिसका धक्का सभी समाजों, विधान सभा और संसद तक को लगा है और प्रायः सभी जैन-अजैन पत्रों में जिसकी तीखी चर्चा-विचर्चा भी हुई है । आश्चर्य है, कुछ लोग अब भी, किस मुख से, मुझसे पूछते हैं कि मैं क्या चाहता हूँ? जब

राजस्थान जैसे सुपरिचित एवं जैन समाज से प्रभावित प्रदेशों में यह हाल है, तो अन्यत्र अपरिचित प्रदेशों एवं गाँवों में क्या हो सकता है, अपने में स्वयं समझ लेने की बात है ।

कुछ ने कहा है —हमारे तो मैले कपडे हैं, लोच करते हैं, कोई शृंगार नहीं, फिर हमारे साथ शीलभंग जैसा अभद्र व्यवहार कोई क्यों करेगा ? मालूम है, गावों में हरिजन बालाएँ हैं, क्या रूप और साज-शृंगार है कामोत्तेजक जैसा उनके पास । फिर भी आए दिन उन पर अत्याचार हो रहे हैं । कामान्ध पशु कुछ नहीं देखता है नारी में, सिवा एक अंग के। कृपया झूठे तर्क उपस्थित न करें । चमत्कार की बात भी की जाती है । नवकार मंत्र और अन्य स्तोत्र तथा शील के प्रभाव का भी बखान किया जाता है और कहा जाता है, इस पर कि दुराचारी हमारा कुछ नहीं कर सकता । बहुत ठीक । पर, आपको मालूम है आर्य कालक के युग की साध्वी सरस्वती का अपहरण । अन्य भी सती साध्वियों के अपहरण की घटनाएँ ? उनकी नवकार मंत्र आदि के प्रति श्रद्धा और शील का प्रभाव तो आज के युग से कहीं अधिक ही था । कहाँ गए थे तब शीलरक्षक शासन देवता ? कहाँ गया था नवकार मंत्र आदि का प्रभाव ? अन्ततः अपहृत साध्वियों की विमुक्ति के लिए, धर्म-संघ की रक्षा के लिए आर्यकालक जैसे उग्र क्रिया-काण्डी साहसी आचार्य सम्राटों को युद्ध तक का सहारा लेना पड़ा। चमत्कार आदि की यदि कभी कोई आकस्मिक रूप से घटना घट भी जाए, तो उसे हर व्यक्ति तथा हर युग के साधक की सुरक्षा के लिए अमोघ अस्त्र नहीं बनाया जा सकता ।

कुछ मुँह बोले और मुँह बोलियों ने कहा है—‘ शील रक्षा के लिए प्राण दे देना चाहिए । अतः हम शील-भंग से पहले प्राण दे देंगे । ’ मैं पूछता हूँ, आज कहाँ हैं वे शूरमा, जो ऐसा करने को तैयार हैं । महारानी धारणी की तरह प्राण देने वाली सती शिरोमणी पूर्व युग में विरल ही होती थीं । प्राण दे देने की बात कहना तो सहज है, परन्तु समय पर उसे क्रियान्वित करना तो प्रश्न चिह्न ही है प्रायः इस पर ।

यानारोहण कोई बहुत बड़ा अनैतिक पाप नहीं है । आवश्यकतानुसार उसका उपयोग पुराकाल से होता आया है । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में विमानचारी मुनियों के श्रद्धास्पद उल्लेख हैं। जलयान का तो

शास्त्रीय विधान भी है, उपयोग किए जाते रहने का इतिहास भी है । जब कि दुर्भिक्ष एवं रोग आदि जैसे प्रसंग पर आहार-आदि जैसी साधारण अपेक्षा के लिए भी असंख्य-अनन्त त्रस-स्थावर जीव-जन्तुओं की हिंसा के हेतु जलयान का शास्त्रीय उल्लेख है, तो क्या शील की सुरक्षा के लिए तदपेक्षया अल्पहिंसक किसी अन्य यान का देशकालानुसार उपयोग नहीं किया जा सकता ? एकान्त निषेध में मात्र परम्परा की दुहाई देने के सिवा अन्य क्या तर्क है ? आक्रामक रोग के क्षणों में असंख्य पंचेन्द्रिय संमूर्च्छिम मनुष्य आदि सूक्ष्म कीटों से परिपूरित मानवीय रक्त के इन्जेक्सन लिए जाते हैं, अभक्ष्य ऐलोपैथिक दवाओं का खुलकर प्रयोग होता है, चिकित्सा हेतु हवाई जहाज, कार आदि से हजारों मील दूरस्थ नगरों में भी जाते हैं, निशीथसूत्र में निषिद्ध आपरेशन आदि शल्यक्रियाओं में रक्त की हर बूँद में असंख्य संमूर्च्छिम जीवों की हत्या भी हो सकती है और ये सब अपवाद के नाम पर सहज ही हो जाता है । मैं नहीं समझ पाता, मिट्टी के क्षणभंगुर शरीर के लिए तो उग्राचारी महन्तों के यहाँ आये दिन अपवाद मार्ग झट खुल जाता है, परन्तु उनके यहाँ पवित्र शील-व्रत की रक्षा के लिए कोई अपवाद नहीं है । शरीर बड़ा है या शीलव्रत, कुछ तो कहिए—‘हाँ या ना’ । दिगम्बर मुनिवर आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने आँखों में मोतिया-बिन्द होने पर आपरेशन नहीं कराकर संभारा कर लिया था । आप तो ऐसा नहीं करते । फिर शील-व्रत की रक्षा के लिए वर्तमान के कामाचार-प्रधान दातावरण में यदि साध्वी किसी शीघ्रगति यान का अपवाद स्वरूप प्रयोग कर ले, तो आपका धर्म सहसा कैसे भ्रष्ट हो जाता है । एक सज्जन एक उच्च पदस्थ धर्म-गुरु से दर्द के साथ कह रहे थे—“ हम अपनी बहनें और पुत्रियाँ दीक्षा के लिए आपको अर्पण करते हैं । यदि आप उनकी सुरक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं कर सकते हैं, तो आपको उन्हें दीक्षित करने का क्या अधिकार है ? ” धर्म-गुरु के पास इसका कोई उत्तर नहीं था ।

बात समेट लूँ । जब तक कोई अन्य कारगर सुरक्षा की व्यवस्था न हो, मैं साध्वियों के लिए शीघ्रगति यान के उपयोग का समर्थन करता हूँ । साध्वी कौन है, सामान्य है या असामान्य, यह वर्गीकरण नहीं है प्रस्तुत में साध्वियों के लिए । हर साध्वी को विना किसी भेद-भाव के यह समयोचित छूट होनी चाहिए, जहाँ भी आवश्यक हो । इसमें निन्दा-स्तुति के प्रश्न को बीच में नहीं लाना चाहिए, समय की बाध्यता है । उसका तर्क-संगत समाधान होना ही चाहिए । आदर्शवाद के अर्धहीन उथले नारों से समस्याओं का सही समाधान न

कभी पहले हुआ है और न अब हो सकता है । धर्म हो या समाज, अन्ततः उसे यथार्थ का सामना करना ही पड़ेगा । युग-धर्म जमानावाद नहीं है, जैसा कि कुछ महानुभाव शेखियाँ बघारते हैं । हर तीर्थंकर युग-धर्म का ही तीर्थंकर होता है । अनादि निघन सनातन आत्म-धर्म का कौन तीर्थंकर हो सकता है ? कौन 'आइगराण' धर्म की आदि करने वाला हो सकता है ? युग-धर्म के लिए ही आदिकर का विशेषण है ।

अब यान का प्रश्न साधु-संघ का है । इस सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट अभिमत है कि वर्तमान में साधुओं के सामने साध्वियों जैसा कोई आपवादिक प्रश्न नहीं है । अतः भयंकर रोगादि का विशेष कारण हो, तो यान का उपयोग किया जा सकता है । वह भी तात्कालिक ही । रोग के बहाने लंबे समय तक इधर-उधर घूमते रहना, सैर सपाटा करना, कथमपि उचित नहीं है । यह स्पष्ट ही मर्यादाहीनता है ।

हाँ, एक बात प्रस्तुत में अवश्य विचारणीय है । जो मुनिवर विशिष्ट प्रवक्ता हैं, धर्म-शासन के कुशल प्रचारक तथा प्रभावक हैं, जनता को प्रतिबोध देने में सभी भाँति सक्षम हैं, यदि वे रोगादि के कारण असमय में ही अपंग जैसे हो गए हैं, पाद विहार में प्रमाणित रूप से अक्षम हो गए हैं, अतः वे अपेक्षा वश यान का प्रयोग करना चाहें, तो उन्हें इसके लिए छूट रहनी चाहिए । मैं इसे ठीक नहीं समझता कि वर्षों के वर्ष लाचार होकर वे एक ही स्थान में शून्य रूप से अवरुद्ध रहें, उनकी प्रतिभा का, उनके ऊर्जस्वल प्रभावी व्यक्तित्व का सर्व साधारण जनता को कोई लाभ न मिले । मैंने देखा है, ऐसा निर्माल्य जीवन बिताते हुए अनेक मनीषियों को दुःखद स्थिति में । छूट भी अपनी मानसिकता पर निर्भर है, यान प्रयोग के लिए एकान्तिक बाध्यता नहीं है । यदि किसी को एकत्र निवास की स्थिति ही अभीष्ट है और वहीं उन्हें मनोऽनुकूल स्व-पर कल्याण का कार्यक्रम प्राप्त है, तो कोई जरूरी नहीं, वे यान का उपयोग करें ही । प्रश्न है विशेष स्थिति में भी यान का उपयोग कहाँ तक किया जाए ? इसका उत्तर मैं क्या दे सकता हूँ । यह तो व्यक्ति के अपने स्वयं के विवेक पर निर्भर है । हाँ, यह मैं कह सकता हूँ, यान का आवश्यक स्थिति तक ही प्रयोग किया जाए, अनावश्यक प्रयोग से बचा जाए, बचना ही चाहिए । विशेष परिस्थिति की छूट का मर्यादाहीन उपयोग साधक को अन्ततः पतन की ओर ही ले जाता है ।

प्रश्न है, इस छूट का साधारण अयोग्य मुनि भी देखा-देखी उपयोग कर सकते हैं ? मानता हूँ, कर सकते हैं । पर, इस आशंका से विशेष स्थिति के प्रामाणिक साधकों को तो प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता, उनकी विशिष्ट शक्ति को तो सदा के लिए पंगु एवं अनुपयोगी नहीं बनाया जा सकता । यों तो हर स्थिति और साधन का गलत उपयोग करने वाले हर युग में रहे हैं और रहेंगे। हाथ का दण्ड जहाँ रक्षा के लिए है, वहाँ किसी के संहार के लिए भी हो सकता है । अपनी अपनी मति है, तदनुसार कृति है परन्तु, मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ ऐसे मर्यादाहीन अविवेकी लोगों को मेरा कोई समर्थन नहीं है । समाज इस प्रकार की मर्यादाहीनता का समयोचित प्रतिकार कर सकता है, उसे करना ही चाहिए । ये स्वार्थी दंभी लोग क्रान्ति के सूत्रधार नहीं, अपितु क्रान्ति के शत्रु हैं । इन्हीं लोगों ने अर्थवत्ता की दृष्टि से सही दिशा में गतिशील होने वाली क्रान्ति का मार्ग अवरुद्ध किया है, भद्र जनता के विश्वास को शंकाशील बनाकर उसे अविश्वास में बदला है ।

यानप्रयोग के सम्बन्ध में मैंने पहले भी स्पष्टीकरण किया है और प्रस्तुत में भी मैंने अपना अभिमत विस्तार के साथ व्यक्त कर दिया है। व्यर्थ ही मैं इस चर्चा को लम्बी नहीं करना चाहता । मुझे समझने के लिए इतना पर्याप्त है, भले कोई समझे, या न समझे । हर व्यक्ति अपने मन का, अपने संस्कारों का स्वामी है । किन्तु, अन्त में यह कह देना आवश्यक समझता हूँ—“सत्य की परख के लिए निन्दा-स्तुति से, परम्परावाद से कुछ दूर हटकर ही चिन्तन-मनन करना चाहिए ।”

सितम्बर १९८३

“

सत्य कडवा है,
पर इस कडवेपन को स्वीकारना ही होगा ।
मेरी मार्मिक अपील है,
अपने परिचित तथा अपरिचित सभी साथियों से
कि यश और प्रतिष्ठा के
प्रलोभनों के मायाजाल से अपने को साहस के साथ
मुक्त करो और
जो सत्य तथा हितकर है
उसे सार्वजनिक घोषणा के साथ स्वीकार करो ।
आज नहीं तो कल,
तुम्हें अपने उक्त समयोचित परिवर्तनोंसे
प्रतिष्ठा मिलेगी ही ।
यदि प्रतिष्ठा न भी मिले,
तब भी तुम्हारा क्या बिगड़ता है?
तुम कोई प्रतिष्ठा पाने के लिए और उसके आधार पर
रोटी का जुगाड़ करने के लिए तो
साधु नहीं बने हो ।

-उपाध्याय अमर मुनि

”